भारतीय शिक्षा-दार्शनिक

कीर्ति देवी सेठ

एम० ए०, एम० एड०, डी० फिल०

शिक्षा-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय

वैदिक प्रकाशन

३४, लूकरगज इलाहाबाद

विषय-सूची

विषय | पृष्ठ

डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर

महात्मा गाधी

श्री अरविंद घोष

FOREWORD

I have pleasure in writing a brief foreword to the valuable volume which Dr (Mrs) K D Seth has brought out Doctrines of Western Educators have been expounded in clearly written treatises in England, the United States of America and elsewhere, but Great Indian Educators have been neglected so far. Unless we have a thorough understanding of the basic concepts which inspired our great teachers of the past, we shall fail in our endeavours to re-orient our education from the proper Indian view-point Indian view of life, Indian way of life and Indian culture should be thoroughly understood and assimilated before anyone ventures to put forth plans for Indianising education A book like Dr (Mrs) Seth's, 'Bharatiya Shiksha-Darshanik' comes at the right moment to fill a gap in our educational field I am confident that this book will be instructive and illuminating not only to the students in the universities but to those who wish to reshape our Educational System

P. S Naidu
Head of the Department
Post-Graduate Studies and Research

Vidya Bhavan
Udaipur
July 12, 1960

आमुख

भारत की वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति पाश्चात्य जगत् की देन है। अत उसमे पाश्चात्य सभ्यता, सस्कृति, जीवन-दर्शन और रीति-नीति का यथेष्ट समावेश होना स्वाभाविक ही है। पाश्चात्य जीवन के मूल मे भौतिकतावाद की ही प्रधानता है और प्रत्यक्षरूप से उसके विभिन्न पक्षो के विकास की प्रेरक भावना भौतिकता ही है। ऐहिक सुख समृद्धि की तीव्र लालसा ने पश्चिम की विश्व-विजय की दुर्दयनीय महत्वाकाक्षा को उदीप्त किया और वैज्ञानिक प्रगनि ने उसमे और योग दिया। फलस्वरूप पिछले दो महायुद्धो का भयकर परिणाम यह हुआ कि मानवता की जडें हिल गईं। भारत मे प्रचलित शिक्षा-पद्धति के मूल मे पाश्चात्य जगत् के इसी भौतिकवादी दर्शन की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। यह पद्धति हमारे देश की आध्यात्मिक सस्कृति के सर्वथा प्रतिकूल है, यह हमे जीवन के उच्च लक्ष्य से विमुख करके घोर पतन की ही ओर ले चलेगी। अत स्वतत्रता प्राप्ति के उपरात भारत को ऐसी शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता है जिसमे राष्ट्रीय तत्वो की प्रमुखता हो ताकि भारत के प्राचीन गौरव को पुन प्रतिष्ठित किया जा सके। इतना ही नही, वर्त्तमान शिक्षा की नीव एक ठोस जीवन-दर्शन—भारत के आध्यात्मिक दर्शन—के आधार पर खडी की जानी चाहिए जिससे कि भारतीय जाति मे आत्मविश्वास एव सुदृढता आ सके और भारत सपूर्ण विश्व को अपनी आध्यात्मिकता का सदेश देकर अपने विशिष्ट एव निर्दिष्ट उद्देश्य की प्राप्ति कर सके।

इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त यह जानने के लिए कि वे कौन से शिक्षा के तात्विक सिद्धात हैं जिनको शिक्षा-पद्धति मे प्रयोग करने से शिक्षा 'राष्ट्रीय-शिक्षा' कहलायेगी, प्रस्तुत पुस्तक मे उन सभी अर्वाचीन शिक्षा-दार्शनिको के जीवन-दर्शन और शिक्षा-दर्शन का वर्णन किया गया है जिन्होने भारत के पुनरुत्थान-काल मे राष्ट्रीय और सास्कृतिक चेतना को उदीप्त करने का अकथनीय प्रयास किया। यह सर्वविदित तथ्य है कि जीवन-दर्शन का शिक्षा-दर्शन से अटूट सबध है। प्रत्येक दार्शनिक साथ ही साथ शिक्षक भी होता है। यह तथ्य हमारे देश के लिए तो और भी अधिक पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है क्योकि हमारे देश मे दर्शन केवल चिन्तन का विषय ही नही वरन् जीवन में प्रयोग एव व्यवहार का विषय भी रहा है। अत इस पुस्तक मे जिन दार्शनिको का वर्णन किया गया है उनके सिद्धात कोरे सिद्धात नही हैं वरन् वे व्यवहृत होकर जीवन को उत्कृष्ट बनाने के उपयुक्त साधन हैं।

भारत की दर्शन-परपरा प्रधानत आदर्शवादी है। आदर्शवादी सिद्धातो के परख की

कसौटी है उनकी शाश्वतता और सार्वभौमिकता। अर्वाचीन भारतीय शिक्षा-दार्शनिको ने यह प्रमाणित किया है कि भारतीय शिक्षा के सिद्धात आदर्शवादी है, वे प्राचीन काल मे भी हमारे देश में व्यवहृत रहे है और आज भी उसी रूप मे व्यवहार्य है, केवल युगीन परिस्थितियो के अनुकूल इन सिद्धातो के पालन के बाह्य साधनो मे हेर फेर की जा सकती है, ये सिद्धात सार्वभौम भी है क्योकि भारतीय होते हुए भी वे प्रत्येक देश व जाति के उत्थान के लिए, यदि उन्हे उपयोग किया जाय, तो सक्षम है। इसका कारण है कि भारतीय वेदात-दर्शन किसी एक विशेष धर्म—हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि—के अनुयायियो को सबोधित नही किया गया है। इसका विश्वास उस आत्मा मे है जो प्रत्येक मानव मे प्रतिबिंबित है। विश्व-शाति और विश्व-एकता आज के युग की पुकार है। भारत की इसी शातिवादी एव आदर्शवादी विचारधारा का अनुसरण करने से ही ससार का कल्याण सभव है। इसी भावना से अनुप्रेरित होकर इस पुस्तक की रचना की गयी है।

इस पुस्तक की रचना लेखिका के डी०फिल०-थीसिस, 'Idealistic Trends in Indian Philosophies of Education' के आधार पर हुई है। शोधकार्य पूज्य-गुरु, श्री० पी० एस० नायडू की सरक्षता मे सपन्न होने के कारण, इस पुस्तक की प्रेरणा का श्रेय उन्ही को है, पुस्तक की प्रस्तावना लिखकर उन्होने मुझे अपना आशीर्वाद दिया है। पुस्तक के सबध मे समय-समय पर परामर्श देने के लिए मै डा० सुबोध अदावाल, अध्यक्ष शिक्षा-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, तथा अपने साथी-गण कु०—निर्मला हडू, श्री लक्ष्मी नारायण गुप्ता, कु० शाति जोशी तथा कु० प्रीतिलता अदावाल की हृदय से आभारी हूँ। पाण्डुलिपि के दुहराने में मेरी शिष्या—कु० सुचेत गोयन्दी ने मुझे बहुत सहायता दी है। भाषा-सबधी सहायता के लिए मै श्री योगेन्द्र पाडे की अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, मुझे अत्यत खेद है कि इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व ही अकस्मात् उनका स्वर्गवास हो गया।

मेसर्स गोविंदराम हासानद, नई सडक, दिल्ली द्वारा स्वामी दयानद सरस्वती का चित्र प्राप्त हुआ है, उनकी मैं आभारी हूँ।

कीर्ति देवी सेठ

शिक्षा-विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
सितम्बर, १९६०

स्वामी दयानंद सरस्वती

जीवन और कार्य

उन्नीसवी शताब्दी के अतिम भाग मे भारतीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे पुनरुत्थान और पुनर्जागरण की जो शक्तिशाली लहर आयी, उसने सपूर्ण राष्ट्र को झकझोर कर नये जीवन का सदेश दिया। इस पुनर्जागरण-काल से ही हमारे देश मे राष्ट्रीय भावना का प्रसार हुआ, जो उत्तरोत्तर व्यापक और गतिशील होता गया तथा जिसके फलस्वरूप देश मे स्वराज्य की स्थापना सभव हो सकी। किंतु यदि इस राष्ट्रीय जागरण के पूर्व के इतिहास का हम अवलोकन करे तो ज्ञात होगा कि इससे पूर्व भी स्वामी दयानद ने अपने धार्मिक, सामाजिक और सास्कृतिक सुधार-आदोलन द्वारा इस राष्ट्रीय चेतना के विकास का मार्ग प्रशस्त कर दिया था। पाश्चात्य सभ्यता, सस्कृति और जीवन-दर्शन के दुष्प्रभावो से आक्रात भारतीय जीवन के सम्मुख उन्होने चिरकाल मे विस्तृत वैदिक धर्म एव सस्कृति का उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किया, आत्मसम्मान की भावना जागृत की और आधुनिक युग के अनुकूल प्रगति करते हुए भी अतीत से प्रेरणा लेने की चेतना प्रदान की। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे जब हम स्वामी दयानद के महान कार्यों का मूल्याकन करते है तो यह कहना पडता है कि वह आधुनिक भारत के प्रथम क्रांतिकारी 'ऋषि' थे।

बाल्यकाल और शिक्षा

उन्नीसवी शताब्दी मे गुजरात की भूमि ने दो महापुरुषो—स्वामी दयानद तथा महात्मा गांधी—को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त किया। इसी प्रात के मौरवी नामक एक छोटे-से राज्य मे एक सपन्न औदीच्य ब्राह्मण-परिवार मे सन् १८२४ ई० मे स्वामी दयानद का जन्म हुआ। इनके पिता का नाम कर्षणलाल तिवारी था जो धार्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उनका अधिकाश समय शिव की पूजा-आराधना मे ही व्यतीत होता था। स्वामी दयानद का बचपन का नाम मूलजी या मूलशकर था।

कर्षणजी स्वय विद्वान ब्राह्मण थे, अत उन्होने मूलशकर की शिक्षा का आरभ अल्पायु मे ही कर दिया। पाँच वर्ष की अवस्था मे ही उन्हे सस्कृत के ग्रथ कठस्थ कराये गये और वैदिक ग्रथो का अभ्यास कराया गया। आठ वर्ष की अवस्था मे मूलजी का यज्ञोपवीत सस्कार हुआ। इस समय से मूलजी को पिता के कठोर अनुशासन मे रह कर धार्मिक नियमो का पालन करना पडा। उनकी माता यह नही चाहती थी कि बालक मूल-जी से धार्मिक नियमो और व्रतो का पालन इतनी कठोरता के साथ कराया जाय, अत इस बात को लेकर कभी-कभी पति-पत्नी मे विवाद भी हो जाया करता था। एक सच्चे शिवभक्त होने के कारण कर्षणजी चाहते थे कि उनका पुत्र भी उन्ही की भाँति भक्त और धार्मिक हो।

चौदह वर्ष की आयु मे ही मूलजी ने विधिपूर्वक यजुर्वेद का अध्ययन समाप्त कर लिया और शेष तीन वेदो के कुछ अशो का भी अध्ययन किया। तदुपरात उन्होने सस्कृत-व्याकरण, तर्क आदि की शिक्षा प्राप्त की। मूलजी को उतने अध्ययन से सतोष नही हुआ। वह पूर्ण शिक्षा प्राप्त करना चाहते थे और इसके लिए काशी जाने को इच्छुक थे। मूलजी ने काशी जाकर अध्ययन करने की अपनी इच्छा पिता के सम्मुख प्रगट की। उनके इस विचार से पिता सहमत थे, किंतु ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण माँ का अगाध स्नेह उनके मार्ग मे बाधक बना और वह काशी जाने की अनुमति प्राप्त न कर सके। अत समीप के एक पडित से उन्होने शिक्षा प्राप्त की, किंतु अध्ययन का यह क्रम अधिक दिनो तक नही चल सका।

ज्ञान-प्राप्ति

व्यावहारिक जीवन के अनुभव के लिए चौदह वर्ष की आयु बहुत कम होती है। सामान्यत यह किशोरावस्था का काल होता है, किंतु मूलजी के विषय मे यह मान्यता सही नही है। इतनी अल्पायु मे ही सत्य के अन्वेषण की जिज्ञासा उनमे आ गयी थी। उनके मस्तिष्क मे मूर्ति-पूजा और जन्म-मरण के विषय मे विचार-सघर्ष चलने लगा और इसी विचार-सघर्ष ने उनकी जीवन-धारा को परिवर्तित कर दिया। शिवरात्रि हिंदुओ का त्यौहार है। इस दिन सभी हिंदू, विशेषत शैव, बडे ही भक्ति-भाव से शिव की पूजा करते है। मूलजी के पिता भी शैव थे, अत मूलजी को भी व्रत रखना पडा। शिव की पूजा के लिए मदिर मे जब वह रात्रि-जागरण कर रहे थे तब उन्होने देखा कि चूहे शिव मूर्ति पर चढ कर, उस पर चढाये गये अक्षत तथा अन्य पदार्थो को खा रहे है और मूर्ति पर दौड लगा रहे हैं। इस छोटी सी घटना ने बालक मूलजी के मन मे मूर्ति-पूजा के विषय मे शका उत्पन्न कर दी। वह सोचने लगे, यदि शिवजी इतने शक्तिमान और समर्थ है तो वह अपने ऊपर चूहो को चढते हुए देख कर कैसे मौन रह सकते है? उन्होने अपने पिता को जगा कर कहा, 'मैंने सुना था कि शकरजी बडे शक्तिशाली हैं, किंतु वह तो अपने ऊपर से चूहो को भी हटा नही सकते।'

अपने पुत्र के इस प्रश्न पर शैव पिता को क्रोध तो आया, फिर भी उन्होने बताया कि यह मूर्ति वास्तव मे शिव नही है, वरन् उनकी काल्पनिक मूर्ति है। मूलजी को ज्ञात हो गया कि सर्वशक्तिमान शिव इस पाषाणमूर्ति से पृथक् दूसरी शक्ति है, अत मूर्ति-पूजा व्यर्थ है। वह पिता से अनुमति लेकर मदिर से घर चले आये और मूर्ति-पूजा के प्रति उनका सारा विश्वास जाता रहा। सत्य की खोज करने के लिए प्रेरित करने वाली यह प्रथम घटना थी जिसने दयानद की जिज्ञासा को और तीव्र कर दिया।

मूलजी को प्रभावित करने वाली दूसरी घटना थी उनकी बहन तथा चचेरे दादा की मृत्यु। एक दिन वह अपने एक सबधी के यहाँ किसी उत्सव मे गये हुए थे। उनके नौकर ने जाकर बहन की मृत्यु का दु खद समाचार दिया। यह उनके जीवन की सबसे शोकपूर्ण घटना थी। मृत्यु का समाचार पाकर वह पाषाणवत् स्तब्ध रह गये। उन्होने सोचा, यह जीवन कितना क्षणिक है। इसी भाँति एक दिन मुझे भी मरना पडेगा। क्या मृत्यु के पाश से बचने और मुक्ति पाने का कोई मार्ग नही है ? उन्होने उसी स्थान पर यह प्रतिज्ञा की कि मे मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करूँगा। मूलजी के जीवन की इस घटना से भगवान बुद्ध के जीवन का स्मरण हो आता है, जिनके मन मे शव को देखकर ससार से विरक्ति उत्पन्न हो गयी और उन्होने दु ख के कारण, उसको दूर करने के उपाय तथा मोक्ष की खोज मे गृह त्याग दिया।

गृह-त्याग

शिवरात्रि की घटना और जीवन की नश्वरता का बोध—इन दो कारणो से दयानद सत्य के अन्वेषण मे लीन रहने लगे। उनके माता-पिता ने उनकी विरक्ति को मिटाने के लिए उन्हे विवाह-बधन मे डालने का बडा प्रयत्न किया, किंतु मूलजी पूर्ण सतर्क थे। माता-पिता का उनके ऊपर कोई वश नही चल सका और वह अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए २२ वर्ष की अवस्था मे सन् १८४६ ई० मे बिना किसी को सूचित किये ही घर से निकल पडे।

घर छोडने के पश्चात् मार्ग मे बहुत-से धूर्त और पाखडी साधु और योगियो से भेट हुई। उन्होने अपने सारे आभूषणो को उन्हे दे दिया और अत मे शैला नामक स्थान पर लालभक्त नामक एक साधु के पास पहुँचे। लालभक्त गुजरात के प्रसिद्ध सत थे, किंतु उनसे मूलजी को सतोष प्राप्त न हो सका। उसी स्थान पर एक ब्रह्मचारी रहते थे जिनके परामर्श से मूलजी ने ब्रह्मचर्य की दीक्षा ले ली और अपना नाम 'शुद्ध चैतन्य' रख लिया।

सत्य की खोज

तदुपरात शुद्ध चैतन्य अनेक स्थानो का भ्रमण करके सिद्ध योगियो और सतो की खोज करते रहे। बडौदा मे चेतन मठ के ब्रह्मानद, चिदानद सन्यासियो के सपर्क

मे भी वह कुछ समय रहे और उन्ही के समीप रहकर 'वेदान्त सार' तथा 'वेदान्त परिभाषा' आदि का पूर्ण अध्ययन किया। अब शुद्ध चैतन्य के मन मे सन्यास ग्रहण करने की तीव्र इच्छा जागृत हुई। वह योग्य गुरु की खोज करने लगे क्योकि वह किसी महान योगी मे ही दीक्षा लेना चाहते थे उन्होने एक दाक्षिणात्य पडित से प्रार्थना की कि वह स्वामी चिदानद से दीक्षा दिलाने का प्रयत्न करे, किंतु उन्हे सफलता न मिली। अत मे स्वामी पूर्णानद नामक एक सन्यासी ने बडी विनती और प्रार्थना करने पर शुद्ध चैतन्य को सन्यास की दीक्षा दी और उनका नाम 'स्वामी दयानद सरस्वती' रखा। सन्यास ले लेने पर शुद्ध चैतन्य सासारिक कर्मो के बधनो से मुक्त हो गये और ब्रह्म-विद्या प्राप्त करने के लिए उनका मार्ग प्रशस्त हो गया।

सन्यास ले लेने के उपरात भी स्वामी दयानद की जिज्ञासा शात नही हुई। गृह-त्याग करने के बाद वह तेरह वर्षो तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकते रहे। इस भ्रमण-काल मे उन्होने योगाभ्यास और ग्रथो के अध्ययन का यथासभव प्रयत्न किया। सच्चे योगियो की खोज मे उन्होने सारे दक्षिण भारत की यात्रा की, किंतु उन्हे कोई योग्य गुरु नही मिला जो उनकी आध्यात्मिक पिपासा को शात करता। स्वामीजी ने सुन रखा था कि हिमालय की कदराओ मे सिद्ध योगी-महात्मा निवास करते है, अत उन्होने हिमालय की यात्रा की। गहन पर्वतो मे भटकते हुए उन्होने अपने जीवन के कई वर्ष व्यतीत किये। इस यात्रा मे उन्हे अनेक अपूर्व अनुभव हुए। जीवन की चिंता न करके वह साहस के साथ हिमालय मे घूमते रहे, परतु किसी महान योगी की प्राप्ति की आशा पूरी नही हुई। पर्वत-प्रदेश की यात्रा मे अनेक विपत्तियो और कष्टो को सहन करते हुए अत मे उन्हे वहाँ से निराश लौटना पडा। हरिद्वार, मुरादाबाद आदि अनेक स्थानो का भ्रमण करते हुए अतत वह योग्य गुरु को प्राप्त करने मे सफल हुए और सन् १८६२ ई० मे मथुरा मे उन्हे स्वामी विरजानद का दर्शन हुआ। स्वामी विरजानद का साक्षात्कार स्वामी दयानद के जीवन की एक महान घटना थी। उनकी दीर्घ यात्रा का अब अत हो गया और यहाँ से एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए उनका महत्त्वपूर्ण प्रयत्न आरम्भ हुआ।

गुरु के पास

मथुरा से स्वामीजी सर्वथा अपरिचित थे। यहाँ न उनके मित्र थे और न जान-पहचान के लोग ही। अत वह मगेश्वर मदिर मे ठहरे और एक दिन स्वामी विरजानद के स्थान पर जाकर द्वार खटखटाया। स्वामी विरजानद ने पूछा, 'कौन?' स्वामी दयानद ने उत्तर दिया, 'ज्ञान-प्राप्ति के लिए आया हुआ एक विद्यार्थी।' स्वामी विरजानद ने आदेश दिया, 'अब तक जो भी तुमने पढा है उसे भूल जाओ, तभी ऋषियो द्वारा प्रणीत ग्रथो का सार प्राप्त कर सकते हो। यदि ऋषियो के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा रचित कोई पुस्तक तुम्हारे पास हो तो उसे यमुना मे फेक दो।' स्वामी विरजानद ने स्वामी

दयानद का नाम पूछा, फिर कहा, 'तुम सन्यासी हो, अत तुम्हारे लिए मै कोई प्रबध नही कर सकता । जाओ, पहले अपनी व्यवस्था करो, तब आओ ।'

स्वामी दयानद ने अपने भोजन, निवासादि की व्यवस्था की और गुरु के चरणो मे उपस्थित हुए । गुरु के पास रह कर उन्होने व्याकरण एव सपूर्ण वैदिक साहित्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया । स्वामी विरजानद ने दयानद मे एक प्रतिभा का अनुभव किया और उन्हे अपने सचित ज्ञान का उत्तराधिकारी बनाया । शिक्षा समाप्त होने पर जब विदा होने का समय आया तो स्वामी विरजानद ने कहा, 'दयानद, तुम्हारी शिक्षा पूर्ण हो गयी । अब मै तुम से गुरु-दक्षिणा चाहता हूँ, कितु दक्षिणा मे धन नही, तुम्हारा जीवन दान माँगता हूँ । तुम मेरे सम्मुख प्रण करो कि वेदो के आलोक द्वारा ससार के अज्ञानाधकार को दूर करोगे ।' गुरु के आदेश को शिरोधार्य कर, उनका आशीर्वाद लेकर, स्वामी दयानद विदा हुए ।

विकल्प-काल

गुरु से अलग होने के बाद स्वामीजी के जीवन के लगभग बारह वर्ष सकल्प-विकल्प मे व्यतीत हुए । यह अवधि उनके मानसिक उद्वेलन की थी क्योकि वह अभी तक अपने धार्मिक सिद्धातो का निरूपण नही कर सके थे । अनेक स्थानो पर भ्रमण करते हुए उन्होने मूर्ति-पूजा तथा अवैदिक ग्रथो का खडन किया । अनेक विद्वानो और पडितो से उनका विवाद हुआ और उन्हे विजय मिली, कितु अब भी उनकी शकाएँ निर्मूल न हो सकी थी । वह पुन गुरु के पास गये, अपनी शकाओ का समाधान किया तथा नि शक होकर समाज और धर्म-सुधार के क्षेत्र मे प्रवेश किया ।

दिग्विजय

स्वामीजी ने वैदिक धर्म के प्रचार का जो अनुष्ठान किया वह कोई सरल कार्य नही था । उनके मार्ग मे, शताब्दियो से पलने वाली रूढियो, अधविश्वासो और पुरोहिती स्वार्थों का विशाल और घना जगल था जिसे चीर कर उन्हे पथ-निर्माण करना पडा । इस कार्य के लिए उन्होने सर्वप्रथम रूढियो, अधविश्वासो तथा पाखड के पोषक पडितो-पुरोहितो के गढो पर आघात किया । सपूर्ण भारत के पडितो को उन्होने चुनौती दी एव शास्त्रार्थ मे उन्हे पराजित करके वैदिक धर्म का जयघोष किया । इन शास्त्रार्थो का वर्णन अपने आप मे एक रोचक कहानी है जिसका अवलोकन करने से स्वार्थी-वर्ग की कुत्सित प्रवृत्तियो तथा षड्यत्रो का पता चलता है । स्वामीजी के शास्त्रार्थ के दो प्रधान पक्ष थे—निषेधात्मक तथा विधेयात्मक । निषेधात्मक पक्ष के अतर्गत वह पौराणिकता का विरोध करते थे तथा विधेयात्मक पक्ष के अतर्गत प्राचीन वैदिक धर्म तथा सस्कृति का उपदेश देते थे । उन्होने काशी के पडितो को बारबार शास्त्रार्थ करने के लिए ललकारा

क्योकि प्राचीन काल से काशी पुरोहितो और पौराणिकता का गढ रहा है। काशी के पडित स्वामीजी के समक्ष शास्त्रार्थ मे ठहर नही सके। इस प्रकार सस्कृत-विद्या का केन्द्र, काशी, के आचार्यो के नतमस्तक हो जाने पर स्वामीजी की विद्वत्ता का प्रभाव सहज ही सारे देश मे व्याप्त हो गया। लाखो व्यक्तियो ने उनके बताये हुए आर्य-धर्म को स्वीकार किया।

स्वामीजी के महान कार्यो का मूल्याकन करते हुए कविवर रवीद्रनाथ ठाकुर ने लिखा है, "स्वामी दयानद आधुनिक भारत के सबसे महान पथ निर्माता थे, जिन्होने जाति-उपजातियो, छुआछूत आदि के भयकर जगलो को चीर कर हमारे देश के ह्रास-काल मे ईश्वरभक्ति और मानव-सेवा का सहज मार्ग प्रस्तुत किया। उन्होने पैनी दृष्टि तथा दृढ सकल्प के साथ लोगो के भीतर आत्म-सम्मान और मानसिक चेतना को उद्बुद्ध किया। उन्होने अपने गौरवपूर्ण अतीत से सबध रखते हुए भी युग के अनुकूल प्रगति करने का उपदेश दिया क्योकि अतीत काल मे लोगो के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो चुका था, वे अपने विचारो और कर्मो मे स्वतत्र थे तथा उन्हे प्रकाशस्वरूप सत्य की अनुभूति हो चुकी थी।"

सन् १८७५ ई० मे स्वामीजी ने बबई मे आर्यसमाज की स्थापना की तथा अपने धार्मिक और सामाजिक सुधारादोलन को एक निश्चित रूप प्रदान किया। इसके पश्चात् स्वामीजी का प्रधान कार्य स्थान-स्थान पर आर्यसमाज की शाखाओ का स्थापन और सगठन हो गया। आर्यसमाज के सगठनात्मक और रचनात्मक कार्यो के लिए उन्होने विधान एव नियम बनाये तथा घोर परिश्रम के द्वारा अपने जीवनकाल मे ही इस सस्था को एक विशाल वटवृक्ष का रूप प्रदान किया।

ग्रन्थ-रचना

स्वामीजी की मातृभाषा गुजराती थी। वह सस्कृत के प्रकाड पडित थे, किंतु उन्होने यह अनुभव किया कि इन दोनो मे से कोई भी भाषा व्यापकता की दृष्टि से उपयुक्त नही है। अत हिंदी के माध्यम से उन्होने अपने विचारो को लोगो तक पहुँचाने का निश्चय किया। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वामीजी के काल तक हिंदी-गद्य की स्पष्ट एव सुव्यवस्थित रूपरेखा निर्धारित नही हो सकी थी, फिर भी उन्होने यथाशक्ति परिष्कृत भाषा मे अपने ग्रथो की रचना की। इस दृष्टि से उनका नाम हिंदी-गद्य के निर्माताओ मे भी अग्रगण्य है।

स्वामीजी ने सन् १८६५ ई० मे वैष्णवमत के खडन के लिए एक पुस्तक लिखी, जिसे उन्होने अपने गुरु स्वामी विरजानद को भी दिखलाया था। तत्पश्चात् उन्होने 'सध्या' की एक पुस्तक लिखी, जिससे सामान्य जनो के लिए दैनिक प्रार्थना आदि की विधि सरल हो जाय। इन दोनो पुस्तको की रचना के बाद भी स्वामीजी की रुचि पुस्तके लिखने की ओर नहीं थी, किंतु सन् १८७३ ई० मे राजा जयकिशन दास, सी० एस० आई०, अलीगढ के

डिप्टी कलक्टर, के अनुरोध पर उन्होने 'सत्यार्थप्रकाश' की रचना की। इस बहुमूल्य ग्रथ के प्रणयन मे उन्हे प० चदशेखर से भी भाषा-सबधी सहायता प्राप्त हुई। हिंदू धर्म मे सस्कारो को प्रमुख स्थान प्राप्त हे, किंतु इस सबध मे वैदिक पद्धति के अनुकूल कोई पुस्तक प्राप्त नही थी, अत उन्होने 'सस्कारविधि' की रचना की, जिसमे गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यंत होने वाले सोलह सस्कारो का वर्णन है। वेद विश्व-साहित्य के प्राचीनतम ग्रथ हे, जिनसे तत्कालीन प्रतिभा, ज्ञान और जीवन का परिचय प्राप्त होता हे। वेदवाणी को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए स्वामीजी ने वेदो का भाष्य प्रारभ किया। 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका', 'यजुर्वेदभाष्य', 'ऋग्वेदभाष्य' (जो अपूर्ण रह गया), 'वेदाग-प्रकाश' आदि इस सबध मे उल्लेखनीय है। वेदो के सबध मे लिखे गये ग्रथो की पृष्ठसख्या इतनी अधिक है कि उनका प्रकाशन कई खडो मे हुआ हे। 'आर्याभि-विनिय,' 'पचमहायज्ञविधि', 'सस्कृतवाक्यप्रबोध,' 'व्यवहारभानु', 'काशीशास्त्रार्थ-भ्राति-निवारणम्,' 'वेदातिध्वात-निवारणम्', 'भ्रमोच्छेदन', 'वेदविरुद्धमत-खडन' और 'आर्योद्देश्य रत्न-माला' आदि स्वामीजी के प्रमुख ग्रथ है। इन ग्रथो मे धर्म, दर्शन, आचार, नीति आदि अनेकश विषयो का प्रतिपादन हुआ है, जिन्हे पढ कर उनकी दैवी प्रतिभा का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

महाप्रयाण

स्वामी जी पूर्ण योगी थे अत उन्हे अपने शरीर-त्याग का पूर्वाभास मिल गया था। उन्होने मैडम ब्लावात्सकी से बातचीत करते हुए कहा था कि मैं सन् १८८३ ई० के अत तक जीवित न रह सकूँगा। उनकी यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। ३० मई, सन् १८८३ ई० को स्वामीजी जोधपुर गये जहाँ दूध के साथ उन्हे कॉच पीसकर दे दिया गया। दूध पीने के बाद जब उन्हे ज्ञात हो गया कि विष दिया गया है, तो रसोइये को बुला कर कहा, 'तुम यहाँ से भाग जाओ, अन्यथा लोगो को जब पता लग जायेगा कि तुमने मुझे विष दिया है तो वे तुम्हारा प्राण ले लेगे।' स्वामीजी ने उसे कुछ रुपए दे कर भगा दिया। बडी चिकित्सा हुई, किंतु अत मे, ३० अक्तूबर सन् १८८३ ई० को, दीपावली के दिन, अजमेर मे स्वामीजी का देहावसान हो गया। स्वामीजी की मृत्यु की इस घटना से ईसा के उस वचन का स्मरण हो आता है, जिसे उन्होने सूली पर चढते समय कहा था, 'पिता इन्हे क्षमा करना, ये स्वय नही जानते कि क्या कर रहे है।' स्वामीजी ने स्वय विषपान करके भी अपने हत्यारे के प्राण की रक्षा की और उसे भगा दिया। सत्य की प्रतिष्ठा और उसकी रक्षा के लिए निरतर सघर्ष करने वाले स्वामीजी ने अपने जीवन का अत भी सत्य के लिए किया। अरविंद घोष के शब्दो मे "स्वामी दयानद आध्यात्मिक क्रियात्मकता की एक शक्तिसपन्न मूर्ति थे।"

पडित हरिश्चद्र विद्यालकार के शब्दो में "दयानद ऋषि थे—क्रातिदर्शी अर्थात् विश्वद्रष्टा। मानव-जीवन का कौन-सा वैयक्तिक अथवा सामाजिक पहलू रह गया,

जिसके सबध में दयानद ने पथ-प्रदर्शन नही किया। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास के सभी उपायो की मीमासा उनके लेखो, व्याख्यानो और कार्यो मे हम पाते है।

डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दो मे, 'महान गुरु दयानद के मन ने जीवन के सब अगो को प्रदीप्त कर दिया।' महात्मा बुद्ध, आचार्य शकर, और भी न जाने कितने महापुरुष भारत मे जन्मे और अपने-अपने ढग से मनुष्यो का पथ-प्रदर्शन कर गये, परतु मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति का जो मार्ग ऋषि दयानद ने प्रदर्शित किया, उसका अपना महत्व है। जातीय जीवन का कौन-सा सूत्र है, जिसका प्रतिपादन ऋषि ने नही किया। एक शास्त्र, एक देवता, एक भाषा और एक सस्कृति की प्रतिष्ठा कर वे भारतीय समाज को व्यक्तिगत और सामूहिक रूप मे सर्वथा समर्थ देखना चाहते थे। यही नही, भूमडल-भर मे ऐसी एकता और उसके फलस्वरूप सुख, शाति एव समृद्धि का राज्य उनका सुनहला सपना था।"†

जीवन-दर्शन

आर्यसमाज के सस्थापक स्वामी दयानद यद्यपि एक महान दार्शनिक थे, तथापि उनकी गणना दार्शनिको मे नही की जाती है। इसका कारण सभवत यह है कि सामाजिक और धार्मिक सुधार के क्षेत्र मे उनकी देन इतनी अधिक और महत्वपूर्ण है कि दार्शनिक रूप की तुलना मे उनका सुधारक रूप अधिक विशिष्ट जान पडता है। दर्शन मे रुचि रखने वाले उनके कुछ अनुयायियो को छोड कर शेष सभी उन्हे सुधारक के रूप मे ही स्वीकार करते है। शकराचार्य और रामानुज की भाँति स्वामी दयानद भी वेदो के प्राचीन गौरव को उच्च स्थान पर पुन प्रतिष्ठित करना चाहते थे और उनके प्रति अत्यत आदर का भाव रखते थे। किंतु उन आचार्यो और स्वामीजी के दृष्टिकोण मे थोडा अतर है। स्वामी दयानद वेदो को अपौरुषेय (Self-revelatory) या 'श्रुति' तथा उपनिषदो, गीता आदि ग्रथो को 'स्मृति' मानते है। 'वैदिक युग की ओर पुनरावर्तन' की उन्होने स्पष्ट शब्दो मे घोषणा की। इसीलिए उन्हे 'भारत के मार्टिन लूथर' की सज्ञा दी जाती है। उन्होने अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यो, शकर और रामानुज, द्वारा उपनिषदो, गीता और वेदातदर्शन का भाष्य लिखने की परपरा का पालन नही किया, वरन् सीधे वेदो पर भाष्य लिखना प्रारभ किया। स्वामीजी ने भाष्यो की रचना प्राचीन साहित्य मे रुचि रखने वाले कतिपय व्यक्तियो के लिए नही की, वरन् भाष्य लिखने मे उनका मुख्य उद्देश्य वेदो को सर्वसाधारण के लिए सुगम और सुलभ बनाना और उनके निकट पहुँचाना था।

---

† प० हरिश्चंद्र विद्यालकार . 'महर्षि दयानद सरस्वती' [सचित्र प्रामाणिक जीवन-चरित]

'ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका' और 'सत्यार्थप्रकाश' स्वामीजी के सर्वश्रेष्ठ ग्रथ है। इन ग्रथो के अध्ययन से दर्शन के सबध मे उनकी कुशाग्र बुद्धि और गहराई का परिचय मिलता है। वह न तो अद्वैतवादी थे और न विशिष्टाद्वैतवादी। इनमे से किसी पर उनका विश्वास नही था क्योकि उनके विचार मे इस जगत् मे केवल तीन तत्त्व अनादि है १ ईश्वर या ब्रह्म, २ जीव या आत्मा, तथा ३ प्रकृति या मूलोपादान। प्रकृति केवल 'सत्' स्वरूप है, जीव 'सत्' और 'चित्' स्वरूप है तथा ब्रह्म 'सत्', 'चित्' और 'आनद' अर्थात् सच्चिदानद स्वरूप है, अत उन्हे 'त्रैतवादी' कहा जा सकता है। वह शकराचार्य की भाँति यह नही कहते 'एकम् ब्रह्म द्वितीयम् किंचित् वस्तु नास्ति' अर्थात् ब्रह्म को छोड कर शेष सब मिथ्या है यद्यपि केवल एक ब्रह्म मे विश्वास करने के कारण स्वामीजी को 'अद्वैतवादी' (Monotheist) कहा जा सकता है, तथापि शकर की भाँति वह यह नही कहते कि ब्रह्म के अतिरिक्त सारा जगत् मिथ्या है। रामानुज ने शकर के मायावाद के सिद्धात की जो आलोचना की है, उससे तो स्वामीजी सहमत हैं, किंतु दर्शन के क्षेत्र मे उनके द्वारा प्रतिपादित 'विशिष्टाद्वैतवाद' (Qualified Monism) को वह नही मानते। उदाहरणार्थ, रामानुज का मत है कि जीवात्मा और पदार्थ अन्य कुछ नही, वरन् ब्रह्म को दो पृथक् अभिव्यक्तियाँ ब्रह्म के दो प्रकार है। इस मत के विषय मे स्वामी जी का कहना है कि यदि ब्रह्म विशुद्ध चित्स्वरूप और सर्वत्र है तो वह अपने ही अभिव्यक्त स्वरूपो—जीवात्मा और प्रकृति (पदार्थ)—से पृथक् किस प्रकार लक्ष्य किया जा सकता है ? पुन रामानुज जीवात्मा और ब्रह्म मे गुणवैधर्म्य के कारण पृथकता मानते है। अस्तु, स्वामी जी का कथन है कि जब दोनो 'ब्रह्म और जीवात्मा' के गुण पृथक् है तो वे समान या एक कैसे हो सकते है ! 'अभिव्यक्ति' शब्द की सार्थकता भी विशिष्टाद्वैत मत मे ठीक नही बैठती।

जीवात्मा और ब्रह्म

स्वामीजी के अनुसार जीवात्मा और ब्रह्म के गुण पृथक्-पृथक् है, अत इस गुण-वैधर्म्य के आधार पर उनको एक या समान नही माना जा सकता। पर जीवात्मा और ब्रह्म मे कुछ गुण समान भी हैं, दोनो मूलत चेतन-स्वरूप है, स्वभाव से पवित्र तथा शाश्वत है। क्या इस समानता अथवा साधर्म्य के कारण भी उन्हे समान या अनन्य नही माना जा सकता ? नही। इस तथ्य को समझने के लिए हम ठोस पदार्थ, तरल पदार्थ तथा अग्नि का उदाहरण ले सकते है। ये तीनो पदार्थ निर्जीव तथा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने वाले है। दूसरे शब्दो मे निर्जीवता तथा प्रत्यक्षता इन तीनो के समान गुण है। परतु इन समान गुणो अथवा साधर्म्य के आधार पर इन्हे एक नही माना जा सकता, कारण, इन तीनो का असमान गुण अथवा वैधर्म्य इन्हे एक दूसरे से पृथक् करता है। ठोस पदार्थ का गुण है कठोरता, तरल पदार्थ का गुण है द्रवणशीलता और अग्नि का

गुण है प्रकाश एवं उष्णता। अत इस गुण-वैधर्म्य के आधार पर इनके अलग-अलग स्वरूप को पहचाना जा सकता है और उन तीनो को एक या समान नही माना जा सकता। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा और ईश्वर मे गुण-साधर्म्य के साथ-साथ गुण-वैधर्म्य भी है। ईश्वर सर्वज्ञ, असीम क्रियाशील तथा सर्वव्यापक है। जीवात्मा ज्ञान, कर्म और स्वभाव से सीमित है। उसमे त्रुटि करने की क्षमता है और वह प्रगतिशील है। ईश्वर सूक्ष्माति-सूक्ष्म है, किंतु जीवात्मा उतना सूक्ष्म नही।

इसके अतिरिक्त अनादि ज्ञान, असीम आनद तथा असीम शक्तिमत्ता ईश्वर के गुण हैं। इससे भिन्न आत्मा के गुण है पदार्थो की प्राप्ति की अभिलाषा (इच्छा), दु ख की अनिच्छा तथा वैर (द्वेष), पुरुषार्थबल (प्रयत्न), आनद (सुख), विलाप और अप्रसन्नता (दु ख), विवेक की पहचान (ज्ञान)—जीवात्मा के ये छ गुण वैशेषिक और न्यायदर्शन दोनो मे समान रूप से मान्य है, किंतु वैशेषिक दर्शन जीवात्मा के इन गुणो को भी मानता है—श्वास लेना (प्राण), श्वास का बाहर निकालना (अपान), आँख मीचना (निमेष), आँख खोलना (उन्मेष), निश्चय, स्मरण और अहकार करना (मन), चलना (गति), सब इद्रियो का चलाना (इद्रिय), क्षुधा, तृषा, हर्ष और शोक (अतर्विकार) से युक्त होना—ये गुण परमात्मा के गुणो से भिन्न है। इन्ही से आत्मा की प्रतीति करनी चाहिए क्योकि वह स्थूल नही है। आत्मा जब तक शरीर मे रहता है तभी तक ये गुण प्रकाशित होते है और जब वह शरीर को त्याग देता है, तब ये गुण शरीर मे नही रहते।

ईश्वर सर्वशक्तिमान है। वह अपनी शक्ति से विश्व का सृजन, पोषण, विसर्जन तथा सृष्टि का नियमन करता है। इससे भिन्न जीवात्मा सतान उत्पन्न करता है, उनका पालन, पोषण और अन्य अच्छे-बुरे कर्म करता है। ईश्वर जीवात्मा को उसके कर्मों का फल प्रदान करता है और जीवात्मा उन्हे भोगता है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि जीवात्मा अपने कर्म करने मे 'स्वतत्र' है, परतु कर्मो का फल भोगने मे 'परतत्र'। 'स्वतत्र' से तात्पर्य है जिसके अधीन शरीर प्राण इद्रिय और अत करण आदि हो। यदि जीवात्मा स्वतत्र न हो तो उसे पाप, पुण्यो का फल कभी प्राप्त न हो। ईश्वर के नियम और व्यवस्था मे पराधीन होकर जीवात्मा अपने पाप कर्मो के लिए दु ख, पीडा और कष्ट भोगता है।

आत्मा के सबध मे स्वामी दयानद का विचार नवीन वेदातियो से भिन्न है। स्वामीजी सभी जीवात्माओ मे एक ही विभु व्याप्त नही मानते। उनके अनुसार विभिन्न मानव-शरीरो में विभिन्न आत्माओ की व्याप्ति है। ये आत्माएँ विभुरूप नही, वरन् उससे परि-च्छिन्न है क्योकि यदि सभी मानव-शरीरो मे एक ही विभु व्याप्त होता तो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म, मरण, सयोग वियोग और आवागमन कभी नही हो सकता। जीवात्मा का स्वरूप अल्पज्ञ और सूक्ष्म है और ईश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अनत, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है,

अत जीवात्मा और ईश्वर का सबध व्याप्य—व्यापक का है।

क्या विभिन्न आत्माएँ ईश्वर से सदैव पृथक् रहती है या कभी दोनो मिलकर एक भी होते है ? जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि साधर्म्य अथवा अन्वयभाव के कारण वे एक या समान है, पर गुण-वैधर्म्य के कारण वे एक नही है और न हो सकती है। व्याप्य और व्यापक के सबध के आधार पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते है। उदाहरणत ठोस पदार्थ आकाश से भिन्न नही रह सकता और उससे कभी पृथक् न होने के कारण एक होता है, पर दोनो मे असमान गुण होने के कारण वे एक नही है। उसी प्रकार जीव और पृथ्वी आदि पदार्थ व्यापक ब्रह्म से अलग नहीं, फिर भी उससे भिन्न है क्योकि उनमे वैधर्म्य है। जैसे घर बनने के पूर्व मिट्टी, लकडी, लोहा आदि पदार्थ आकाश (अवकाश) मे ही रहते है, जब घर का निर्माण हो जाता है तब भी वे आकाश मे हो रहते है, और उसमे नष्ट हो जाने पर भी वे आकाश मे रहते है अर्थात् तीनो काल मे वे आकाश से भिन्न नही हो सकते, किंतु स्वरूप या गुण-भेद के कारण वे न कभी एक थे, न है और न होगे। उसी प्रकार जीवात्मा तथा ससार के सभी पदार्थ ईश्वर मे व्याप्य होने पर भी स्वरूप एव गुण-भेद के कारण कभी उससे एक नही होते।

इस प्रकार ईश्वर और जीवात्मा के पृथक् अस्तित्व को मानते हुए स्वामी दयानद 'अहम् ब्रह्मास्मि', 'तत्वमसि' और 'अयमात्मा ब्रह्म' महावाक्यो का (जो वेदवाक्य माने जाते है) अपने ढग मे विश्लेषण करते है। स्वामीजी का कथन है कि ये वेदवाक्य नही है, वरन् ब्राह्मण ग्रथो के उद्धरण हैं। 'अहम् ब्रह्मास्मि' का अर्थ यह नही है कि मै ब्रह्म हूँ, वरन् मै ब्रह्म मे निवास करता हूँ। उदाहरणार्थ, यदि यह कहा जाय कि मै और वह एक है तो इसका तात्पर्य है कि मै और वह 'अविरोधी' है। इसी प्रकार जीव समाधि मे निमग्न होकर कह सकता है कि मै और ब्रह्म एक अर्थात् अविरोधी है। जब जीव, परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुकूल अपने को बना लेता है तो वही साधर्म्य के कारण ब्रह्म से अपनी एकता कह सकता है।

द्वितीय उद्धरण 'तत्वमसि' का अर्थ यह नही है कि तू ब्रह्म है, वरन् परमात्मा तुम्हारी आत्मा मे है। छादोग्य उपनिषद् का उद्धरण देते हुए वह कहते है कि 'तत्' शब्द का अर्थ है, वह परमात्मा जो जानने योग्य है, जो अत्यत सूक्ष्म, इस जगत् और जीव का आत्मा है वह परमात्मा ही सत्य-स्वरूप है, वह स्वय अपना आत्मा है। हे प्रिय पुत्र श्वेतकेतु ! तू उस अतर्यामी परमात्मा से युक्त है। यही अर्थ उपनिषद् समर्थित है। बृहदारण्यक उपनिषद् मे महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते है, हे मैत्रेयी ! ईश्वर आत्मा अथवा जीव मे स्थित है फिर भी जीवात्मा से भिन्न है, मूढ जीवात्मा नही जानता है कि यह परमात्मा मुझमे व्याप्त है। जीवात्मा परमेश्वर का शरीर है अर्थात् जिस प्रकार शरीर मे आत्मा निवास करता है, उसी प्रकार आत्मा मे परमात्मा की स्थिति है। किंतु

वह जीवात्मा से भिन्न रह कर जीव के पाप-पुण्य का साक्षी होकर जीवो को उनका फल देता है और नियन्त्रित रखता है। वही अविनाशी अतर्यामी परमात्मा तुम्हारी आत्मा मे भी निवास करता है, मैत्रेयी ! तू ऐसा जान। इसी प्रकार तीसरे उद्धरण-वाक्य 'अय-मात्मा ब्रह्म' का भावार्थ यह है कि समाधि दशा मे जब योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तब वह कहता है, 'यह जो मुझमे व्याप्त है, वही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है।'

ईश्वर : सगुण या निर्गुण

ईश्वर सगुण है या निर्गुण ? स्वामी दयानद के विचार मे वह दोनो है, सगुण भी है और निर्गुण भी है। जो वस्तु गुणो से युक्त होती है उसे सगुण और जो गुणो से रहित होती है उसे निर्गुण कहते हैं। अपने स्वाभाविक गुणो से युक्त तथा विरोधी गुणो से रहित होने के कारण ससार के सभी पदार्थ सगुण और निर्गुण होते है। कोई भी पदार्थ ऐसा नही है जिसमे केवल निर्गुणता हो अथवा केवल सगुणता। सब मे दोनो का अस्तित्व होता है। इसी प्रकार ईश्वर अपने अनत ज्ञान, अनत शक्ति और सर्वव्यापकता आदि गुणो से युक्त होने से सगुण तथा जड पदार्थों को मूर्तता एव जीवो के सुख-दु ख की अनुभूति आदि गुणो से पृथक् होने के कारण निर्गुण कहलाता है।

भारतीय दर्शन के इतिहास मे सगुण और निर्गुण शब्दो की यह व्याख्या निराली है। स्वामी दयानद सगुण और निर्गुण ब्रह्म मे भेद नही करते है। शिव, गणेश, ईश्वर और ब्रह्म आदि जो अनेक नाम है, वे सब उसी परमात्मा की सज्ञा हैं। इस अर्थ मे हम उन्हे अद्वैतवादी कह सकते है। वह सगुण और निर्गुण शब्दो को उपासना के क्षेत्र मे अवश्य अधिक महत्त्व देते है। ईश्वरीय गुणो की उपलब्धि का प्रयत्न करना सगुणोपासना है। जो ईश्वर के गुण नही है, उनका परित्याग निर्गुणोपासना है। निर्गुण और सगुण की यह रूपरेखा नैतिक क्षेत्र मे अधिक सहायक सिद्ध होती है।

जगत् मिथ्या नहीं

स्वामी दयानद ससार को मिथ्या या अवास्तविक नही मानते है। उनका कथन है, कि इद्रियो द्वारा जो वस्तु ग्रहणीय और सेव्य है, वह कभी भी असत्य या मिथ्या नही हो सकती है और न जगत् (का कारण परम सूक्ष्म तत्व ही मिथ्या और नश्वर हो सकता है। वेदाती ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति का कारण मानते है, अत जब ब्रह्म सत्य है और जगत् का कारण है, तब उसका कार्य 'जगत्' कभी मिथ्या या असत्य नही हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि वस्तु-जगत् केवल कल्पना-मात्र है और स्वप्न मे देखी हुई वस्तु की भाँति असत्य है अथवा अधकार मे दिखायी पडने वाली उस रस्सी की भाँति है जिसे देखने पर सर्प का भ्रम हो जाता है, तो यह भी सत्य नही है। कारण, कल्पना या विचार गुण है और गुण से द्रव्य को तथा द्रव्य से गुण को पृथक् नही माना जा सकता। जब विचार-

कर्त्ता जीवात्मा नित्य है, तो उसका विचार अनित्य या मिथ्या नही हो सकता, अन्यथा यह स्वीकार करना पडेगा कि जीवात्मा भी अवास्तविक ह। हम उस वस्तु को स्वप्न मे नही देख सकते जिसके विषय मे जाग्रतावस्था मे कुछ भी देखा-सुना न हो। जाग्रत अवस्था मे जिन सत्य पदार्थो का हम प्रत्यक्षीकरण द्वारा ज्ञान ग्रहण करते है, उनका सस्कार हमारी आत्मा मे स्थित रहता हे, वही स्वप्न मे दिखायी देता है। यदि यह सभव हो कि मनुष्य विना देखे-सुने, प्रत्यक्ष सबध के अभाव मे और बिना आत्मा मे स्थित सस्कार के स्वप्न देखे तो जन्माध व्यक्ति भी स्वप्न मे रूप-रग देख सकता है, जो असभव है। स्वप्न या सुषुप्ति की अवस्था मे वाह्य पदार्थों का अज्ञान-मात्र होता है, अभाव नही। अत कहा जा सकता हे कि सुषुप्तावस्था मे भी मन मे वाह्य पदार्थो का सस्कार बना रहता है। उसी प्रकार ससार की रचना का पदार्थ-कारण, प्रकृति, प्रलय के बाद भी वर्त्तमान रहता है।

मुक्ति और पुनर्जन्म

भारतीय दर्शन मे परपरा से यह मान्य है कि मनुष्य-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। स्वामी दयानद भी इस मान्यता को स्वीकार करते है, किंतु आत्मा के बधन और मोक्ष के विषय मे उनका विचार नये वेदातियो से थोडा भिन्न है। नये वेदाती आत्मा को बधन मे नही मानते है और न यही स्वीकार करते है कि मोक्ष पाने के लिए उसे साधनो की आवश्यकता है क्योकि उनका विश्वास है कि आत्मा कभी बधन मे नही था। दयानद कहते है कि सीमाबद्ध, आवृत्त, शरीर धारण करने वाला जीवात्मा बधन मे होता है क्योकि वह अपने पाप-कर्मो के दुख को भोगता है, पापो के बधन से मुक्ति पाने की इच्छा करता है अर्थात् मोक्ष चाहता है। वेदातियो का कहना है कि मोक्षप्राप्त जीव ब्रह्म मे लय हो जाता है, किंतु स्वामी दयानद का विचार है कि प्रत्येक जीवात्मा मोक्ष प्राप्त करने के बाद भी अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखता है। वेदाती और दयानद दोनो यह मानते हैं कि जीवन मे मुक्ति प्राप्त करना सभव है, किंतु स्वामीजी ईश्वर के अवतार लेने की कल्पना को स्वीकार नही करते। हाँ, वह इतना अवश्य मानते है कि मुक्त जीवात्मा ससार के प्राणियो के उत्थान के लिए शरीर धारण करता है।

जीवात्मा मोक्ष के आनद को किस प्रकार भोगता है ? इस प्रश्न का उत्तर स्वामी दयानद इस प्रकार देते है, मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भौतिक शरीर या इद्रियो के गोलक जीवात्मा के साथ नही रहते, केवल उसके स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते है। जब वह सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने का सकल्प करने पर चक्षु, स्वाद के लिए जिह्वा, गध के लिए नासिका, सकल्प-विकल्प करने के समय मन, निश्चय करने के लिए बुद्धि, स्मरण करने के लिए चित्त आदि अपनी स्वशक्ति से, मुक्ति मे प्राप्त कर लेता है। उस समय सकल्प-मात्र ही उसका शरीर होता है। जीवात्मा, जिस प्रकार

शरीर के माध्यम से सासारिक सुख भोगता है, उसी प्रकार परमात्मा के आधार से मुक्ति के आनद को भोगता है। मुक्त जीव अनत व्यापक ब्रह्म मे स्वच्छद घूमता है, शुद्ध ज्ञान से सृष्टि को देखता है, अन्य मुक्तो के साथ मिलता, सब लोक-लोकातरो (जो दृष्टिगोचर होते है और नही होते है) मे विचरण करता है। जीवात्मा का ज्ञान जितना ही अधिक विकसित होता जाता है वह उतना ही आनद प्राप्त करता है। मुक्ति मे जीवात्मा के निर्मल होने से, सब सन्निहित पदार्थो का यथावत ज्ञान होता है—यही सुख विशेष स्वर्ग है। जो सासारिक सुख है वह 'सामान्य स्वर्ग' और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनद है वही 'विशेष स्वर्ग' है।

स्वामी दयानद, उपनिषदो के इस विचार का खडन करते है कि मोक्ष प्राप्त कर लेने पर जीवात्मा इस ससार मे पुन वापस नही लौटता है। वह अपने समर्थन मे ऋग्वेद का उद्धरण देते है, "यह बात सत्य नही है, क्योकि वेद मे इसका निषेध किया गया है। हम लोग किसका नाम पवित्र समझे। नश्वर पदार्थो के बीच वर्त्तमान कौन अविनश्वर देव सदा प्रकाश-स्वरूप है जो हमको मुक्ति का सुख भोगने का अवसर देता है और पुन इस ससार मे जन्म देकर मातापिता का दर्शन कराता है।" "हम इस स्वप्रकाशस्वरूप अनादि, सदा मुक्त, सर्वव्यापक परमात्मा का पवित्र नाम जाने जो हमे मुक्ति मे आनद का भोग करा कर पृथ्वी पर पुन जन्म देकर माता-पिता के दर्शन कराता है। वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता है और सब का स्वामी है।"

साख्यशास्त्र भी कहता है, 'जैसे इस समय बधमुक्त जीव हैं, वैसे ही सर्वदा रहते है। बधन और मुक्ति का 'अत्यत' विच्छेद कभी नही होता, किंतु बध और मुक्ति सदा नही रहती।" 'अत्यत' शब्द अत्यताभाव का भी बोधक हो सकता है पर यह आवश्यक नही है कि 'अत्यत' शब्द अत्यताभाव का ही बोधक हो क्योकि जब हम यह कहते है कि इस मनुष्य को अत्यत दु ख है या सुख है, तब 'अत्यत' शब्द से 'बहुत अधिक' का बोध होता है क्योकि इससे यही विदित होता है कि इस मनुष्य को बहुत दु ख या बहुत सुख है। यहाँ भी 'अत्यत' शब्द का यही अर्थ जानना चाहिए। अत जीवात्मा महाकल्प के पश्चात् मुक्ति के सुख को छोड कर ससार मे आता है। अनत आनद को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवात्मा मे नही है। उसके शरीर, कर्म और साधन परिमित है इसलिए जीवात्मा अनत सुख को नही भोग सकता।

स्वामी दयानद ने भारतीय दर्शन पर निराशावाद के आरोपित दोष का खडन किया है। ससार मे दु ख और कष्ट अवश्य है किंतु इससे निराश होने की आवश्यकता नही। पुनर्जन्म का विश्वास आशावाद का प्रतीक है जो जीवात्मा को आगामी जीवन मे उन्नति करने का अवसर प्रदान करता है। जीवात्मा जन्म जन्मातरो मे सचित अनुभव के आधार

पर, यदि निरतर प्रयत्नशील रहे तो वह एक न एक दिन, अपना अतिम लक्ष्य—मुक्ति प्राप्त कर सकता है ।

मुक्ति के साधन

मुक्ति की प्राप्ति के लिए स्वामी दयानद 'नैतिक गुणो का धारण' अनिवार्य मानते है। 'सत्सग' भी आवश्यक है क्योकि इससे विवेक अर्थात् सत्यासत्य, धर्माधर्म, कर्तव्या-कर्तव्य का निश्चय होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जीवात्मा को 'अपने स्वरूप का पूर्णज्ञान' होना अनिवार्य है। जीवात्मा को यह जानना चाहिए कि वह कोश,† अवस्थाओ‡ और शरीरो* से पृथक् है । जीवात्मा सब कार्यो का कर्त्ता, नियता और भोक्ता है, बिना उसकी प्रेरणा के मन और शरीर कार्य नही कर सकते। अच्छे कार्य करने पर मन मे आनद, उत्साह और निर्भयता और बुरे कर्मो से भय, शका और लज्जा आदि अतर्यामी परमात्मा की प्रेरणा से स्वयमेव उत्पन्न होते है। अत जीवात्मा को इस अतर्यामी पर-मात्मा की प्रेरणा के अनुकूल कार्य करना उचित है ।

मुक्ति की प्राप्ति के लिए 'वैराग्य' भी एक आवश्यक साधन है । वैराग्य से तात्पर्य है पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यत पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभाव को जानना, ईश्वर की आज्ञा पालन करना, उसकी उपासना मे तत्पर रहना, उसकी आज्ञा के विरुद्ध न चलना और अपनी प्रकृति को वश मे रखना। अपनी मुक्तिमार्ग पर प्रगति प्राप्त करने के लिए जीवात्मा को 'षटक् सपत्ति'⋆ अर्थात् छ विशेष प्रकार के कार्य करने चाहिए । इसके अतिरिक्त एक और आवश्यक साधन है 'मुमुक्षत्व', अर्थात् मुक्ति के प्रति अनन्य

---

†जीवात्मा के पाँच कोश हैं [१] अन्नमय कोश, जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्यंत का समुदाय है, [२] प्राणमय कोश, जिसमें जीवात्मा पच प्राण द्वारा सब शरीर में चेष्टा आदि कर्म करता है, [३] मनोमय कोश, जिसमें मन के साथ अहकार, पाँच कर्मेन्द्रियाँ आदि है, [४] विज्ञानमय कोश, जिसमें बुद्धि, चित्त तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है जिनसे जीव ज्ञानार्जन और चिन्तन आदि करता है, [५] आनदमय कोश, जिनमें प्रीति, प्रसन्नता और आनद हैं। इन्ही पाँचों कोशों से जाव सब प्रकार के कर्म, उपासना, ज्ञान आदि व्यवहारों को करता है।

‡आत्मा की तीन अवस्थाएँ है · [१] जागृत, [२] स्वप्न, [३] सुषुप्ति ।

*शरीर चार प्रकार के हैं · [१] स्थूल शरीर, [२] सूक्ष्म शरीर, [३] कारण शरीर, [४] तुरीय शरीर ।

⋆षटक् संपत्ति अर्थात् छ· प्रकार के कर्म करना। [१] शम, अपनी आत्मा और अत करण को अधर्माचरण से हटा कर धर्माचरण में सर्वदा प्रवृत्त रखना, [२) दम, इन्द्रियों और शरीर को व्यभि-चार आदि बुरे कर्मों से हटाकर शुभ कर्मों में लगाना, [३] उपरति, दुष्ट कर्म करने वालों से दूर

भक्ति और प्रेम। जिस प्रकार भूखे व्यक्ति को अन्न के सिवाय और कुछ नही दीखता उसी प्रकार मोक्ष के आकाक्षी जीवात्मा को मुक्ति और उसके साधन को छोड कर और कुछ नही दीखता।

मुक्ति की प्राप्ति के कुछ 'अनुबध' (सहायक साधन) भी है (१) ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के लिए जीवात्मा को 'अधिकारी' होना चाहिए, (२) उसे 'सबध', अर्थात् वेद-शास्त्रो और मुक्ति के साधनो का ज्ञान होना चाहिए और उन्हे अन्वित करना चाहिए, (३) उसे 'विषयी' होना चाहिए अर्थात् उसका एक मात्र उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति होनी चाहिए, (४) उसे 'प्रयोजन' प्राप्त कर लेना चाहिए अर्थात् सब दु खो से निवृत्ति और मुक्ति के परमानद की प्राप्ति।

मुक्ति की प्राप्ति मे 'श्रवण चतुष्टय' भी प्रमुख साधन है (१) 'श्रवण', जब कोई विद्वान उपदेश करे तो शाति से ध्यान देकर सुनना चाहिए, ब्रह्मविद्या मे अत्यत ध्यान देना चाहिए क्योकि यह सब विद्याओ से सूक्ष्म विद्या है, (२) 'मनन', सुने हुए विचारो का एकात मे मनन करना चाहिए, यदि शका हो तो उसका समाधान करना चाहिए। (३) 'निदिध्यासन' जब सुनने और मनन करने से सदेह दूर हो जाय तब समाधिस्थ होकर, जैसा सुना और विचारा था, उसको वैसा ही है या नही, ध्यानयोग से देखना चाहिए, (४) 'साक्षात्कार', जैसा पदार्थ का स्वरूप, गुण और स्वभाव हो वैसा जान लेना ही 'साक्षात्कार' है

मानव प्रकृति मे तीन तत्व है, 'सत्', 'रजस' और 'तमस्'। मोक्षाकाक्षी जीवात्मा को तमस्-जन्य अर्थात् क्रोध मलीनता, आलस्य तथा प्रमाद आदि और रजस्-जन्य अर्थात् ईर्ष्या, द्वेष, काम, अभिमान तथा विक्षेप आदि अवगुणो का परित्याग करना चाहिए। इससे भिन्न जीवात्मा को, शात प्रवृत्ति, पवित्रता, विद्या, विचार आदि 'सत्' गुणो को धारण करना चाहिए। उपर्युक्त साधनो द्वारा जीवात्मा मुक्ति के परमानद की प्राप्ति कर सकता है।

शिक्षा-दर्शन

स्वामी दयानद वैदिक धर्म और सस्कृति के आधार-स्तभ थे। अत अपने देश-वासियो की दयनीय दशा देख कर उन्हे हार्दिक क्षोभ हुआ। उस समय लोग प्राचीन वैदिक धर्म-कर्म त्याग कर धीरे-धीरे ईसाई मत को स्वीकार करते जा रहे थे और पाश्चात्य सस्कृति का गहरा प्रभाव लोगो पर पडता जा रहा था। ऐसी स्थिति मे वैदिक

रहना; [४] तितिक्षा—निन्दा, स्तुति, हानि और लाभ, में हर्ष या शोक को छोड़ कर मुक्ति साधनों में लगा रहना, [५] श्रद्धा, वेदादि सत्य शास्त्र और इनके बोध से पूर्ण आप्त विद्वान व्यक्तियों के वचनों पर विश्वास करना, [६] समाधान चित्त को एकाग्र करना।

धर्म का समर्थक होने के नाते स्वामीजी ने इस महान धार्मिक, सामाजिक और सास्कृतिक सकट से देश को बचाने का प्रयत्न किया। उनका विचार था कि वैदिक काल मे लोगो का जीवन और सस्कृति अत्यत उच्च स्तर पर पहुँची हुई थी और बिना उस सस्कृति के प्रसार के देश की दशा मे सुधार होना कठिन है। वह एक महान विद्वान और परम सत्य के अन्वेषक थे अत उन्होने अपना सपूर्ण जीवन वैदिक अध्ययन और अनुशासन को पुन-रुज्जीवित करने मे अर्पित कर दिया। स्वामीजी सामाजिक सुधार को धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अग मानते थे, अत सामाजिक सुधार और धार्मिक क्राति के लिए उन्होने आर्य-समाज की स्थापना की। उन्होने मानव-जीवन के अतिम एव सर्वोच्च लक्ष्य मुक्ति को पाने के लिए वैदिक ज्ञान और साधनो पर अधिक बल दिया, जिसका वर्णन उनके जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालते समय किया जा चुका है।

दयानद ने अपनी शिक्षा-योजना को आश्रमधर्म पर आधारित किया है। यद्यपि बालक की सविधिक शिक्षा का प्रारभ उपनयन सस्कार से होता है, तथापि अविधिक रूप मे वह गर्भावस्था से हो शुरू हो जाती है। मस्तिष्क की रचना पर आहार का बडा प्रभाव पडता है, इसलिए स्वामीजी ने माता-पिता के लिए सात्विक आहार को उचित बताया है। सात्विक भोजन से स्वास्थ्य, बल, शक्ति और बुद्धि की वृद्धि होती है, मानसिक शाति मिलती है तथा सुदर स्वभाव की रचना होती है। इन्होने माता-पिता को मादक तथा बुद्धि के विकास मे बाधक पेय और खाद्य वस्तुओ से बचने पर जोर दिया है। भोजन के साथ ही उन्होने माता-पिता को सुदर एव पवित्र विचारो को ग्रहण करने के लिए भी आदेश दिया है। आहार-विहार तथा शुद्ध विचारो पर इतना अधिक बल देने का कारण यह है कि अचेतनावस्था मे भी बालक पर इन सब का प्रभाव पडता है। जन्म से पूर्व बालक के तीन सस्कार, गर्भाधान, पुसवन और सीमतोनयन, निर्धारित किये गये है। इन सस्कारो से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि सतानोत्पत्ति का कारण मनुष्य की शारीरिक आवश्यकता है, फिर भी सतान उत्पन्न करना मनुष्य का पवित्र कर्त्तव्य है, जिसको समाज का धार्मिक समर्थन प्राप्त है। सस्कारो की गणना प्रथा या रीति-नीति के अतर्गत नही करनी चाहिए। सस्कार शरीर और मन को शुद्ध बनाने के लिए तर्कसगत धार्मिक कर्म है। हमारे देश के प्राचीन ऋषियो ने मानव-जाति की उन्नति के लिए अनेक सस्कारो का विधान किया है, जिनकी तुलना हम पाश्चात्य 'यूजे-निक्स' से कर सकते है। 'यूजेनिक्स' मे शिक्षा को अधिक महत्त्व नही दिया जाता था, किंतु बाद मे यह अनुभव किया गया कि यह 'यूजेनिक्स' (प्रजनन-विज्ञान) शिक्षा का सपूरक है। समन्वय का यह कार्य रस्क महोदय ने किया। प्लेटो के शब्दो मे उनका कहना है, "वास्तव मे जिस राज्य मे पालन-पोषण और शिक्षा की उत्कृष्ट योजना का अनुसरण होता है, वहाँ के निवासी सद्स्वभाव वाले होते है। सद्शिक्षा के कारण

उनकी और अधिक उन्नति होती है। उनमे सतानोत्पत्ति के गुणो की वृद्धि होती है, जैसा कि क्षुद्र पशुओ मे भी देखा जाता है। इस प्रकार उस राज्य की बहुमुखी प्रगति होती है।"†

इन सस्कारो के पीछे केवल शारीरिक उन्नति की ही भावना नही निहित है, वरन् इनमे मानसिक उन्नति और पूर्णतया आदर्शवादी चरित्र-निर्माण की भावना भी है। जब शुभ सकल्प के साथ सतानोत्पत्ति की जाती है, तब माता को ही बालक का प्रथम गुरु बनना पडता है। माता को चाहिए कि वह अपने बालक को पाँचवे वर्ष तक शिक्षा प्रदान करे और पिता आठवे वर्ष तक। तत्पश्चात् बालक को विद्यालय या आचार्यकुल मे भेज देना चाहिए, जहाँ पूर्ण विद्वान, पवित्र विचारो से सपन्न तथा सभी शास्त्रो मे निष्णात गुरु शिक्षा प्रदान करते हो।

शतपथ ब्राह्मण का वचन है, 'मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद' अर्थात् वही मनुष्य विद्वान हो सकता है जिसके माता, पिता और गुरु, तीनो, उत्तम शिक्षक हो। वह कुल धन्य है, वह बालक भाग्यवान है, जिसके माता-पिता धार्मिक और विद्वान है। माता का जितना सद्प्रभाव बालक पर पडता है, उतना अन्य किसी व्यक्ति का नही, क्योकि कोई भी दूसरा व्यक्ति माँ की भाँति बालक पर ममता नही करता और न उसके समान बालक के कल्याण की चिता ही कर सकता है। उपर्युक्त उद्धरण मे 'मातृमान्' शब्द का जो उपयोग हुआ है उसका अर्थ यही है कि वही बालक वास्तव मे मातृमान् है जिसकी माता धार्मिक और विदुषी है। वह माता धन्य है, जो गर्भाधान से लेकर पूर्ण विद्या प्राप्त होने तक निरतर अपनी सतान को धर्म एव सुशीलता का उपदेश करती है।

माता-पिता द्वारा बालक की प्रारंभिक शिक्षा

यह कहा जा चुका है कि पाँचवे वर्ष तक माता और आठवे वर्ष तक पिता बालक के शिक्षक होते है। इस काल मे माता-पिता को अपनी सतान को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे अपने आचार-व्यवहार मे पूर्णतया सभ्य और सुसस्कृत बन सके तथा किसी भी प्रकार की कुचेष्टा न करे। जब बालक बोलना आरभ करे, तो माता को यह ध्यान रखना चाहिए कि वह उच्चारण करने मे अपनी जिह्वा का ठीक ढग से उपयोग करे। माता को ऐसा प्रबल प्रयत्न करना चाहिए कि बालक वर्णो का स्पष्ट उच्चारण अपेक्षित और यथोचित स्थान और प्रयत्न के साथ करे। उदाहरण के लिए, यदि 'प' वर्ण का उच्चारण करना है तो उसका उच्चारण-स्थान ओष्ठ है। 'प' के उच्चारण के लिए दोनो ओष्ठो को पूर्ण मिलाने के प्रयत्न की आवश्यकता पडती है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत वर्णों के उच्चारण मे आवश्यकतानुसार कम और अधिक समय लगना चाहिए। माता को ध्यान रखना चाहिए

† Rusk, R R : 'The Philosophical Bases of Education', 1929, pp. 48, 49

कि बालक मधुर, गभीर और सु दर स्वर मे उच्चारण करने का अभ्यास करे। उसे इस प्रकार बोलना चाहिए जिससे अक्षर, मात्रा, शब्द, सहिता और अवसान आदि स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् सुनायी पडे। जब बालक थोडा बोलने और समझने लगे, तो उसको यह शिक्षा दी जानी चाहिए कि अपने से बडो और छोटो का सबोधन किस प्रकार करना चाहिए तथा उनके समक्ष किस प्रकार का आचरण करे जिससे बालक समाज मे कभी अप्रतिष्ठित न हो, अपितु सम्मानित हो। माता-पिता को बालको के मन मे विद्या-प्रेम, सत्सग और जितेद्रियता के प्रति अत्यत रुचि उत्पन्न करने का सदा प्रयास करते रहना चाहिए।

बालको को व्यर्थ के खेल-कूद, रोने-हँसने तथा लडाई-झगडे से बचाना चाहिए। उन्हे अधिक हर्ष या दु ख का अनुभव करने अथवा किसी वस्तु मे पूर्णतया लिप्त हो जाने का अवसर नही देना चाहिए। उनमे ईर्ष्या और द्वेष का भाव नही होने देना चाहिए। माता-पिता को पत्येक सभव प्रयत्नो द्वारा बालको मे सत्यभाषण, शौर्य, धैर्य और प्रसन्नता आदि गुणो का विकास करना चाहिए। जब बालक पाँच वर्ष के हो जायँ, तब उनका अक्ष रारभ कराना चाहिए। तत्पश्चात् उन्हे इस प्रकार की कविता, श्लोक, सूत्र और गद्य-पद्य को अर्थसहित कठस्थ कराना चाहिए जिनसे सत्य, धर्म, विद्या-प्रेम, ईश्वर प्रेम और अपने से बडो और समान आयु वालो के साथ आचार-व्यवहार की शिक्षा मिलती हो। उन्हे, अधविश्वासी बनाने वाली, सच्चे धर्म और विज्ञान के विरुद्ध भ्रात बातो से बचने का उपदेश देना चाहिए, जिससे वे कभी कल्पित भूत-प्रेत आदि के भ्रमजाल मे न पडे। बालको को इस बात का ज्ञान करा देना चाहिए कि सभी धूर्त-रासायनिक, जादूगर, तत्र, मत्र और जादू-टोना करने वाले दुष्ट होते है और उनके कार्य धूर्ततापूर्ण होते है। भूत, प्रेत के बारे मे मनु के विचार का समर्थन करते हुए स्वामीजी कहते है—जब गुरु का प्राणात होता है, तब मृत शरीर (जिसका नाम प्रेत है) का दाह करने वाला शिष्य, प्रेतहार, मृतक को उठाने वालो के साथ दसवे दिन शुद्ध होता है। जब शरीर का दाह हो जाता है, तब उसका नाम 'भूत' होता है जिसका तात्पर्य है वह अमुक नाम का पुरुष था। अर्थ यह है कि जो वर्तमान मे जीवित न रह कर मृतस्थ हो, उसका नाम भूत है। कुसगति और कुसस्कार के कारण लोग भूत, प्रेत, शाकिनी, डाकिनी आदि के भ्रमजाल मे फँस जाते है। इसके अतिरिक्त वैद्यक-शास्त्र या पदार्थ-विद्या से अपरिचित अज्ञानी लोग सन्निपात, उष्णादि, शरीर के अन्य उन्मादादि मानस-रोगो का नाम भूत-प्रेत रख देते है और फिर उनके उपचार के लिए धागा, डोरा, मिथ्या तत मत्र बँधवाते फिरते है अथवा देवी-देवता को भेंट चढाते फिरते है।

इसी प्रकार स्वामीजी बालको को ज्योतिषियो के भ्रम से बचने का उपदेश देते है। उनके मत मे लाभ-हानि, जीवन-मरण, सुख-दु ख आदि ग्रहो के परिणाम न होकर

मनुष्य के अपने कर्मो के फल है । किंतु ऐसा बता कर स्वामीजी ज्योतिष-शास्त्र को झूठा नही प्रमाणित करते । ज्योतिष-शास्त्र में अंकगणित, बीजगणित और रेखागणित आदि विद्याएँ सच्ची है, किंतु फलित ज्योतिष झूठा है । जैसे पृथ्वी जड है उसी प्रकार सूर्यादि लोक भी है । वे चेतन तो नही है, जो क्रोधित होकर दु ख और शात होकर सुख दे । इसके अतिरिक्त जितने भी व्यक्ति रसायन, मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण आदि लीला करने वाले है, वे भी पामर है । इन सब बातो को प्रारभ से ही बालको के हृदय मे कूट-कूट कर भर देना चाहिए ताकि वे किसी के बहकावे मे न आये ।

दंड

स्वामी दयानद का यह कथन मनोविज्ञान के सिद्धात के विचार से सत्य है कि वे ही बालक सभ्य और सुशिक्षित होते है, जिनके माता-पिता उन्हे अधिक लाड-प्यार करके बिगाडते नही, वरन् आवश्यकता पडने पर दड भी देते है । वह अपनी बात की पुष्टि के लिए पातजलि के महाभाष्यो से उद्धरण देते हुए कहते है, "वे माता-पिता और शिक्षक जो अपनी सतान या शिष्य को आवश्यकतानुसार दड देते है, वे मानो अपने हाथ से उन्हे अमृत पिलाते है तथा जो अपनी सतान या शिष्यो को लाड-प्यार करते है, वे उन्हे अपने हाथ से विष पिलाकर नष्ट-भ्रष्ट कर देते है क्योकि लाड-प्यार से शिष्य दोषयुक्त हो जाते है और दड से गुणयुक्त होते है ।"† उचित दड का समर्थन करते हुए भी स्वामी दयानद का विचार है कि माता-पिता और शिक्षको को चाहिए कि वे ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित होकर बालको को दड न दें । उन्हे ऊपरी व्यवहार मे तो कठोर, किंतु मन मे बालको के प्रति सहृदय, कोमल और कृपालु होना चाहिए । बालक को दड देते समय ऊपर से चाहे कठोर मुद्रा भले ही हो, किंतु दड देने वाले का हृदय बालक के प्रति दया और करुणा-पूर्ण होना चाहिए।

नैतिक अनुशासन

माता-पिता और शिक्षको को चाहिए कि बालको को चोरी, जारी, आलस्य, प्रमाद, मादक पदार्थो का सेवन, मिथ्याभाषण, हिसा, क्रूरता, ईर्ष्या-द्वेष और मोह का त्याग करने और सद्गुणो अर्थात् सत्यता और दया आदि को ग्रहण करने का उपदेश दे । स्वामी दयानद का कथन है कि कोई व्यक्ति जब एक बार भी चोरी, जारी या मिथ्याभाषण करता है, तो लोग कभी भी उसकी प्रतिष्ठा और विश्वास नही करते । प्रतिज्ञा को भग करने से व्यक्ति के चरित्र पर कलक लगता है, अत वचन दे देने पर, किसी भी मूल्य पर उसका

---

† सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः । लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणा. । अध्याय ८।१।८॥

पालन करना चाहिए। अभिमान, छल, कपट और कृतघ्नता से स्वय अपना ही मन दुखी होता है, फिर उससे दूसरे को कितना दु ख होता होगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। स्वय विश्वास कुछ करना और कहना कुछ और, तथा दूसरे को भ्रम मे डाल कर अपना स्वार्थ-साधन करना कपट है। किसी दूसरे द्वारा किये गये उपकार को न मानना और कृतज्ञ न होना, कृतघ्नता है। बालक को क्रोध, कटुभाषण और बकवाद नही करना चाहिए। उन्हे मधुर और शात वचन बोलना चाहिए। न अधिक बात करनी चाहिए और न कम। आवश्यकता के अनुसार ही बोलना उत्तम है। उसे अपने से बडो का सम्मान करना और तन-मन-धन से उनकी सेवा करनी चाहिए। माता-पिता और शिक्षक को अपने बालको या शिष्यो को सत्परामर्श, धर्मयुक्त कर्मो को करने तथा बुरे कर्मो को त्यागने का उपदेश देना चाहिए। माता-पिता और आचार्य जिन-जिन उत्तम कार्यो के लिए आज्ञा दे, बालको को उन्हे अवश्य करना चाहिए। बालको को धर्म, विद्या और सदाचरण-सबधी श्लोक, निघटु, निरुक्त, अष्टाध्यायी अथवा अन्य सूत्र तथा वेदमत्र कठस्थ कराना चाहिए और इनकी पुनरावृत्ति कराते रहना चाहिए।

सबके लिए अनिवार्य शिक्षा

स्वामी दयानद के विचार मे बालक-बालिकाओ की शिक्षा का ध्यान रखना माता-पिता का परम पवित्र कर्त्तव्य है। एक दूसरे कवि के शब्दो मे वह कहते है, 'वे माता-पिता अपनी सतान के शत्रु है, जो उन्हे शिक्षा नही देते। वे बालक विद्वानो की सभा मे वैसे ही तिरस्कृत और उपेक्षित होते है जैसे हसो के बीच मे बगुला।'‡ बालको को उच्चतम शिक्षा देने, उनके आचार-व्यवहार को सभ्य और सुसस्कृत बनाने के लिए अपना तन-मन-धन अर्पित करना माता-पिता का परम कर्त्तव्य है। माता-पिता के अतिरिक्त राज्य और समाज का यह कर्तव्य है कि वह सब के लिए शिक्षा अनिवार्य कर दे। मनु के शब्दो मे स्वामीजी का कथन है—सब अपने पाँच या आठ वर्ष की आयु के बालक-बालिकाओ को शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यालय अवश्य भेजे। जो इस अवस्था के बालक-बालिकाओ को विद्यालय न भेज कर घर पर रखे, वे दडनीय हो। इससे यह सिद्ध होता है कि स्वामी दयानद सभी वर्णों के बालक-बालिकाओ के लिए शिक्षा प्राप्त करना आवश्यक समझते है। वह ब्राह्मणो के अतिरिक्त क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबके लिए शिक्षा को अनिवार्य मानते है क्योकि यदि सभी वर्णों के लोग सभ्य और सुसस्कृत होगे, तो समाज मे कोई भी असत्याचरण नही करेगा। स्त्रियो और द्विजेतर वर्णो की शिक्षा के सबध मे स्वामीजी के मतो का सविस्तार वर्णन आगे किया जायगा।

---

‡ माता शत्रु पिता वैरी येन बालो न पाठित। न शोभते सभामध्ये हंस मध्ये बको यथा॥ 'चाणक्य नीति', २२, १११

गुरुकुल या आचार्यकुल

आठ वर्ष की अवस्था में उपनयन या यज्ञोपवीत सस्कार के उपरात बालक-बालिकाओ को विद्यालयो मे भेज देना चाहिए। गुरुकुल या विद्यालय किसी शात स्थान मे होना चाहिए। उन्हे किसी नगर या गाँव से पाँच मील की दूरी के भीतर स्थित नही होना चाहिए। बालको के विद्यालय कन्या-विद्यालयों से कम से कम तीन मील की दूरी पर होने चाहिए। बालको के विद्यालयो मे सभी कर्मचारी पुरुष और कन्या-विद्यालयो की सभी कार्यकर्त्रियाँ स्त्रियाँ होनी चाहिए। पाँच वर्ष की आयु के बालक-बालिकाओ को एक दूसरे के विद्यालयो मे प्रवेश करने की अनुमति नही दी जानी चाहिए। ब्रह्मचर्याश्रम मे उन्हे परस्पर एक दूसरे से निम्नाकित आठ प्रकार के मैथुनो से बचना चाहिए —

(१) एक दूसरे को लोलुप दृष्टि से देखना।
(२) स्पर्श करना।
(३) मैथुन करना।
(४) घुलमिल कर वार्त्तालाप करना।
(५) परस्पर क्रीडा करना।
(६) एकात सेवन करना।
(७) काम-विषयक पुस्तकें पढना और वार्त्तालाप करना।
(८) विषय-विकार का ध्यान करना।
(अतिम दोनो मानसिक मैथुन कहलाते है।)

अध्यापको को चाहिए कि वे बालक-बालिकाओ को उपर्युक्त अष्ट मैथुनो से दूर रखे, जिससे बालक-बालिका पूर्ण विद्या, शिक्षा, शील-स्वभाव से युक्त तथा शरीर और मन से पुष्ट होकर नित्य आनदपूर्वक रह सके। सभी विद्यार्थियो को बिना किसी भेद-भाव के समान रूप से भोजन, वस्त्र और आसन दिए जाने चाहिए। विद्यार्थी चाहे राजकुमार हो या राजकुमारी अथवा दरिद्र माता-पिता की सतान, उसे तपस्वी होना चाहिए, और सभी प्रकार की सासारिक चिताओ से रहित होकर केवल विद्या प्राप्त करने मे दत्तचित होना चाहिए। बालको के हर प्रकार के मनोविनोदो मे अध्यापको को साथ रहना चाहिए, जिससे वे किसी प्रकार की कुचेष्टा, आलस्य या प्रमाद न कर सके।

भोजन और वेश-भूषा

बालको का भोजन स्वास्थ्य, बल और बुद्धि की वृद्धि करने वाला होना चाहिए। उन्हे नित्य समय पर भूख से थोडा कम और उतना ही भोजन करना चाहिए, जो सरलतापूर्वक पच जाये तथा अजीर्ण न होने पाये। एक बार भोजन करने के बाद तीन घटे तक

कुछ भी नही खाना चाहिए। भोजन का मनुष्य के शरीर, आत्मा और बुद्धि पर प्रभाव पडता है इसलिए उनका भोजन विशुद्ध और सात्विक होना चाहिए। मासाहार, माद्य पेय आदि तथा आमिष एव पाशविक खाद्य-पेय पदार्थो का परित्याग करना आवश्यक हैं। इसके अतिरिक्त अम्ल, तिक्त, कषाय अर्थात् राजसिक एव तामसिक खाद्यो का भी त्याग करना चाहिए। प्रसन्नचित्त होकर खूब चबा-चबा कर भोजन करना उत्तम है, जिससे वह ठोक ढग से पच जाये। वेश-भूषा सरल और सादी होनी चाहिए क्योकि वस्त्रादि से मनुष्य के आचार-व्यवहार का परिचय मिलता है। बालको को 'सादा जीवन उच्च विचार' के आदर्श का पालन करना चाहिए।

विद्याध्ययन-काल

ब्रह्मचर्य-पालन करते हुए विद्या प्राप्त करने की न्यूनतम अवधि पच्चीस वर्ष है। यदि कोई व्यक्ति आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता है तो कर सकता है, किन्तु यह तभी सभव है जब उसे पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि हो, अपने मस्तिष्क तथा इद्रियो पर नियत्रण हो और वह सासारिक दोषो से रहित पूर्ण योगी हो।

स्वामी दयानद के मतानुसार बालक का प्रथम उपनयन सस्कार अर्थात् यज्ञोपवीत घर पर होना चाहिए और उसे गायत्री मत्र का उपदेश दिया जाना चाहिए, किंतु विद्यालय या गुरुकुल मे प्रविष्ट होने के समय उसका द्वितीय उपनयन सस्कार करना चाहिए। इसमे उसे अर्थ के साथ गायत्री मत्र का उपदेश करना चाहिए। गायत्री मत्र का ज्ञान अर्थसहित करा देने के पश्चात् बालक को 'सध्योपासना' तथा उसकी विधियो—स्नान, आचमन, प्राणायाम को सिखाना चाहिए। शरीर के बाह्य अवयवो की शुद्धि और आरोग्यता के लिए स्नान आवश्यक है। प्राणायाम करने से शारीरिक और आतरिक अशुद्धियो का उत्तरोत्तर नाश होता जाता है और आत्मा मे ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। मनु के अनुसार, प्राणायाम की महिमा बताते हुए स्वामीजी का कथन है, जैसे अग्नि मे तपाने से सुवर्णादि धातुओ का मल नष्ट हो जाता है और वे शुद्ध हो जाती है, वैसे ही प्राणायाम द्वारा मन इद्रियो आदि के दोष नष्ट हो जाते है और मन तथा शरीर निर्मल हो जाता है। बालक और बालिकाओ दोनो को प्राणायाम की शिक्षा दी जानी चाहिए। सध्योपासना और प्राणायाम एकात और शात स्थान मे करना चाहिए जिससे चित्त एकाग्र हो सके। सध्योपासना के पश्चात् बालको को 'देवयज्ञ' की क्रिया सिखानी चाहिए और उन्हे नित्य नियमपूर्वक सध्या, प्राणायाम और देवयज्ञ करना चाहिए। 'देवयज्ञ' का अर्थ है हवन। आर्षग्रथो मे हवन या अग्निहोत्र को स्वर्ग अर्थात् सुख-शाति का प्रदाता कहा गया है। दुर्गधयुक्त वायु से रोग उत्पन्न होते है और रोग से प्राणियो को कष्ट पहुँचता है, अत दूषित वायु को दूर करने के लिए तथा वायु को शुद्ध बनाने के लिए हवन करना

परम ग्रावश्यक है। हवन का महत्त्व केवल धार्मिक दृष्टि से ही नही, वरन् स्वास्थ्य-विज्ञान के विचार से भी सर्वोपरि है। हवन से रोग के कीटाणु नष्ट होते है ग्रौर शुद्ध वायु से शरीर मे धारणा-शक्ति अर्थात् प्राण-शक्ति की वृद्धि होती है।

ग्राचार्य या ग्रध्यापक को तैत्तिरीय उपनिषद् के ग्रनुसार शिष्य को इस प्रकार उपदेश करना चाहिए—"हे ब्रह्मचारिन ! तू सदा सत्य बोल, धर्म का ग्राचरण कर, प्रमादरहित होकर पठन-पाठन कर। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर समस्त विद्याग्रो को ग्रहण करके ग्राचार्य को प्रिय धन देकर विवाह कर ग्रौर सतान की उत्पत्ति कर। प्रमादवश सत्य ग्रौर धर्म का त्याग कभी मत कर। ग्रालस्यवश ग्रारोग्य ग्रौर बुद्धिमत्ता का त्याग कभी मत कर। उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि का त्याग मत कर। पठन-पाठन की उपेक्षा कभी मत कर। विद्वान माता-पिता ग्रौर ग्रतिथियो की सेवा मे प्रमाद मत कर। धर्मयुक्त कार्य ग्रौर सत्यभाषण किया कर। पापाचरण कभी मत कर। हमारे उत्तम गुणो को ग्रहण कर, दोषो को नही।[†] सदा विद्वान ग्रौर धर्मात्मा ब्राह्मण का सत्सग ग्रौर उनका विश्वास कर। दान देना—श्रद्धा से या ग्रश्रद्धा से, शोभा के लिए देना या लज्जा से, भय से देना ग्रौर सकल्प से देना। कर्म, उपासना या ज्ञान के सबध मे किसी प्रकार का जब कभी तुझे सशय उत्पन्न हो, तो विचारशील, पक्षपातरहित, ग्रार्द्रचित्त, पवित्रात्मा, दर्शन ग्रौर विज्ञान मे दक्ष धर्मात्मा ब्राह्मण (योगी हो या न हो) के समान ग्राचरण कर। यही ग्रादेश, यही उपदेश ग्रौर यही वेद की शिक्षा है। इसी प्रकार व्यवहार कर ग्रौर इसी ग्राज्ञा का पालन कर।"

शिक्षा से तात्पर्य

शिक्षा के विषय मे विचार प्रकट करते हुए स्वामी दयानद ने लिखा है, जिससे मनुष्य विद्या ग्रादि शुभ गुणो को प्राप्त करे ग्रौर ग्रविद्या ग्रादि दोषो को त्याग कर सदा ग्रानदित रह सके, वह शिक्षा है। जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जान कर ग्रहण करने योग्य गुणो को लेकर ग्रपने ग्रौर दूसरो को सुखी बना सकें, वह विद्या है। जिससे पदार्थों के स्वरूप का प्रतिकूल ज्ञान हो ग्रौर जिसे जान कर ग्रपना ग्रौर दूसरे का ग्रहित कर लिया जाय, वह ग्रविद्या है। इस प्रकार पदार्थ के यथार्थ ज्ञान, ग्रात्मकल्याण तथा पर-कल्याण मे प्रवृत्त करनेवाले ज्ञान को स्वामीजी ने शिक्षा या विद्या की सज्ञा प्रदान की ग्रौर सत्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए वैदिक शिक्षा-योजना बनायी।

शिक्षायोजना ग्रथवा पाठ्यक्रम

स्वामी दयानद ने पठन-पाठन की जो विधि बतायी है, उसके ग्रनुसार कोई व्यक्ति बीस-इक्कीस वर्ष मे वेदो, उपवेदो तथा ग्रन्य विज्ञानो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

---

† यान्यस्माकँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि ॥ तैत्ति० ग्रपा० ७, ग्रनु० ११।

किया जाता है ।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्वामीजी वैदिक शिक्षा-पद्धति, शिक्षा-प्रसार और जीवनोन्नति के महान प्रवर्त्तक एव मार्गदर्शक थे, जिनके जीवन और आदर्शों से प्रेरणा लेकर शिक्षा और जीवन के क्षेत्र मे क्रातिकारी सफलताएँ प्राप्त की जा सकती है।

सहायक साहित्य

स्वामी दयानद सरस्वती

१ सत्यार्थप्रकाश
२ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
३ सस्कारविधि
४ यजुर्वेदभाष्यभूमिका
५, वेदागप्रकाश
६ आर्याभिविनय
७. पचमहायज्ञविधि
८ सस्कृतवाक्यप्रबोध
९ काशीशास्त्रार्थ
१० भ्रान्तिनिवारण
११ वेदान्तिध्वान्तनिवारण
१२ भ्रमोच्छेदन
१३ वेदविरुद्धमतखडन
१४ आर्योद्देश्यरत्नमाला

अन्य लेखक

1 Dr Chiranjiva Bharadwaja *Translation of Satyarthaprakasha*
2 Ganga Prasad Upadhyaya *Translation of Satyarthaprakasha*
3 Ganga Prasad Upadhyaya *The Origin, Scope and Mission of the Aryasamaj*
4 Ganga Prasad Upadhyaya *Shankar, Ramanuja and Dayananda*
5 Ganga Prasad Upadhyaya *Philosophy of Dayananda*
6. Ganga Prasad Upadhyaya *Raja Ram Mohan Roy, Keshava Chandra Sen and Dayananda*
7. Sri Aurobindo *Bankim, Tilak and Dayananda*
8 Vishwa Prakash *Life and Teaching of Swami Dayananda*
9. H. B. Sarda : *Dayananda Commemoration Volume*, 1933
10 B. Sharma and Mahatma Atma Ram : *Sanskar Chandrika, A Commentary on Swami Dayananda's 'Sanskar-Vidhi'*

स्वामी विवेकानंद

जीवन और कार्य

महात्मा ईसा के विचारो और शिक्षाओ के प्रचार के लिए जो प्रयत्न सेट पाल ने किया था, लगभग वैसा ही प्रयास विवेकानद ने रामकृष्ण परमहस के उपदेशो के लिए किया। दक्षिणेश्वर मदिर मे श्री रामकृष्ण ने अपने दिव्य स्पर्श द्वारा ज्ञान का जो बीज उनके हृदय मे बोया, उसे विवेकानद ने सारे विश्व मे प्रसारित करके विश्व-धर्म का विकास किया। उन्होने पाश्चात्य जगत् को वेदात-सिद्धात तथा भारत को व्यावहारिक वेदात की शिक्षा दी और इस प्रकार लोक-जीवन के उद्धार एव उत्थान का मार्ग दिखलाया। अपने जीवन के केवल चालीस वर्षो मे ही स्वामीजी ने ससार के विभिन्न भागो मे अपने गुरु रामकृष्ण परमहस के नाम पर मठो और आश्रमो की स्थापना करके वेदात-शिक्षा तथा लोक-सेवा का महान कार्य आरभ किया।

बाल्यावस्था और शिक्षा

स्वामी विवेकानद का जन्म, सन् १८६३ ई० मे, भारत के विख्यात नगर कलकत्ता मे हुआ था। वह जाति के बगाली क्षत्रिय थे और सन्यास लेने के पूर्व उनका नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। कालेज मे शिक्षा प्राप्त करते समय नरेन्द्रनाथ एक प्रसन्न-चित्त, खेल-कूद मे भाग लेने वाले युवक थे, किंतु उनके मन में ज्ञान प्राप्त करने की अपार जिज्ञासा थी। कुश्ती, घूँसेबाजी, तैराकी तथा घुडसवारी मे वह बडे निपुण थे, किंतु साथ ही कविता और दर्शन के प्रेमी भी थे। अपने विद्यार्थी-जीवन मे ही वह पाश्चात्य दर्शन की सभी प्रणालियो से पूर्ण परिचित हो चुके थे तथा समकालीन दार्शनिको के विचारो से अवगत थे। अग्रेजी भाषा के कवियो मे वर्ड्सवर्थ तथा शेली उनके प्रिय कवि थे। नरेन्द्रनाथ की तीव्र प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके कालेज के प्रधानाचार्य, मिस्टर हेस्टी, ने कहा था, 'नरेन्द्रनाथ सचमुच प्रतिभाशाली है। मैंने ससार के बहुत दूर-दूर देशो की यात्राएँ

की है, किंतु किशोरावस्था मे ही, इसके समान योग्य और महान सभावनाओ, वाला युवक मुझे जर्मन विश्वविद्यालयो मे भी नही मिला।'

मिस्टर हेस्टी ने ही नरेन्द्रनाथ को एक दिन श्री रामकृष्ण परमहस का परिचय दिया था। कक्षा मे वर्ड्सवर्थ की एक कविता की व्याख्या करते हुए उन्होने कहा कि इस कविता मे जिस मानसिक पवित्रता तथा एक वस्तु पर चित्त को केन्द्रित करने के अनुभव का वर्णन है, वह मैने केवल श्री रामकृष्ण परमहस मे देखा है। यदि दक्षिणेश्वर जाओ, तो तुम्हे इसका दूसरा अनुभव हो सकता है। मिस्टर हेस्टी के ये शब्द नरेन्द्रनाथ के मन मे बैठ गये और वह श्री रामकृष्ण के दर्शन के लिए दक्षिणेश्वर मदिर गये।

गुरु का प्रथम साक्षात्कार

नरेन्द्रनाथ की दक्षिणेश्वर-यात्रा उनके जीवन की अपूर्व घटना थी। इसने उनके जीवन की धारा को ही परिवर्तित कर दिया, जिसके कारण हिंदू-धर्म के इतिहास मे एक नये अध्याय का प्रारभ हुआ। दक्षिणेश्वर पहुँचकर उन्होने श्री रामकृष्ण से प्रश्न किया, 'क्या आपने ईश्वर का साक्षात्कार किया है ?' उत्तर मिला, 'हाँ, मै जैसे तुम्हे देख रहा हू, ठीक वैसे ही उसे भी। ईश्वर की अनुभूति प्राप्त की जा सकती है। कोई भी उसे देख सकता है और उससे वार्त्तालाप कर सकता है, किंतु इसकी चिंता कौन करता है। लोग अपने स्त्री-बच्चो, धन-सपत्ति के लिए विकल है। यदि कोई सचमुच ईश्वर के लिए व्याकुल हो तो वह स्वय प्रत्यक्ष हो सकता है।' श्री रामकृष्ण के वचनो से नरेन्द्रनाथ को पूर्ण सतोष हुआ क्योकि इसके पूर्व किसी ने उन्हे इतना सतोषपूर्ण उत्तर नही दिया था।

दिव्य अनुभूति की प्राप्ति

नरेन्द्रनाथ जब दूसरी बार श्री रामकृष्ण के दर्शन के लिए गये, तो उन्हे स्पष्ट रूप से उनकी दिव्य-शक्ति का अनुभव हुआ। श्री रामकृष्ण ने अपने मन मे कुछ बुदबुदाते हुए अपनी दृष्टि उन पर केद्रित कर दी और धीरे से उन्हे अपने निकट खीच कर अपना दाहिना चरण उनके शरीर पर रख दिया। इस स्पर्शमात्र से नरेन्द्रनाथ को विचित्र अनुभव होने लगा। उन्हे लगा, जैसे कमरे की दीवारे और सारी वस्तुएँ तीव्र गति से घूमती हुई विलीन होती जा रही है और उनके साथ ही सारा ससार एक रहस्यमय शून्य मे समाता जा रहा है। वह भयभीत होकर चीख पडे, जैसे मर रहे हो। रामकृष्ण ने हँसते हुए उनकी छाती पर हाथ रखा और कहा, 'अच्छा, अब शात हो जाओ।' उनके इतना कहते ही नरेन्द्रनाथ की वह दिव्य अनुभूति समाप्त हो गयी और वह स्वाभाविक स्थिति मे आ गये। इस घटना ने इनके मस्तिष्क को आमूलत परिवर्तित कर दिया। वह श्री रामकृष्ण के शिष्य बन गये।

नरेन्द्रनाथ लगभग पाँच-छ वर्षों तक श्री रामकृष्ण के निकट-सपर्क मे रहे। वह सप्ताह मे एक या दो बार गुरु के पास जाते थे और प्राय कुछ दिनो तक उनके माथ रहते थे। इस सपर्क के फलस्वरूप धीरे-धीरे उनका अत करण आलोकित होता गया और श्री राम-कृष्ण ने यह अनुभव कर लिया कि ये उनके आध्यात्मिक उत्तराधिकारी हो सकते हैं। साधना के आरभिक दिनो मे तो इन्हे गुरु की शिक्षाओ पर हँसी आती थी क्योकि इनके ऊपर ब्रह्मसमाज का प्रभाव था, किंतु बाद मे ये समझने लगे कि श्री रामकृष्ण अलौकिक अनुभूति से सपन्न है और वह अपनी शक्ति को दूसरे के शरीर मे प्रविष्ट करा सकते है। श्री रामकृष्ण के प्रभाव मे आ जाने पर नरेन्द्रनाथ ने बौद्धिक क्षेत्र से अध्यात्म के क्षेत्र मे प्रवेश किया। बौद्धिक क्षेत्र मे रहने के कारण सभव है कि नरेन्द्रनाथ दर्शन के प्रसिद्ध प्राध्यापक हो जाते, किंतु इस दिव्य अनुभूति से उन्हे वचित रहना पडता। श्री रामकृष्ण ने इन्हे जीवन के एक महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए योग्य बनाया। अपने शरीर का त्याग करने के तीन दिन पूर्व उन्होने नरेन्द्रनाथ को अपने पास बुलाया, अपनी तपोनिधि को इन्हे सौप दिया और कहा, 'आज अपना सब कुछ तुम्हे देकर मै रक बन गया। मैने योग द्वारा जिस शक्ति को तुम्हारे भीतर प्रविष्ट कराया है, उससे तुम अपने जीवन मे महान कार्य करोगे। अपने इस कार्य को पूर्ण करने के पश्चात् ही तुम वहाँ जाओगे जहाँ से आये हो।'

संन्यास, भ्रमण और अनुभव

गुरु की मृत्यु के उपरात इन्होने अपने गुरुभाइयो को एकत्र किया और उनके सम्मुख गुरु के जीवन और उनकी शिक्षाओ के महत्व पर प्रकाश डाला। इन्होने इस बात की आव-श्यकता को अनुभव कराने की चेष्टा की कि प्रत्येक शिष्य को श्री रामकृष्ण के सदेश का ससार मे प्रचार करना चाहिए। इनकी बातो का इतना प्रभाव पडा कि श्री रामकृष्ण के युवक शिष्यो ने गार्हस्थ्य जीवन का त्याग करके सन्यास ग्रहण किया, बडानगर मे एक आश्रम की स्थापना की और उनके सदेश के प्रचार मे लग गये। नरेन्द्रनाथ ने भी अपना नाम परिवर्तित कर लिया। पहचान मे आने से बचने के लिए इन्हे अपना नाम कई बार बदलना पडा। 'सर्वधर्म-सम्मेलन' मे भाग लेने के लिए जब ये अमेरिका जाने लगे तब अतिम बार स्थायी रूप से इन्होने अपना नाम विवेकानद रखा और इसी नाम से सारे ससार मे विख्यात हुए। गुरु के देहावसान के दो वर्ष पश्चात् विवेकानद ने सपूर्ण भारत का भ्रमण किया। इन्होने प्राय पैदल चल कर ही सारे देश की यात्रा की, अनेक कठिनाइयो को सहन करते हुए, भूखे-प्यासे रह कर, इस यात्रा मे इन्होने भारत की आत्मिक एकता और देश की समस्याओ का अध्ययन किया। द्वार-द्वार घूम कर विवेका-नद ने ग्रामीण जनो की दरिद्रता का करुण दृश्य देखा, राजाओ और अमीरो के वैभव की झाँकी देखी और यह अनुभव किया कि जातियो-उपजातियो तथा धर्मो-सप्रदायो मे विभाजित

इस देश की जनता मे कौन-सी क्षमताएँ और कौन-सी कमजोरियाँ है। इन्होने उस मौलिक तत्व को भी जानने का प्रयत्न किया, जिसके कारण देश की जनता मे सास्कृतिक एकता बनी हुई है। इस यात्रा मे उन्हे जो व्यापक अनुभव हुए, वे उनके भावी जीवन मे बडे उपयोगी सिद्ध हुए।

मातृभूमि की सेवा का संकल्प

- देश-भ्रमण करते हुए स्वामीजी कन्याकुमारी पहुँचे। भारत के दक्षिणी सीमान्त पर स्थित कन्याकुमारी के मदिर मे इन्होने देवी का दर्शन किया और फिर समुद्र मे उभरी हुई एक चट्टान पर बैठ कर तपस्या मे समाधिस्थ हो गये। कन्याकुमारी मे प्राप्त अनुभवो का वर्णन करते हुए इन्होने लिखा 'देश भर मे अनेक सन्यासी भ्रमण करते हुए जनता को आध्यात्मिक उपदेश देते है, किंतु यह पागलपन है। क्या हमारे गुरुदेव नही कहा करते थे कि भूखा रहना धर्म के लिए हितकर नही है। ये असख्य दीन जन केवल अज्ञान के कारण जडतापूर्ण जीवन व्यतीत करते है। यदि विरक्त सन्यासी इन दीनो के कल्याण का सकल्प करे, गाँव-गाँव घूम कर शिक्षा का प्रसार करे, मौखिक शिक्षा दे, चित्रो-मानचित्रो तथा अन्य साधनो से लोगो को शिक्षित बनाये तो आगे चल कर क्या इसका परिणाम शुभ नही होगा ?' एक राष्ट्र के रूप मे हम अपने व्यक्तित्व को भूल गये है और यही विस्मृति हमारे देश की दुर्दशा का कारण है। हमे पुन अपने राष्ट्र को उसका भूला हुआ व्यक्तित्व प्रदान करना होगा और यहाँ की जनता को जागृत करना होगा।' अस्तु, कन्याकुमारी मे स्वामीजी ने देश-सेवा का व्रत लिया, उन्होने दीन-हीन, दलित और उपेक्षित भारतीय जनता के कल्याण-साधन का सकल्प किया। यही से स्वामी विवेकानद ने एक देशभक्त सन्यासी का जीवन प्रारभ किया और भारतीय जनता की हित-साधना को अपने योग का एक प्रधान अग बनाया।

अमेरिका-प्रस्थान : विश्वधर्म-सम्मेलन

कन्याकुमारी से स्वामी विवेकानद मद्रास पहुँचे। यहाँ अनेक उत्साही नवयुवक उनके अनुयायी बन गये। उन्होने अमेरिका मे होने वाले विश्वधर्म सम्मेलन मे भाग लेने के लिए स्वामीजी का भेजने के लिए मार्ग-व्यय एकत्र किया। ३१ मई, सन् १८९३ ई० को स्वामीजी ने अमेरिका के लिए प्रस्थान किया क्योकि सम्मेलन ११ सितबर से शिकागो मे आरभ होने वाला था। विश्वधर्म-सम्मेलन मे, अपने प्रथम भाषण द्वारा ही, इन्होने एक आश्चर्यजनक सनसनी पैदा कर दी। इन्होने कहा, 'अमेरिका के भाइयो और बहनो! आपने जिस आत्मीयता के साथ मेरा स्वागत किया है, उससे मेरा हृदय अवर्णनीय आनद से भर गया है। इसके लिए मै आपको, ससार के प्राचीनतम धर्म के सन्यासियो की ओर से धन्यवाद देता हूँ, विभिन्न जातियो और सप्रदायो के करोडो हिंदुओ के नाम

पर धन्यवाद देता हूँ । हम न केवल सहिष्णुता मे विश्वास करते है, वरन् सभी धर्मो को सत्य मानते है । मुझे ऐसे देश का निवासी होने का गर्व है, जिसने विश्व के अनेक धर्मो के अनुयायी अपराधियो एव शरणार्थियो को शरण दिया है ।' उनका यह भाषण सक्षिप्त था, किंतु इसमे इन्होने हिंदू-धर्म द्वारा प्रतिपादित विश्व-सहिष्णुता के सिद्धात का सूत्र बतलाया । इस सम्मेलन मे स्वामीजी ने कई अवसरो पर भाषण दिये और बतलाया, 'पूर्व के देशो को धर्म-शिक्षा की जरूरत नही है, वरन् उन्हे रोटी की आवश्यकता है । वह रोटी चाहते है, किंतु उन्हे दिया जाता है पत्थर । यह भूखे देश का अपमान है कि रोटी के स्थान पर उसे धर्म-शिक्षा दी जाय । यह एक व्यक्ति का अपमान है कि भूखा होने पर उसे भोजन के स्थान पर धर्म-शिक्षा दी जाय । ईसाइयो को न तो हिंदू होना है और न बौद्ध तथा न हिंदुओ और बौद्धो को ईसाई होना है । आज आवश्यकता है परस्पर सभी धर्मो के तत्त्वो को अपने भीतर आत्मसात् करने की एव अपने व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए विकास करने की ।'

शिकागो सम्मेलन मे सफलता प्राप्त होने के कारण स्वामीजी का उत्साह और बढ गया । वह अमेरिका मे तीन वर्ष तक रुके रहे और वहाँ आँधी की तीव्र गति से भ्रमण करते हुए वेदात की शिक्षा का प्रचार किया । प्रत्येक स्थान पर लोगो ने सम्मानपूर्वक इनकी बातो को सुना । वेदात पर दिये गये भाषणो से अमेरिका-निवासियो की आँखे खुल गयी । इसी बीच वह तीन मास के लिए इगलैड गये । इगलैड-निवासियो ने भी इनका सम्मान किया । स्वामीजी अमेरिका मे अपने कार्य को सगठित करना चाहते थे, अत पुन लौट आये और न्यूयॉर्क मे 'वेदात सोसायटी' की स्थापना की । इस सोसायटी द्वारा कर्मयोग, भक्तियोग, और ज्ञानयोग पर उनके दिये हुए भाषणो का पुस्तकाकार प्रकाशन हुआ । इन्होंने अमेरिका के अपने शिष्य सन्यासियो को वेदात तथा योग की शिक्षा दी । अपने कार्य को गतिशील रखने के लिए भारत से सन्यासियो को वहाँ भेजा और कई अमेरिकी शिष्यो को भारत बुलाया । इस प्रकार स्वामीजी ने पूर्व और पश्चिम मे पारस्परिक विचारविनिमय का आधार प्रस्तुत किया ।

इंगलैंड मे

१५ अप्रैल, सन् १८९७ ई० को स्वामीजी ने न्यूयॉर्क से लदन के लिए प्रस्थान किया । लदन पहुँच कर उन्होने अबाधगति से कार्य करना प्रारभ कर दिया । वह वेदात-कक्षाओ मे शिक्षा देते, सार्वजनिक सभाओ मे भाषण देते और क्लबो तथा सोसायटियो मे वेदात का प्रचार करते थे । उनके इगलैड-निवास के समय प्रो० मैक्स-मूलर, भारतीय दर्शन के विशेषज्ञ, ने विशेष रूप से निमत्रण देकर स्वामीजी को अपने घर बुलाया । उन्होने आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के कालेजो, पुस्तकालयो, आदि को इन्हें दिखाया और कहा, 'श्री रामकृष्ण परमहस के शिष्य से प्रतिदिन भेट होने का सौभाग्य नही मिलता ।' इगलैड मे भी

स्वामीजी के अनेक शिष्य बन गये । वेदात के प्रचार मे अधिक परिश्रम करने का परिणाम इनके लिए हानिकर सिद्ध हुआ। इनका स्वास्थ्य गिरने लगा, अत शिष्यो ने विश्राम के लिए इन्हे योरोप भेज दिया और स्वामीजी ने जेनेवा आदि नगरो मे निवास किया । योरोप से इगलैड लौट कर स्वामीजी ने पुन माया-सिद्धात तथा व्यावहारिक वेदान्त पर भाषण दिया । दो मास तक निरतर परिश्रम करने के कारण इनका स्वास्थ्य पुन गिरने लगा, अत वे स्वदेश लौट आये ।

देश मे सगठन और प्रचार-काय

जब स्वामीजी इगलैड से भारत लौटे, तब समस्त देशवासियो ने एक स्वर से इनका हार्दिक स्वागत किया । विदेशो मे मातृभूमि के सम्मान के लिए इन्होने जो गौरवपूर्ण कार्य किये थे, उनसे देशवासियो के मन मे इनके प्रति अपार श्रद्धा की भावना उत्पन्न हो गयी थी । स्वामीजी ने हिमालय से लेकर लका तक यात्रा की, स्थान-स्थान पर वेदात, लोक-सेवा और नारी-सम्मान के पक्ष मे व्याख्यान किया । इस यात्रा मे राजाओ महाराजाओं, सभा-समितियो ने उनके कार्य मे योग दिया और अत मे सन् १८९७ ई० मे जनता की सेवा के लिए इन्होने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की । स्वामीजी के अन्य गुरुभाई सन्यासियो ने इसका विरोध किया क्योकि उनका विश्वास था कि वेदात द्वारा व्यक्तिगत मुक्ति और आत्मबोध ही सभव हैं । स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयो को रामकृष्ण के मानवतावादी सदेश से परिचित कराया और लोकसेवा के कार्य मे उन्हे नियोजित किया ।

इस समय स्वामीजी को यह आभासित होने लगा कि उन्हे बहुत दिनो तक ससार मे नही रहना है । ११ अगस्त, सन् १८९७ ई० को बरेली मे उन्होने स्वामी अच्युतानन्द से कहा, 'मुझे केवल पॉच-छ वर्ष इस ससार मे रहना है ।' किंतु इतना जानने पर भी उन्होने अपने कार्य मे तनिक भी शिथिलता न आने दी । वह पजाब, राजपूताना तथा काश्मीर की यात्रा करते हुए हिमालय के पर्वतीय प्रदेशो से होकर अमरनाथ गुफा तक गये । अमरनाथ की यात्रा का स्वामीजी के आध्यात्मिक जीवन मे वही महत्व था, जो श्री रामकृष्ण से मिलने का था । अमरनाथ पहुँच कर उन्होने हिम-शीतल जल मे स्नान किया और मात्र कौपीन धारण करके अमरनाथ महादेव के मदिर मे प्रविष्ट हुए । मदिर मे पहुँच कर उन्हे एक दिव्य अनुभूति प्राप्त हुई । कई दिनो तक वह शिव का नाम-स्मरण करते रहे । अमरनाथ का वर्णन करते हुए उन्होने अपने एक शिष्य को बताया, 'जबसे मैं अमरनाथ की यात्रा करके लौटा हूँ, तभी से शिव मेरे मानस मे निवास करते है ।'

अक्तूबर मास मे स्वामीजी अमरनाथ की यात्रा करके वेल्लूर वापस आये । पर्वतीय यात्रा के कारण उनका शरीर शिथिल हो गया था । इस समय वेल्लूर मठ का निर्माण हो

रहा था। दुर्बल होते हुए भी दिसबर मे, मठ के उद्घाटनोत्सव मे उन्होने भाग लिया। सन् १८९९ ई० के आरभ से यह मठ रामकृष्ण के अनुयायियो का स्थायो केन्द्र बन गया। इस मठ के निर्माण से स्वामीजी का स्वप्न पूरा हो गया। थोडे दिनो बाद, हिमालय मे अल्मोडे से ५० मील की दूरी पर एक दूसरे मठ 'अद्वैत-आश्रम' का निर्माण हुआ। इन मठो के निर्माण से स्वामीजी को हार्दिक सतोष हुआ क्योकि इन्ही के द्वारा वह वेदात तथा लोक-सेवा के प्रचार की कल्पना करते थे।

अमेरिका के लिए पुनः प्रस्थान

वेल्लूर मठ तथा अद्वैत आश्रम के निर्माण-कार्यों से निश्चित होकर स्वामीजी ने एक बार पुन अमेरिका जाने की इच्छा व्यक्त की क्योकि अमेरिका मे वेदात-प्रचार का जो कार्य उन्होने आरभ किया था, उसका निरीक्षण करना चाहते थे। सन् १८९९ ई० के जून मास मे उन्होने स्वामी तुरीयानद तथा सिस्टर निवेदिता के साथ अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। भारत से इगलैड पहुँच कर स्वामीजी ने पद्रह दिनो तक लदन मे निवास किया और फिर वहाँ से अमेरिका पहुँचे। अमेरिका पहुँच कर स्वामीजी ने तीव्र गति से प्रचार एव सगठन का कार्य आरभ किया, यद्यपि इनका स्वास्थ्य ठीक नही था। वहाँ उन्होने स्वामी अभेदनदा से कहा, 'हमारे दिन पूरे हो आये है। इस रक्त और मास के पिंजडे मे अधिक दिनो तक नही रहना है।' इन दिनो सैनफ्रासिस्को एव केलीफोर्निया मे उन्होने राजयोग तथा साधना की शिक्षा दी और वेदात पर प्रवचन किया। इस बार स्वामी जी लगभग एक वर्ष तक अमेरिका मे रहे।

निर्वाण

दिसबर, सन् १९०० ई० मे स्वामीजी अमेरिका से भारत लौट आये। यद्यपि उनका स्वास्थ्य ठीक नही था, तथापि वह घूम-घूम कर भाषण देते रहे, मठ के कार्यों का सचालन तथा ब्रह्मचारियो की कक्षाएँ लेते रहे। इस प्रकार अपने व्यस्त जीवन मे सारे कार्यों को सपन्न करते हुए उन्तालीस वर्ष की अल्पायु मे स्वामीजी ने ४ जुलाई, सन् १९०२ ई० को निर्वाण प्राप्त किया।

जीवन-दर्शन

श्री रामकृष्ण परमहस ने स्वय अपने जीवन मे वेदात के सत्य का साक्षात्कार किया था। उन्होंने 'परमात्मा आत्मा में और आत्मा परमात्मा मे है,' इस सत्य की अनुभूति की और इसी परम सत्य की अनुभूति को उन्होने अपने प्रिय शिष्य विवेकानद को प्रदान किया। स्वामी विवेकानद की महानता इस बात मे है कि उन्होने एक पडित की भाँति

नही, वरन् स्वानुभवी अधिकारी की भाँति अपने अनुभूत ज्ञान की शिक्षा दी क्योकि सत्य के साक्षात्कार की गहराई तक वह पहुँचे हुए थे। इस गहरे तल से, वह रामानुज की भाँति केवल सत्य के रहस्यो को, जातिच्युत, कुजात और विदेशियो को अवगत कराने के लिए वापस आये।

यद्यपि स्वामी विवेकानद भारत के रत्नभडार, वेदो और उपनिषदो के रहस्योद्घाटनकर्त्ता और भाष्यकार के रूप मे मान्य है, तथापि यह कभी भी नही भूलना चाहिए कि स्वामी विवेकानद ने ही, अद्वैतदर्शन की सर्वश्रेष्ठता की घोषणा करते हुए, भारतीय दर्शन मे द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत-सिद्धातो को उस एक विकास-मार्ग का सोपान बताया, जिसका अतिम लक्ष्य अद्वैत की अनुभूति है। स्वामी विवेकानद के अनुसार वेदात की प्रमुख विशेषता यह है कि 'वह पूर्णतया निर्वैयक्तिक (निरपेक्ष) है। इसके उद्भव का श्रेय किसी एक व्यक्ति या एक महापुरुष को नही है। इसके केन्द्र मे किसी एक व्यक्ति की प्रमुखता नही है। फिर भी यह उन दर्शनो के विरुद्ध कुछ नही कहता, जिनकी रचना व्यक्ति-विशेष को केन्द्र मान कर हुई है। वास्तव मे, वेदात-दर्शन मे उन सभी सप्रदायो, साधना-मार्गो का अतर्भाव हो गया है, जो भारत मे विद्यमान है।' इस प्रकार वेदात-दर्शन की कई व्याख्याएँ हुई है इनका आरभ द्वैतवादी दर्शन से हुआ है और पर्यवसान अद्वैत मे। अत स्वामी विवेकानद का कथन है कि द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत-वेदात के ये विभिन्न रूप परस्पर विरोधी नही है। द्वैत और विशिष्टाद्वैत अपने आप मे पूर्ण दर्शन नही है, वरन् वे उच्च से उच्चतर और उच्चतम प्रगतिशील-बोध (Progressive realization) के क्रमिक विकास मे, आदर्श तक पहुँचने के सोपान है, जहाँ पहुँच कर सभी वस्तुएँ उस परम एकता मे लीन हो जाती है, जिसका कि वर्णन अद्वैत-दर्शन मे है। यह अद्वैत उस महान और सहज सिद्धात का अग है, जिसके अनुसार एक या अनेक मे भेद नही, वरन् वे उसी परम सत्य के रूप है। एकता और अनेकता का बोध एक व्यक्ति के जीवन मे भिन्न समय पर और भिन्न मनोवृत्तियो पर आधारित है। इस तथ्य को श्री रामकृष्ण ने इस प्रकार व्यक्त किया है 'ईश्वर निराकार भी है और साकार भी। उसमे साकारता और निराकारता दोनो अनुस्यूत है।'

स्वामी विवेकानद को इस बात का श्रेय है कि उन्होने वेदात-दर्शन को व्यावहारिक रूप दिया। यदि 'एक और अनेक' एक ही है, तो केवल नाना प्रकार की पूजा-विधि ही नही वरन् सभी प्रकार के कार्य, सघर्ष करने एव रचना करने की सभी विधियाँ साक्षात्कार के साधन है, अत धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष कार्यों मे कोई भेद नही। श्रम करना ही प्रार्थना करना है। विजय प्राप्त करना ही त्याग है। यह जीवन स्वय ही धर्म है, इसे धारण करने मे उनका उतना ही दृढ विश्वास है, जितना उसके त्याग या उपेक्षा मे।

इसी अनुभूति ने विवेकानद को कर्म का महान उपदेष्टा बनाया। यह कर्म ज्ञान और भक्ति से विरक्त नही है, वरन् उसके माध्यम से ज्ञान और भक्ति अभिव्यक्ति होते है। उनके विचार मे जिस प्रकार भिक्षुओ के विहार या मदिर के द्वार ईश्वर से मिलने के उपयुक्त स्थान है, उसी प्रकार कार्य-कौशल, पठन और कृषिक्षेत्र भी है। उनका कहना है कि मानव-सेवा और ईश्वर-सेवा (पूजा), मनुष्यत्व और धर्म, सत्यनिष्ठता और आध्यात्मिकता मे कोई भेद नही है। उनके सभी शब्द, एक दृष्टिकोण से, उनकी इसी मूल आस्था से ओतप्रोत है। उन्होने एक बार कहा था कि कला, विज्ञान और धर्म एक ही परम सत्य को व्यक्त करने के तीन विभिन्न साधन है, किंतु इसे समझने के लिए हमे प्रथम अद्वैत-वाद के सिद्धात को जान लेना होगा।

हमने यह देखा कि वेदात के तीन प्रधान प्रकार है, किंतु इस भेद के होते हुए भी वे सभी ईश्वर मे विश्वास करते है। वे तीनो यह भी विश्वास करते है कि वेद ईश्वर-वाक्य है (ठीक उसी रूप मे नही जिस रूप मे मुसलमान कुरान को या ईसाई बाइबिल को मानते है)। उन तीनो का यह विश्वास बडे ही अद्‌भुत ढग का है, उनके विचार मे वेद ईश्वरीय ज्ञान की अभिव्यक्ति है। क्योकि ईश्वर अपौरुषेय है, अनादि है और अपने अनादि रूप मे यह ज्ञान ईश्वर के साथ है अत' वेद अनादि (अपौरुषेय) है। सृष्टि-चक्र के विषय मे भी, इन तीनो के विश्वासो मे समानता पायी जाती है। सृष्टि-चक्र के सबध मे उन तीनो के विचार इस प्रकार है—ब्रह्माड के सभी पदार्थ एक ही आदिपदार्थ से निकले है, जिसे आकाश कहते है। और सब शक्तियाँ गुरुत्वाकर्षण और विकर्षण आदि, एक ही आदिशक्ति से निकली है जिसे प्राण कहते है। प्राण के आकाश मे क्रियाशील होने से ब्रह्माड की रचना होती है। सृष्टि-चक्र के आरभ मे आकाश गतिशून्य, अव्यक्त रहता है, तब प्राण अधिकाधिक क्रियाशील होता है और आकाश से स्थूल से स्थूलतम रूपो वनस्पति, पशु, मनुष्य, तारे आदि की रचना करता है। अनत काल तक यह विकास-प्रक्रिया चलती रहती है और तब पुन प्रत्यावर्त्तन आरभ होता है। सभी पदार्थ सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते हुए आकाश और प्राण मे मिल जाते है। फिर दूसरा चक्र आरभ होता है। आकाश और प्राण के परे भी एक सत्ता है, जिसे महत् कहते है। आकाश और प्राण इसी मे विलीन हो जाते है। यह महत् विश्वमन है। यह समस्त ब्रह्माड मे व्याप्त विचार-शक्ति है, जिससे प्राण और आकाश उत्पन्न होते है। विचार उस सत्ता की सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति है, जो आकाश और प्राण से भी सूक्ष्म है। यही विचार अपने को दो रूपो (प्राण और आकाश) मे विभक्त करता है। सृष्टि के आदि मे भी यह विश्व-मन विद्यमान रहता है, यही अपने को रूपातरित करके आकाश और प्राण के रूप मे परिवर्त्तित करता है और इन्ही दोनो के सयोग से सपूर्ण ब्रह्माड की उत्पत्ति होती है।

ब्रह्म और माया

हमने देखा कि स्वामी विवेकानद ने तीनो वेदात-सप्रदायो को जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग मे सोपान के रूप मे माना है। इस मार्ग का अतिम सोपान अद्वैत है और यही जीवन का चरम लक्ष्य है, जहाँ पहुँच कर आत्मा और परमात्मा का पार्थक्य समाप्त हो जाता है। अत दार्शनिक समस्याओ—ईश्वर का स्वरूप, आत्मा का स्वरूप आदि का समाधान उन्होने तीनो दृष्टिकोणो से किया है।

ईश्वर

पहला सप्रदाय द्वैतवादी सप्रदाय है। द्वैतवादियो का विश्वास है कि इस सृष्टि का कर्त्ता और शासक ईश्वर है और वह शाश्वत रूप मे प्रकृति और मानव-आत्मा से पृथक् है। ईश्वर, प्रकृति और सभी आत्माएँ शाश्वत है। प्रकृति और आत्मा व्यक्त होते एव परिवर्त्तित होते है, किंतु ईश्वर सदैव तद्वत ही रहता है। द्वैतवादियो के अनुसार ईश्वर व्यक्ति-रूप है, किंतु मनुष्य की भाँति वह शरीरवान नही है, हाँ, उसमे मनुष्य के गुण, दया, न्याय, शक्ति आदि है। पदार्थो के बिना वह सृष्टि नही कर सकता है और प्रकृति वह तत्व है जिससे वह सपूर्ण विश्व की रचना करता है।

भारत के बहुसख्यक लोग द्वैतवादी है। स्वामी विवेकानद के अनुसार ससार के नव्वे प्रतिशत मनुष्य, जो किसी भी धर्म मे विश्वास करते है, द्वैतवादी है। योरप और एशिया के सभी धर्म द्वैतवादी है। उन्हे द्वैतवादी बनना पडा है क्योकि सामान्य मनुष्य उस वस्तु के विषय मे सोच नही सकता है, जो साकार या रूप-रग-युक्त न हो।

सभी द्वैतवादी सिद्धान्तो के विषय मे पहली कठिनाई इस प्रश्न का उत्तर देना है कि यह कैसे सभव है कि न्यायपरायण, दयालु, अनादि गुणो के भाडार ईश्वर के शासन मे, इस ससार मे, इतनी बुराइयाँ हो। यह प्रश्न सभी द्वैतवादी धर्मो मे उठा है किंतु हिंदू, धर्म में इस प्रश्न को सुलझाने के लिए 'शैतान' की कल्पना नही की गयी है। हिंदू-धर्म मे इस दोष का भागी स्वय मनुष्य ही माना गया है और ऐसा करना सरल भी था। कारण यह है कि हिंदू यह विश्वास नही करते कि आत्माओ की सृष्टि शून्य से हुई है। उनकी मान्यता है कि जैसा हम बोते है वैसा ही काटते है, मनुष्य अपने भविष्य का निर्माण स्वय करता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन आगामी कल के जीवन का निर्माण कर रहा है। यदि हम अपने कर्मो द्वारा भविष्य का निर्माण कर सकते है, तो यही नियम अतीत के विषय मे भी क्यो नही व्यवहार्य होगा अर्थात् जिसने जैसा कर्म किया, उसी का फल वह अपने वर्त्तमान जीवन मे भोग रहा है।

द्वैतवादियो का दूसरा विचित्र सिद्धात यह है कि प्रत्येक आत्मा को अतत मुक्ति प्राप्त करना है, इस गुणो और दुर्गुणो से भरे हुए ससार से परे जाना है। वे एक ऐसे स्थान मे विश्वास करते है, जो इस ससार से परे है, जहाँ शाश्वत आनद है, जहाँ केवल

शिव का ही निवास है, जहाँ पहुँच कर आत्मा निरतर ईश्वर के सपर्क मे रहती है और जहाँ पहुँचकर वह सदा के लिए ईश्वरीय आनद का उपभोग करती है। उनका विश्वास है कि नीचातिनीच से लेकर श्रेष्ठातिश्रेष्ठ तक, सभा प्राणियो को देर या सबेर, एक न एक दिन उस लोक की प्राप्ति करनी है, जहाँ फिर उसे किसी प्रकार का दु ख न होगा। किंतु इस ससार का अत कभी नही होगा और वह सृष्टि क्रम के कला के चक्र मे घूमता ही रहेगा और फिर आत्माएँ भी अनत है, जिनका कि इस ससार से निस्तार होना है।

प्रत्येक आत्मा के आकर्षण का केन्द्र ईश्वर ही है। द्वैतवादियो का कथन है कि मिट्टी मे सनी हुई सुई चुबक की ओर आकर्षित नही होगी, किंतु ज्योही उस पर से मिट्टी को हटा दिया जायगा, वह चुबक से आकर्षित होकर उसकी ओर खिचेगी। ईश्वर चुबक है, मानव-आत्मा सुई की भाँति है, जो अपने दुष्कर्म-रूपी कीचड से आवृत्त है। ज्योही यह आत्मा शुद्ध हो जायगी, यह अपने स्वाभाविक आकर्षण के गुण के वश होकर ईश्वर की ओर आकर्षित होगी और फिर सदा के लिए उसका सान्निध्य प्राप्त कर लेगी, किंतु शाश्वत रूप मे उससे पृथक् रहेगी। पूर्णता-प्राप्त आत्मा अपनी इच्छा के अनुसार कोई भी आकार ग्रहण कर सकती है। ऐसी दशा प्राप्त कर लेने पर आत्मा महान शक्ति-शालिनी हो जाती है, सिवाय इसके कि न तो यह सृष्टि रचना कर सकती है और न सृष्टि के कार्यों की व्यवस्था, क्योकि ये ईश्वर के कार्य है। किंतु पूर्णता प्राप्त आत्मा आनदपूर्ण हो जाती है और सदा के लिए ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त कर लेती है।

वास्तविक वेदात-दर्शन का आरभ विशिष्टाद्वैतवाद से होता है। विशिष्टाद्वैतवादियो का कथन है कि कार्य कारण से कभी भिन्न नही होता। कार्य और कुछ नही, वरन् कारण का ही पुनरुत्पादित रूप है। यदि ईश्वर कारण है और विश्व कार्य है, तो इस विश्व को स्वय ईश्वर रूप होना चाहिए। वे दृढता के साथ कहते है कि ईश्वर इस विश्व का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनो है। वह स्वय ही इस विश्व का स्रष्टा और उपादान है, जिससे सपूर्ण प्रकृति की अभिव्यक्ति हुई है। अत इस सप्रदाय के अनुसार यह विश्व स्वय ईश्वर है, वही विश्व का उपादान है। वेदो से हमे ज्ञात होता है कि जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकडी) अपने शरीर के भीतर निहित द्रव पदार्थ से ही अपने शरीर के चारो ओर ततुओ का जाला बुनती है, उसी प्रकार यह सपूर्ण विश्व उस ईश्वर से उत्पन्न हुआ है।

यदि कारण का ही पुनरुत्पादित, परिवर्त्तित रूप कार्य है, तो प्रश्न उठता है कि यह भौतिक, जड एव अचेतन विश्व ईश्वर से कैसे उत्पन्न होता है, जो कि स्वय भौतिक न होकर शाश्वत रूप से चैतन्य है। यह कैसे सभव है कि शुद्ध एव पूर्ण ईश्वररूपी कारण का कार्य उससे पूर्णतया भिन्न हो ? इस विषय मे विशिष्टाद्वैतवादियो का कथन है कि ईश्वर , प्रकृति और आत्मा ये तीनो सत्ताएँ एक है। ईश्वर आत्मा है और आत्माएँ और क्षितप्र मानो उसके शरीर है। जिस प्रकार हमारा शरीर है और उसके भीतर हमारी

आत्मा का निवास है, उसी प्रकार सारा विश्व और सारी आत्माएँ ब्रह्म का शरीर है, वह आत्माओ की भी आत्मा है। इस प्रकार ईश्वर विश्व का उपादान कारण भी है। शरीर परिवर्तित हो सकता है, तरुण या वृद्ध, मजबूत या कमजोर हो सकता है, किनु आत्मा इससे प्रभावित नही होती। यह वह शाश्वत सत्ता है, जो शरीर के माध्यम से अपने को व्यक्त करती है। शरीर जन्म लेता है और मरता है, किंतु आत्मा अपरिवर्त्तनशील है। यह सपूर्ण विश्व ईश्वर का शरीर है और इसी अर्थ मे वह ईश्वर रूप है, किंतु विश्व मे होने वाले परिवर्त्तनो का प्रभाव ईश्वर पर नही पडता। इसी उपादान से वह विश्व की रचना करता है और प्रत्येक कल्प के समाप्त होने पर यह शरीर-रूपी विश्व सूक्ष्मतर रूप मे परिणित एव सकुचित हो जाता है। दूसरे सृष्टि-चक्र के आरभ होने पर यही सूक्ष्म उपादान पुन विस्तृत हो जाता है और नये ससार के रूप मे विकसित होता है।

द्वैतवादी और विशिष्टाद्वैतवादी दोनो यह स्वीकार करते है कि आत्मा प्रकृत्या शुद्ध है, किंतु अपने ही कर्मों के कारण यह विकारयुक्त हो जाती है। इस क्रिया को विशिष्टाद्वैतवादियो ने द्वैतवादियो की अपेक्षा और सुदर शब्दो मे इस प्रकार कहा है कि आत्मा की शुद्धता और पूर्णता कर्मो के कारण सकुचित हो जाती है और अब हमारा प्रयास यही है कि हम आत्मा की स्वाभाविक चैतन्यता, शुद्धता और शक्ति को पुन प्राप्त एव व्यक्त करे। जीवात्माएँ गुणो का समूह है, किंतु सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता का गुण उनमे नही है। प्रत्येक दुष्कर्म आत्मा की वास्तविक प्रकृति को सकुचित करता है और प्रत्येक सत्कर्म से आत्मा का विस्तार होता है। पर सभी आत्माए ईश्वर का अश है। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से असख्य चिनगारियाँ उसी गुणवाली निकलती है, उसी प्रकार अनादि सत्ता या ईश्वर से आत्माओ की उत्पत्ति हुई है। प्रत्येक आत्मा का उद्देश्य उसी ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना है। विशिष्टाद्वैतवादियो का ईश्वर भी व्यक्तित्वपूर्ण है, अनेक आनदपूर्ण गुणो का भडार है, केवल वही विश्व की सारी वस्तुओ मे प्रविष्ट है। वह सर्वत्र और सभी वस्तुओ मे व्याप्त या सर्वांतर्यामी है। और जब धर्मग्रथ यह कहते है कि ईश्वर सब कुछ है, तो इसका अर्थ यही होता है कि ईश्वर सर्वव्यापी है, वह सब मे प्रविष्ट है और सब कुछ ईश्वर मे प्रविष्ट है। इसका अर्थ यह नही है कि ईश्वर दीवार है, वरन् यह कि ईश्वर दीवार मे भी व्याप्त है। ससार मे एक भी अणु, एक भी कण ऐसा नही है जहाँ ईश्वर न हो। आत्माएँ सीमाबद्ध है, वे सर्वत्र वर्त्तमान नही है। जब आत्मा की शक्ति का विस्तार होता है और वह पूर्ण हो जाती है, तब वह जन्म-मरण के बधन से मुक्त हो जाती है और निरतर ईश्वर के सान्निध्य मे रहती है।

वेदात-दर्शन का अतिम सोपान 'अद्वैत' है। 'यह वेदात—दर्शन और धर्म का सुदरतम पुष्प है'। अद्वैत की स्थिति मे पहुँच कर मानव-चेतना की उच्चतम अभिव्यक्ति होती है और मानव-चेतना उस रहस्य के भी परे पहुँच जाती है, जो अभेद्य प्रतीत होता है।

'यह अद्वैतवादी वेदात इतना निगूढ और उन्नत है कि सामान्य जनो का धर्म नही हो सकता है। यहाँ तक कि अपनी जन्मभूमि भारत मे भी, जहाँ इसे तीन हजार वर्षो से प्रधानता प्राप्त रही है, यह सामान्य जनता मे व्याप्त नही हो सका।'† स्वामी विवेकानद का कथन है कि इसका कारण यह है कि हम दुर्बल हो गये है क्योकि हम दूसरे का सहारा लेना चाहते है। अद्वैतवादी यह घोषणा करते है कि यदि ईश्वर है, तो उसे विश्व का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनो होना चाहिए। वह केवल सृष्टिकर्त्ता ही नही है, वरन् सृष्टि भी है। वह स्वय ही विश्व है। यह कैसे हो सकता है ? शाश्वत सत्, क्षणिक एव नाशवान् रूप मे कैसे परिवर्त्तित हो सकता है ? इस सबध मे अद्वैतवादियो का एक सिद्धात है जिसे विवर्त्तवाद कहते है। द्वैतवाद और साख्य के अनुसार यह विश्व आदिप्रकृति का विकास है। कुछ अद्वैतवादियो और कुछ द्वैतवादियो के अनुसार यह सपूर्ण विश्व ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। शकराचार्य के अनुयायी अद्वैतवादियो के अनुसार सपूर्ण विश्व ब्रह्म का प्रातिभासिक विकास-मात्र (Apparent evolution) है। ब्रह्म इस विश्व का उपादान कारण है, किंतु वास्तविक रूप मे नही, वरन् अध्यास रूप मे। इस कथन को सिद्ध करने के लिए रज्जु और सर्प का प्रसिद्ध उदाहरण दिया जाता है। रज्जु मे जो सर्प दिखायी पडता है, रज्जु मे जो सर्प की प्रतीति होती है, उसका अस्तित्व होता है, किंतु यह सत्य नही होता क्योकि रज्जु सर्प मे वास्तविक रूप मे परिवर्त्तित नही होती। इसी भाँति यह सपूर्ण विश्व अपनी सत्ता मे ईश्वर रूप है। यह शाश्वत है किंतु इसमे जो भी परिवर्त्तन दिखायी पडते है, वे अध्यास-मात्र है। इसके तीन कारण है—देश, काल और निमित्त, जिन्हे उच्चतर मनोवैज्ञानिक सामान्यीकरण के अनुसार नाम और रूप भी कह सकते है। इसी नाम और रूप की भिन्नता के कारण एक वस्तु से दूसरी वस्तु मे भेद किया जाता है। ये नाम और रूप ही भेद के कारण है। तात्त्विक दृष्टि से उनमे कोई भेद नही होता। वेदातवादी कहते है कि रज्जु मे सर्प की प्रतीति अध्यास के कारण होती है। जब अध्यास समाप्त हो जाता है, तो सर्प की प्रतीति समाप्त हो जाती है। इसी अध्यास के कारण मनुष्य ईश्वर के प्रतिभास रूप जगत को देखता है, किंतु ईश्वर को नही। जब वह ईश्वर का दर्शन कर लेता है, तब उसकी दृष्टि से यह व्यावहारिक जगत् ओझल हो जाता है। इस भेद का कारण अविद्या या माया है, यही अध्यास की सृष्टि करती है, जिसके कारण एक ब्रह्म की सत्ता खड-खड रूप मे दिखायी पडती है। माया पूर्णतया शून्य और असत् नही है। माया का वर्णन न सत् कहकर हो सकता है और न असत् कहकर। माया सत् इसलिए नही है, क्योकि सत् तो केवल वही शाश्वत ब्रह्म है, और असत् इसलिए नही है क्योकि यदि असत् होती तो इस व्यावहारिक जगत् की उत्पत्ति किस प्रकार करती। अत वेदातियो ने उसे अनिर्वचनीय कहा है। माया ही विश्व की रचना का वास्तविक कारण है। ब्रह्म विश्व की रचना के लिए उपादान प्रस्तुत करता है और माया उसे नाम और रूप प्रदान करती है।

अद्वैतवाद मे व्यक्तिगत आत्मा का कोई स्थान नही है। अद्वैतवादियो का कथन है कि व्यक्तिगत आत्माओ की सृष्टि माया द्वारा हुई है। अत वास्तव मे आत्माओ की कोई अपनी सत्ता नही है। पर जब समस्त विश्व मे एक ही सत्ता है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि 'मै हूँ' और 'तुम भी हो'। अद्वैतवाद के अनुसार हम सभी प्राणी एक है। पार्थक्य और बुराई का कारण द्वैत-भाव है। जब मनुष्य अपने को विश्व के कर्ता, अनादि सत्ता के साथ देखने लगता है अर्थात् यह समझने लगता है कि वह उसका अभिन्न अग है, तो उसकी सारी पार्थक्य की भावना का नाश हो जाता है, सारे भय और दु ख नष्ट हो जाते है। 'पार्थक्य मे लघुता है और एकत्व मे 'महानता'। अद्वैत की महान स्थिति मे पहुँच कर हम उस ब्रह्म का साक्षात्कार करते है, जो पूर्ण आनद स्वरूप है, 'मै' और 'तुम' का द्वैत-भाव, जो कि ससार के सभी दु खो का जन्मदाता है, जिसके कारण ससार मे वीभत्स दृश्य दृष्टिगोचर होते है, इस स्थिति मे अपने आप शात हो जाता है और सभी प्राणियो के साथ एकात्म्य का बोध होने लगता है, अत इस प्रकार ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है और परमानद की प्राप्ति होती है।

भारतीय धार्मिक विचारधारा के तीन सोपानो—द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद और अद्वैतवाद की चर्चा की जा चुकी है। प्रथम मे हमने परमात्मा के प्रकृति और आत्माओ से परे अस्तित्व को देखा, द्वितीय मे परमात्मा को ससार और आत्माओ मे व्याप्त पाया और अद्वैत मे तीनो का एकीकरण। स्वामी विवेकानद के अनुसार यही वेदो का अतिम शब्द है।

स्वामी विवेकानद का कथन है कि जैसी स्थिति समाज की वर्त्तमान समय मे है उसमे ये तीनो सोपान आवश्यक है। ये एक दूसरे को अस्वीकार नही करते, वरन् परस्पर पूरक है। अद्वैतवादी या विशिष्टाद्वैतवादी द्वैतवाद को गलत नही बताते, उसका भी दृष्टिकोण सही मानते है, कितु उसे निम्नस्तरीय स्वीकार करते है। वे कहते है कि 'द्वैतवाद भी सत्य की ओर गतिशील है, सत्य के पथ पर है। अत सभी व्यक्तियो को अपने दृष्टिकोण से इस विश्व को देखने दो। किसी को पीडा मत दो और न किसी की स्थिति को अस्वीकार करो। यदि हो सके तो उसी स्तर पर उसकी सहायता करो और उसे उच्च स्तर तक पहुँचाओ, अन्यथा न उसे कष्ट दो और न उसे नष्ट करो।' कारण, एक न एक दिन सभी सत्य तक स्वयमेव पहुँच जायेगे। यहाँ पर विवेकानद सृष्टि मे विकास के चेतन और अचेतन क्रम की ओर सकेत करते है। उनका कहना है कि सभी प्राणियो का विकास हो रहा है। 'सहस्रो व्यक्तियो मे से कुछ व्यक्ति इस विचार के प्रति जागरूक है कि वे एक दिन मुक्ति प्राप्त करेगे। अगणित मनुष्य भौतिक पदार्थो से सतुष्ट है, कितु कुछ ऐसे भी है, जो सचेत है और यहाँ से ऊब कर अपनी पूर्णावस्था (अद्वैत) की पुन प्राप्ति करना चाहते है। वे चैतन्य रूप से सघर्ष कर रहे है, जबकि शेष व्यक्ति यही अनजाने मे कर रहे है।'

मनुष्य का वास्तविक स्वभाव

अद्वैत-दर्शन के अनुसार विश्व मे केवल एक ही वस्तु सत् है और वह है ब्रह्म। अन्य सभी वस्तुएँ अवास्तविक और माया की शक्ति द्वारा ब्रह्म से उत्पादित है। उस ब्रह्म की पुन प्राप्ति ही हमारा उद्देश्य है। हममे से प्रत्येक व्यक्ति ब्रह्म है, जिसमे माया मिली हुई है। माया ही मनुष्य के वास्तविक स्वभाव को छिपाये हुए है, किन्तु माया के कारण मनुष्य का वास्तविक स्वभाव परिवर्त्तित नही होता। छोटे से छोटे कृमि से लेकर श्रेष्ठ मानव-प्राणी तक मे यही दैवी स्वभाव विद्यमान है। शाश्वत या असीम अनेक नही हो सकता। यदि आत्मा असीम है, तो वह एक होगी। अपनो और दूसरे के आत्मा को पृथक् पृथक् रूप मे देखना, अर्थात् यह मेरी आत्मा है और यह तुम्हारी, सत्य नही है। अत सत्पुरुष एक है, असीम है, सर्वव्यापक आत्मा है और मनुष्य कितना ही महान क्यो न हो, उस सत्पुरुष (ईश्वर) की छाया-मात्र है। यह सत्पुरुष (आत्मा) कार्य और कारण से परे है, देश और काल द्वारा बँधा नही है, अत वह परममुक्त है। न वह कभी परतंत्र था और न कभी होगा। उसकी छाया-रूप प्रत्यक्ष मनुष्य देश, काल और निमित्त की सीमा मे आबद्ध है। कुछ दार्शनिको का कहना है वह छाया-रूप पुरुष आबद्ध दिखायी पडता है, किंतु वास्तव मे वह आबद्ध नही है। यही हमारी आत्मा की वास्तविकता है कि वह सर्वव्यापी है, आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाली और असीम है। प्रत्येक आत्मा असीम है, अत उसके जन्म और मरण का प्रश्न ही नही उठता। फिर यह असीम सत्तापूर्ण, अपरिवर्त्तनशील और गतिहीन है, क्योकि परिवर्त्तन केवल सीमित के ही अदर सभव है और गति सदैव सापेक्ष्य है। इस विश्व का कोई भी कण अन्य कणो की सापेक्ष्यता मे ही परिवर्त्तित हो सकता है, किंतु यदि सारे विश्व को एक समझा जाय, यदि इस विश्व के अतिरिक्त कुछ और है ही नही, तब किसकी सापेक्ष्यता मे वह गति करेगा। हमारी वास्तविकता विश्वव्यापकता मे है, सीमाबद्धता मे नही।

व्यक्तित्व के सबध मे जनसाधारण की धारणा बडी भ्रमपूर्ण है। व्यक्तित्व क्या है? व्यक्तित्व का निवास शरीर या मन मे नही है। बाल्यावस्था मे बालक के मूँछ नही होती, किंतु जब वह बडा हो जाता है, तो उसके मूँछ-दाढी निकल आती है। अत यदि व्यक्तित्व को शरीर-सापेक्ष्य मान लिया जाय, तो कहना होगा कि उस बालक का व्यक्तित्व समाप्त हो गया। इसी प्रकार यदि व्यक्तित्व को शरीर-सापेक्ष्य मान लिया जाय, तो हमारी एक आँख या एक हाथ के न रहने पर हमारे व्यक्तित्व को समाप्त हुआ समझा जायेगा। इस कल्पना का परिणाम यह होगा कि एक शराबी को शराब नही छोडना चाहिए क्योकि इससे उसके व्यक्तित्व का लोप हो जायगा, पर वास्तविकता यह है कि किसी मनुष्य को अपनी आदतो को छोडने से डरना नही चाहिए क्योकि इससे उसके व्यक्तित्व पर कोई प्रभाव नही पड़ता। इसी प्रकार व्यक्तित्व का निवास स्मृति में नही है। कल्पना

कीजिए कि सिर मे एक आघात के कारण अमुक व्यति को स्मरणशक्ति लुप्त हो जाती है और वह अपने विगत जीवन के बारे मे भूल जाता है, तब क्या कहा जायगा कि अमुक व्यक्ति का व्यक्तित्व समाप्त हो गया ? व्यक्तित्व के विषय मे यह बडा ही सकुचित विचार है । हम अभी तक व्यक्ति नही है, हम केवल व्यक्तित्व की प्राप्ति के लिए सघर्ष कर रहे है । हम असीम व्यक्तित्व की ओर बढ रहे है और यही मनुष्य का वास्तविक स्वभाव है ।

इसी उपर्युक्त धारणा से अद्वैत-नैतिकता का सिद्धात भी प्राप्त होता है, जिसे एक शब्द मे कहा गया है, 'आत्म-त्याग' । अद्वैतवादी कहते है कि तुच्छ निजीकृत आत्मा (Little personalized self) ही हमारे सारे दु खो का कारण है। यह निजीकृत आत्मा ही हममे अन्य प्राणियो से अपने को पृथक् करने की भावना उत्पन्न करती है, जिससे घृणा, द्वेष, दु ख, सघर्ष तथा अन्य बुराइयाँ उत्पन्न होती है । यदि इसका विचार छोड दिया जाय, तो सभी सघर्ष शात हो जायेगे, सभी दु ख समाप्त हो जायेगे, अत इसका त्याग करना होगा । हममे सदैव अन्य प्राणियो के लिए, यहाँ तक कि छोटे से छोटे जीव के लिए, अपने जीवन को उत्सर्ग करने के लिए भी प्रस्तुत रहना चाहिए । जब कोई व्यक्ति एक छोटे मे छोटे कीडे के लिए भी अपने जीवन का त्याग करने को उद्यत हो जाता है, तब वह पूर्णता को प्राप्त कर लेता है । इसी स्थिति की प्राप्ति अद्वैतवादी करना चाहते है । व्यक्ति जिस क्षण इतना त्याग करने को तैयार हो जाता है, उसी क्षण उस पर पडा हुआ अज्ञान का आवरण हट जाता है और वह अपने वास्तविक स्वभाव की अनुभूति कर लेता है । इसी जीवन मे वह सारे विश्व के साथ अपने आत्मा की एकता का अनुभव करने लग जाता है । ऐसा होते ही व्यावहारिक जगत् का अस्तित्व समाप्त हो जाता है और वह आत्मानुभूति की प्राप्ति कर लेता है । किंतु जब तक इस शरीर के कर्म शेष रहते है, उसे जीवित रहना होता है । अज्ञान-आवरण के हट जाने पर भी जब मनुष्य जीवित रहता है, तो ऐसी दशा को वेदाती 'जीवन्मुक्ति' कहते है । अत जब वेदाती अपने वास्तविक स्वभाव को जान लेता है, तो उसकी दृष्टि मे व्यावहारिक जगत् की सत्ता नही रह जाती । वह ससार के सब कार्य करता रहता है, पर उसका ससार दु खमय नही होता । उसके लिए दु ख का बधन सत्, चित् और आनद मे परिवर्तित हो जाता है । दूसरे शब्दो, मे ससार वही रहता है, सब कार्य वही रहते है, पर ससार के प्रति उसका दृष्टिकोण बदल जाता है ।

अनेकता में एकता

हम देखते है कि इस ससार मे सुख के साथ छाया की भाँति दु ख भी लगा हुआ है । जीवन के साथ मृत्यु भी उसकी छाया की भाँति लगी हुई है । साथ-साथ रहना ठीक भी है क्योकि ये दोनो परस्पर विरोधी नही है । एक ही चीज के दो भिन्न पहलू है । इनका

पृथक्-पृथक् अस्तित्व नही है, वरन् ये एक ही अस्तित्व की भिन्न अभिव्यक्तियाँ है जीवन-मरण, सुख-दु ख तथा अच्छा-बुरा । द्वैतवादियो का यह कथन कि अच्छे-बुरे का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है, इनकी दो अलग-अलग सत्ताएँ है और ये दोनो अनादिकाल मे चले आ रहे है, हास्यास्पद है । यथार्थत ये सब एक ही तथ्य की विविध अभिव्यक्तियाँ है, जो एक समय अच्छे रूप मे और दूसरे समय बुरे रूप मे अभिव्यक्त होती है । इनमे प्रकार का भेद नही, अपितु मात्रा का भेद है । ये तीव्रता की मात्रा के विचार से एक दूसरे से भिन्न होते है । हम देखते है कि एक ही नाडी-तत्र अच्छी और बुरी दोनो प्रकार की सवेदनाओ का वहन समान रूप से करता है—जब वह नाडी-तत्र आहत हो जाता है, तो किसी प्रकार की सवेदनाओ को ग्रहण नही करता है—न सुखात्मक भावो की न दु खात्मक भावो की । अत जीवन-मरण, सुख-दु ख आदि एक ही है, भिन्न नही क्योकि, एक ही वस्तु कभी सुख देती है और कभी दु ख । उदाहरणार्थ, मासाहार से मासाहारी व्यक्ति को प्रसन्नता होती है, किंतु मारे जाने वाले पशु को पीडा होती है । कोई ऐसी वस्तु नही है, जो समान रूप से सबको आनद प्रदान करे । वेदात का कहना है कि अच्छे और बुरे को दो मत सोचो। दोनो एक है । उनमे मात्रा का भेद है । वे विभिन्न रूपो मे एक ही मन मे विभिन्न प्रकार की भावना उत्पन्न करते है ।

इस सबध मे यदि हम फारस के पुराने आदिम सिद्धात पर विचार करे, तो ज्ञात होता है कि फारस-निवासी दो ईश्वर मे विश्वास करते थे जितनी अच्छी वस्तुएँ है, वह अच्छा ईश्वर बनाता है और जितनी बुरी चीजे है, वह बुरा ईश्वर बनाता है । इस तरह विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्रकृति के प्रत्येक नियम के दो अग होते है एक अग पर एक ईश्वर अपनी कला दिखाता है और चला जाता है और दूसरे पर दूसरा ईश्वर । यहाँ कठिनाई यह उत्पन्न होती है कि दोनो ईश्वर का कार्य-क्षेत्र एक, ही जगत् है और दोनो परस्पर सगति स्थापित करके चलते है एक, एक भाग को कष्ट देता है और दूसरा, दूसरे भाग को सुख । द्वैत की अभिव्यक्ति का यह बडा ही आदिम रूप है । इसी द्वैत के अधिक विकसित सिद्धात के अनुसार भी यही सगति की कठिनाई उठती है ।

तथ्य यह है कि यह ससार न तो आशावादी है और न निराशावादी, वरन् दोनो का सम्मिश्रण है । वेदात इन दोनो से विरत होने का मार्ग बताता है । उसका कहना है कि अच्छे और बुरे दोनो को त्याग दो, किंतु तब शेष क्या रहता है ? अच्छे-बुरे इन दोनो के पीछे कोई वस्तु है, जो तुम्हारी है "वही तुम्हारा यथार्थ रूप है । यह यथार्थ अच्छे-बुरे दोनो के परे है । यह यथार्थ अपने को अच्छे और बुरे दोनो रूपो मे व्यक्त कर रहा है। इन व्यक्त रूपो पर नियत्रण रखो तभी तुम अपने वास्तविक रूप को व्यक्त करने मे स्वतत्र रहोगे। पहले आत्मस्वामित्व प्राप्त करो, स्वावलबी बनो, इन नियमो के बधनो से परे हो जाओ क्योकि ये नियम निरकुश रूप से तुम्हें शासित नही करते । ये तुम्हारे जीवन के अग-मात्र है । पहले समझ लो कि तुम प्रकृति के दास नही हो, न थे और न होगे । तुम्हारी प्रकृति

तुम्हे कितनी ही असीमित क्यो न लगे, पर वह तुम्हारी आत्मा के सामने सीमित है। इस एकत्व को जान लेने पर तुम अच्छे-बुरे दोनो को नियन्त्रित कर सकोगे। यही सारा आशावाद हे।"†

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि यह सत्य है कि एक ही असीम सत्ता सभी प्राणियो मे व्याप्त है, तो क्या वह प्राणियो के दु खो से दुखी नही होगी, प्राणियो के अशुद्ध होने पर अशुद्ध नही होगी ? उपनिषदो का कहना है कि ऐसा नही होता। जिस प्रकार सूर्य सभी प्राणियो के नेत्रो के प्रकाश का कारण है, फिर भी यदि किसी की आँख खराब है, तो उसका प्रभाव सूर्य पर नही पडता, इसी प्रकार शारीरिक कष्ट, या ससार के दु खो से प्राणियो की आत्मा अविक्षुब्ध, अप्रभावित रहती है, अत जो विविधता के बीच एकता का साक्षात्कार करते है, उन्ही को असीम शाति का अनुभव होता है।

आत्मा, मन और शरीर

अद्वैत-दर्शन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य के तीन अग होते है शरीर, मन और आत्मा। शरीर आत्मा का वाह्य आवरण है और मन अतस्थ आवरण है। यह आत्मा ही वास्तविक ज्ञाता ह, वास्तविक आनदभोक्ता हे और शरीर की जीवनी-शक्ति हे। यह आत्मा मन के द्वारा शरीर मे कार्य करता है। शरीर मे केवल आत्मा ही अभौतिक सत्ता है। शरीर, मन और आत्मा तीनो के सवधो को समझने के लिए हमे मनोविज्ञान की सहायता लेनी पडेगी। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि विभिन्न वेदात पद्धतियाँ एक ही मनोविज्ञान का सहारा लेती है, वह हे साख्यदर्शन का मनोविज्ञान। सामान्यत स्वीकृत साख्यमनो-विज्ञान के अनुसार इन तीनो के सबध जानने के लिए हम प्रत्यक्षीकरण (नेत्र द्वारा) का उदाहरण लेगे। प्रत्यक्षीकरण मे नेत्र का स्थान प्रथम है, जो दृष्टि का वाह्य साधन है। नेत्रो से दृष्टीद्रिय—दृष्टि सबधी ततु और उसके केन्द्र (Optic nerve and its centres)—जुडी रहती है। यह दृष्टि का आतरिक साधन है और उसके बिना नेत्र होते हुए भी व्यक्ति देख नही सकता। प्रत्यक्षीकरण के लिए दृष्टीद्रिय का मन से सयुक्त होना आवश्यक है। दृष्टीद्रिय द्वारा जो सवेदनाएँ ग्रहण की जाती है, उन्हे मन से सबध स्थापित करने के उपरात, यदि व्यक्ति को उन सवेदनाओ के प्रति क्रियाशोल होना है, तो उन्हे बुद्धि तक पहुँचना भी आवश्यक है। कारण यह है कि बुद्धि ही मन का निर्णायक और प्रतिक्रिया करने वाला पक्ष है। जब बुद्धि सवेदनाओ के प्रति क्रियाशील होती है, उसी समय मन को वाह्य ससार का बोध होता है और अहकार उत्पन्न होता है। अहकार हो से 'इच्छा' जागृत होती है, पर इतने पर ही प्रत्यक्षीकरण की क्रिया समाप्त नह हो जाती है। जिस प्रकार कैमरे द्वारा चित्र खीचने के लिए एक स्थिर प्लेट या फिल्म की आवश्यकता पडती है, जो कि प्रकाश के क्रमिक प्रभावो को ग्रहण कर सके, उसी

† Viveka and : 'Jnana Yoga' p 199

प्रकार मन के विभिन्न विचारो को एकत्र करने के लिए शरीर और मन की अपेक्षा एक स्थिर वस्तु चाहिए और वह वस्तु आत्मा अथवा पुरुष है ।

साख्यदर्शन के अनुसार बुद्धि महन् से उत्पन्न हुआ उसका परिवर्त्तित एव किंचित् व्यक्त रूप है । महत् गूँजपूर्ण विचारो मे परिवर्त्तित होता है और परिवर्त्तित होकर तन्मात्राओ के रूप मे परिणत हो जाता है और पदार्थ के सूक्ष्म कणो मे बदल जाता है। इन्ही सब के सयोग से विश्व की उत्पत्ति हुई है । साख्य ने महत् से भी परे एक अव्यक्त स्थिति की कल्पना की है, जहाँ मन की व्यक्तावस्था भी नही रहती, केवल कारण विद्यमान रहते है—इसे प्रकृति कहते है । इस प्रकृति से भी पूर्णतया परे पुरुष या साख्य के आत्मा की स्थिति है । यह पुरुष सर्वव्यापी है, निर्गुण है, यह भोक्ता नही, वरन् साक्षी-मात्र है । यह पुरुष स्फटिक की भाँति रगहीन है, जिसके सम्मुख यदि अन्य रग रख दिये जायें, तो वह रगीन प्रतीत होने लगता है, किंतु वास्तव मे रगीन होता नही है । वेदातवादी साख्य द्वारा प्रतिपादित पुरुष और प्रकृति के इस रूप का खडन करते है । उनका कहना है कि साख्य द्वारा प्रतिपादित प्रकृति और पुरुप के बीच एक चौडी खाँई है, जिसको पाटना आवश्यक है । वेदातवादियो का कहना है, कि जब पुरुप रगहीन है तो विभिन्न रग उसमे कैसे प्रतिभासित हो मकते है ? इसीलिए वेदाती पहले से ही आत्मा और प्रकृति की एकता को स्वीकार करते है ।

सार्वभौम विज्ञान-धर्म

"स्वामी विवेकानद की रचनात्मक प्रतिभा का परिचय दो शब्दो मे दिया जा सकता है सतुलन और समन्वय।"† उनके विचार "मे वेदातदर्शन विज्ञान के प्रति असहिष्णु नही है । जब विज्ञान का अध्यापक दृढतापूर्वक यह कहता है कि सभी वस्तुएँ एक ही शक्ति की अभिव्यक्ति है, तब क्या वह उस ईश्वर का स्मरण नही कराता, जिसके विषय मे उपनिषद् हमे बताते है ? जिस प्रकार एक ही अग्नि विश्व मे प्रवेश करके अपने को नाना रूपो मे व्यक्त करती है, उसी प्रकार एक ही 'आत्मा' ससार की विभिन्न आत्माओ मे अपने को व्यजित करती है, यद्यपि वह इन आत्माओ से परे और असीम है । वेदात और विज्ञान दोनो के सिद्धात समान है । "तर्क का पहला सिद्धात यह है कि 'विशिष्ट' (वस्तु) की व्याख्या 'सामान्य' (वस्तु) द्वारा होती है [जब तक कि हम सार्वभौम तक नही पहुँचते । ज्ञान की दूसरी व्याख्या यह है कि एक वस्तु की व्याख्या उसके भीतर से होनी चाहिए, बाहर से नही ।" अद्वैत इन दोनो सिद्धातो को स्वीकार करता है । यही कारण है कि विवेकानद अद्वैत-धर्म को सार्वभौम विज्ञान-धर्म (Universal Science Religion) कहते है। उनके विचार में आवश्यकता इस बात की है कि सभी प्रकार के धर्मों मे सहयात्री की

---

† Romain Rolland 'The Life of Vivekananda', p 326

भावना हो । उनका धर्म सार्वभौमवाद और आध्यात्मिक बधुत्व है। प्रत्येक मार्ग, चाहे वह धार्मिक हो या धर्म-निरपेक्ष, वह वेश्व सत्य के एक अश का प्रतिनिधित्व करता है और अपनी शक्ति द्वारा उस अश को एक विशिष्ट रूप प्रदान करता है। उनका कहना है कि मनुष्य कभी मिथ्या से सत्य को ओर नही अग्रसर होता, वरन् सत्य से सत्य की ओर अग्रसर होता है। अपूर्ण सत्य से पूर्ण सत्य की ओर बढता है । उनका धार्मिक सकेत (Religious watch-word) है 'स्वीकृति' न कि 'सहनशीलता', अर्थात् हमे सब धर्मो को स्वीकार करना चाहिए, उनके प्रति केवल सहिष्णुता की भावना ही नही होनी चाहिए।

विश्व-बधुत्व की भावना से प्रेरित होकर उनका कहना है "मै अतीत काल मे प्रचलित सभी धर्मों को स्वीकार करता हूँ, उन सबके द्वारा पूजा करता हूँ, उनमे से प्रत्येक के द्वारा ईश्वर की पूजा करता हूँ ईश्वरीय पुस्तक समाप्त हो गयी या अब भी निरतर दैवी प्रकाश देती चल रही है ? यह अद्भुत पुस्तक है—ससार की ये आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ। वेद, बाइबिल कुरान तथा अन्य सभी पवित्र ग्रथ उस पुस्तक के असख्य पृष्ठ है और अभी असख्य पृष्ठ खुलने को है—हम वर्त्तमान मे स्थित है, किंतु असीम भविष्य को स्वीकार करने के लिए तैयार है । हम अतीत को स्वीकार करते है, वर्त्तमान के प्रकाश का आनद लेते है और भवितव्यता के लिए अपने हृदय के वातायनो को खोलते है । हम अतीत के सभी प्राग्दर्शियो को प्रणाम करते है, वर्त्तमान के सभी महान पुरुषो और भविष्य मे होने वाले महान पुरुषो को प्रणाम करते है।"*

विवेकानद के अद्वैत-धर्म मे मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए पर्याप्त अवसर है। वह उपनिषदो की प्राचीन उक्तियो मे विश्वास करते थे, 'विश्व मे जो कुछ भी वर्त्तमान है, वह ईश्वर द्वारा आच्छादित है।' क्योकि प्रत्येक सजीव प्राणी मे परमात्मा है, अत प्रत्येक मनुष्य को अपने मे निहित दिव्यता का विकास करना चाहिए। प्रत्येक आत्मा तात्विकतया दिव्य है । अत जीवन का उद्देश्य है अतर और वाह्य प्रकृति के पूर्ण नियत्रण द्वारा अतस्थ दिव्यता का बोध । यह कार्य किसी भी योग—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग अथवा राजयोग द्वारा सभव हो सकता है। पर स्वय स्वामीजी को 'सत्य तक पहुँचाने वाले इन चारो योग-मार्गों पर अधिकार प्राप्त था । उन्होने इन चारो मार्गो पर एक साथ चलते हुए एकता की ओर यात्रा की, वह सभी मानव-शक्तियो की समस्वरता के मूर्तरूप थे।'†

यह सत्य है कि दिव्यता का बोध या ब्रह्म का ज्ञान ही मानव-जीवन का चरम उद्देश्य है, किंतु 'मनुष्य ब्रह्म मे लीन नही रह सकता है। यह लीनता तो सविशेष क्षणो के लिए होती है' किन्तु "इस दशा की प्राप्ति (इस लीनता की प्राप्ति) बडी कठिन है और

---

* Romain Rolland 'The Life of Vivekananda', p 3 9
† Ibid p. 326

यह बहुत देर तक ठहरती भी नही है । (यहाँ प्रश्न उठता है कि) लीनता के क्षणो के अतिरिक्त शेष समय कैसे व्यतीत किया जाय ? यही कारण है कि इस दशा का बोध प्राप्त करने वाले ऋषियो ने अपने आत्मा का दर्शन सभी प्राणियो मे किया है और इस ज्ञान का अधिकार प्राप्त कर उन्होने प्राणियो की सेवा मे अपने को अर्पित कर दिया है । इस प्रकार वे इस शरीर द्वारा सपन्न होने वाले शेष कर्मो का भोग करते है । इसी दशा को शास्त्रो ने 'जीवन्मुक्ति' (जीवन मे ही मुक्ति) कहा है ।"† इसी कारण से विवेकानद ने विश्ववाद तथा आध्यात्मिक बधुत्व की भावना पर बल दिया है । इनमे से बधुत्व की भावना का अर्थ 'प्रेम' और 'सेवा' से है । पाश्चात्य जगत् मे 'सेवा करना', इसके अतर्गत आत्महीनता का भाव निहित रहता है, परतु स्वामी विवेकानन्द के दर्शन मे सेवा करने या प्रेम करने का अर्थ यह नही कि सेवा करने वाला व्यक्ति सेवित व्यक्ति से नीचा है, वरन् दोनो बराबर है । 'सेवा करने से मनुष्य गिरता नही है, बल्कि इसी मे स्वामीजी ने जीवन की पूर्णता स्वीकार की है ।'‡ वेदात यह शिक्षा नही देता है कि तुम स्वय को दूसरे के सामने झुकाओ । इसके विपरीत, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति के भीतर परमात्मा का निवास है, अत सबसे पहले प्रत्येक को अपने मे श्रद्धा उत्पन्न करनी चाहिए । जिसे स्वय पर श्रद्धा एव विश्वास नही हे, वही स्वामीजी के विचार मे नास्तिक है । स्वामीजी कहते है, 'यह श्रद्धा स्वार्थ पर आधारित श्रद्धा एव विश्वास नही है । इसका अर्थ है सब प्राणियो मे श्रद्धा क्योकि सभी प्राणी एक है ।' इसी आध्यात्मिक सबध के आधार पर स्वामी विवेकानद ने रामकृष्ण आश्रम की शाखाओ की स्थापना भारत और विदेशो मे की और ये शाखाएँ विश्व-बधुत्व का प्रचार बडी सफलता से कर रही है ।

शिक्षा-दर्शन

स्वामी विवेकानद का जीवन-दर्शन उनके समन्वयवादी दृष्टिकोण का द्योतक है । उनके शिक्षा-दर्शन मे भी हमे इसी दृष्टिकोण की झलक मिलती है । उन्होने व्यावहारिक एव पारमार्थिक जगत्, धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष कृत्य, प्राच्य एव पाश्चात्य जगत् तथा दर्शन एव विज्ञान के बीच के व्यवधान को दूर करने का प्रयत्न किया, इन्हे परस्पर निकट लाने का प्रयास किया । उन्होने शिक्षा के उद्देश्य, पाठ्यक्रम, पाठन-विधि आदि शिक्षा-क्षेत्र से सबधित प्रश्नो के विषय मे भी स्पष्ट रूप से यह इगित करने की चेष्टा की है कि यह जगत् जीवन के परम लक्ष्य की प्राप्ति में बाधक नही है । चिंतन और क्रिया मे विरोध नही है । दूसरे शब्दो मे ज्ञान, कर्म और भक्ति परस्पर सबधित है ।

भारतीय परपरा के अनुसार स्वामी विवेकानद भी आत्मानुभूति को जीवन का

† 'The Complete Works' Vol VII, p 105

‡ Romain Rolland . 'The Life of Vivekananda', p 322

परम लक्ष्य मानते है । आत्मानुभूति को हम दूसरे शब्दो मे 'मोक्ष-प्राप्ति' अथवा 'मुक्ति' भी कह सकते है । स्वामीजी ने 'कर्मयोग' मे कहा है, "हमारे चतुर्दिश जितनी भी चीजे दृष्टिगोचर होती है वे सब मुक्ति के लिए सघर्ष कर रही है । अणु से लेकर मनुष्य तक, निर्जीव पदार्थ के एक कण से लेकर पृथ्वी की उच्चतम सत्ता—मानव-आत्मा तक, सब मुक्ति के लिए सघर्षरत है । वास्तव मे समस्त सृष्टि इसी मुक्ति के लिए किये जाने वाले सघर्ष का परिणाम है । सभी वस्तुओ मे अनत विस्तार की प्रवृत्ति होती है । सृष्टि मे हम जो कुछ भी देखते है, उन सबके मूल मे इसी मुक्ति के लिए सघर्ष है । इसी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर सत ईश्वर की प्रार्थना करता है, लुटेरा लूट-मार करता है । जब कार्य करने की पद्धति उचित नही होती है, तब हम उसे पाप कहते है और जब कार्य-पद्धति उचित और श्रेष्ठ होती है, तब हम उसे पुण्य कहते है, किंतु प्रवृत्ति एक ही होती है—मुक्ति के लिए सघर्ष । सत अपने बधन के कारणो को जानकर बधनो से मुक्त होना चाहता है, अत वह ईश्वर की पूजा करता है । चोर इस विचार से बाध्य होकर चोरी करता है कि उसके पास कुछ चीजे नही होती है, वह उनके अभाव से मुक्ति पाना चाहता है और इसीलिए चोरी करता है । मुक्ति प्राप्त करना ही सबका उद्देश्य है, चाहे वह जड हो अथवा चेतन, और चेतन या अचेतन रूप मे सभी वस्तुएँ इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सघर्ष कर रही है । सत जिस प्रकार की मुक्ति प्राप्त करता है, वह चोर की मुक्ति से भिन्न प्रकार की है । सत द्वारा प्राप्त की गयी मुक्ति उसे असीम के सुख और अकथनीय आनद की ओर अग्रसर करती है, किंतु चोर की मुक्ति उसके आत्मा के बधनो को और दृढ करती है ।"† अत शिक्षा का मुख्य कार्य है मनुष्य को सम्यक् प्रकार की मुक्ति का चुनाव करने के योग्य बनाना ।

वेदात मे अटल विश्वास रखते हुए स्वामी विवेकानद का कथन है, "भौतिकवाद कहता है कि मुक्ति की आवाज भ्रमपूर्ण है, आदर्शवाद कहता है कि आवाज जो बधन के विषय मे बताती है, वह भ्रमपूर्ण है । वेदात कहता है, तुम मुक्त हो और मुक्त नही भी हो । भौतिक जगत् मे तुम कभी मुक्त नही हो, किंतु आध्यात्मिक जगत् मे सदैव मुक्त हो ।"‡ मुक्ति मनुष्य के अधिकार मे है, किंतु वह इसके विषय मे सदेव सचेत नही रहता है । बुद्धिमान और मूर्ख व्यक्ति म यही अतर है कि बुद्धिमान मुक्ति के विषय मे सचेत रहता है, जबकि मूर्ख इसे जानता भी नही है । शिक्षा का उद्देश्य है मनुष्य को मुक्ति के सबध मे सचेत करना और बताना कि उसे अपनी शक्तियो का उपयोग मुक्ति के लिए, परम सत्य के साक्षात्कार के लिए करना चाहिए । अत शिक्षा मुक्ति प्राप्त करने का सचेतन क्रम है ।

---

† Vivekananda : 'Karma Yoga', p 127 129
‡ 'Teachings of Swami Vivekananda', p 221

व्यक्तिगत एवं सामाजिक उद्देश्य

मुक्ति के लिए सघर्ष करना, मनुष्य की वास्तविक प्रकृति और व्यक्ति तथा समाज के बीच के उचित सबध की ओर सकेत करना है। क्या व्यक्ति और समाज मे परस्पर विरोध है ? पूर्व और पश्चिम मे इस प्रश्न के उत्तर मे मतभेद है। पश्चिम मे प्लेटो के समय से ही इस प्रश्न पर विवाद रहा है कि व्यक्ति और समाज दोनो मे से किसको प्रधानता दी जाय ? व्यक्ति प्रधान है या समाज ? वर्त्तमान काल मे, वैयक्तिकता के महान समर्थक नन (Nunn) ने आत्म-साक्षात्कार के रूप मे इन दोनो मे सामजस्य-स्थापन का प्रयत्न किया है। आरभ मे वह जीव-वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह प्रमाणित करते है कि प्रत्येक की अपनी वैयक्तिकता होती है, पर बाद मे वह आदर्शवादी विचार धारा के सर्वथा अनुकूल इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि प्रत्येक व्यक्ति केवल समाज मे ही रहकर आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। भारतीय अद्वैत दर्शन के अनुसार व्यक्ति और समाज मे सामजस्य स्थापन की आवश्यकता नही पडती क्योकि यदि व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जान ले तो उसके और समाज के बीच का विरोध स्वयमेव समाप्त हो जायगा।

पाश्चात्य जगत मे व्यक्ति और समाज के बीच विरोध का मुख्य कारण है कि वहाँ लोग व्यक्तित्व का सबध स्थूल शरीर से जोडते है। भारतीय आदर्शवादी दृष्टिकोण के अनुसार विवेकानद का कथन है कि यदि व्यक्तित्व शरीर मे है, तो वह नष्ट हो जायगा। "एक शराबी को इसलिए शराब नही छोडनी चाहिए कि उसका व्यक्तित्व नष्ट हो जायगा। एक चोर को इसलिए एक अच्छा आदमी नही बनना चाहिए क्योकि इस प्रकार वह अपना व्यक्तित्व खो देगा। किसी भी व्यक्ति को इस भय से अपनी आदतो को नही छोडना चाहिए वैयक्तिकता स्मृति मे भी नही रहती। कल्पना कीजिए कि सिर पर एक आघात के कारण मेरी स्मृति लुप्त हो गयी, तब तो मेरी वैयक्तिकता चली गयी, मै समाप्त हो गया। हमारे बचपन की, दो-तीन वर्ष की अवस्था की बातें हमारी स्मृति मे नही रह पातीं। यदि स्मृति और अस्तित्व एक है, तो जो कुछ हम भूल जाते है, वह समाप्त हो जाता है। अपने जीवन के उस भाग को जिसे हम स्मरण नही कर पाते, वह हमसे पृथक् हो जाता है (अर्थात् जीवन का उतना भाग हमने व्यतीत ही नही किया)। वैयक्तिकता का यह बडा ही सकीर्ण स्वरूप है। हम अभी तक व्यक्ति (Individuals) नही है, हम वैयक्तिकता के लिए सघर्ष कर रहे है और यह वैयक्तिकता है वही अनत (असीम आत्मा), यही मनुष्य की वास्तविक प्रकृति है। आत्मा ही इकाई है क्योकि वही अनत है, अविभाज्य है, उसके विभाग नही हो सकते। यह अविभाज्य इकाई शाश्वत है और यही इकाई, व्यक्ति (Individual) है, वास्तविक मनुष्य है। प्रत्यक्ष मनुष्य केवल उस वैयक्तिकता को, जो कि परे है, अभिव्यक्त करने का सघर्ष-मात्र है, विकास आत्मा में नही होता है।"†

---

† Vivekananda 'Jnana, Yoga', p 38-39

जर्मन दार्शनिक हीगल ने इस सिद्धात को भ्रमात्मक अथवा गलत रूप मे उपस्थित किया है। उसने कहा है, 'जब तक मनुष्य पूर्ण अभिव्यक्ति प्राप्त नही कर लेता और पूर्ण प्राणी नही बन जाता, तब तक अभिव्यक्ति उच्च से उच्चतर होगी।' पूर्णता का अर्थ है असीमता और अभिव्यक्ति का अर्थ है सीमाबद्धता। हीगल के सिद्धात से हम एक स्वत विरोधी परिणाम पर पहुँच जाते है जिसका तात्पर्य यह है कि हम असीम-सीमित (Unlimited limited) हो जायेगे। ससार के सभी धर्म स्वीकार करते है कि मनुष्य अपने स्थान से भ्रष्ट होकर पशु की दशा मे आया और अब वह इस बधन से मुक्त होने का प्रयत्न कर रहा है। किंतु हम कभी भी यहाँ असीम को अभिव्यक्त करने मे समर्थ नही होगे। कारण, इद्रियो से बँधकर यहाँ हमारे लिए पूर्णता प्राप्त करना पूर्णतया असभव है। पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमे इस क्रम को उलट देना होगा, अर्थात् हमे अपनी पशु-अवस्था से असीमता की ओर बढना होगा। हम अतत पूर्णता प्राप्त करेगे, किंतु इसके लिए हमे अपनी अपूर्णता का त्याग करना होगा। इस उद्देश्य की प्राप्ति का साधन है—त्याग। त्याग का अर्थ है पृथक् सत्ता का तिरोभाव और वास्तविक वैयक्तिकता का अनुभव।

स्वार्थ-त्याग, अथवा दूसरो की भलाई करना सभी नैतिक पद्धतियो का केन्द्रीय विचार है। जब मनुष्य पूर्णतया स्वार्थत्यागी हो जाता है, तब वह असीम हो जाता है, जो कि वास्तविक मनुष्य (Real Man) का स्वरूप है। अत हमारी वास्तविक वैयक्तिकता 'सार्वभौमिकता मे है, सीमाबद्धता मे नही।' इस दृष्टिकोण से देखने पर व्यक्ति और समाज के बीच कोई विरोध नही है। मनुष्य की वास्तविक वैयक्तिकता अथवा व्यक्तित्व के विकास द्वारा, शिक्षा के व्यक्तिगत एव सामाजिक, दोनो उद्देश्यो की पूर्ति की जा सकती है।

व्यक्तित्व-विकास के साधन

इस ससार मे मनुष्य अपने व्यक्तित्व (Personality) का निर्माण करने के लिए स्वतत्र है। विवेकानद व्यक्तित्व को शरीर और विचार से भी ऊपर बताते हुए कहते है कि मनुष्य मे, निजी आकर्षण होता है जो दूसरो को प्रभावित करता है, केवल उसके शब्दो द्वारा प्रभावोत्पादन नही हो सकता है। यहाँ तक कि 'प्रभावोत्पादन मे विचारो का महत्त्व एक-तिहाई होता है और व्यक्तित्व का दो-तिहाई।'‡ इस [illegible] प्रमाण इतिहास मे प्राप्त होता है जिससे पता चलता है कि नेताओ के विचारो और शब्दो ने लोगो को इतना प्रभावित नही किया जितना कि उनके व्यक्तित्व ने। वास्तविकता तो यह है कि नये, मौलिक और सत्यतापूर्ण विचार तो इन व्यक्तियो द्वारा इस ससार को इनेगिने

‡ Vivekananda : 'Powers of the Mind', pp 8

ही दिये गये है । अत सभी प्रकार की शिक्षा और प्रशिक्षण का ध्येय होना चाहिए—मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण । व्यक्तित्व प्राप्त करने पर व्यक्ति जो चाहता है, वह कार्य कर सकता है । मनुष्य का व्यक्तित्व ही दूसरे व्यक्तियो को क्रियाशील बना सकता हे । स्वामी जी कहते है कि हमारे देश मे प्राचीन काल मे उन नियमो के अन्वेषण का प्रयाम किया गया था, जिनके द्वारा मानव-व्यक्तित्व का विकास होता है । 'योग-विज्ञान' का यह दावा है कि इन नियमो और प्रणालियो पर उचित ध्यान देने से प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को उन्नत और शक्तिशाली बना सकता है । यह व्यावहारिक सिद्धात सारी शिक्षा का रहस्य है । यह योग-सिद्धात सार्वभौम रूप से व्यवहार्य है । गृहस्थ, सैनिक, धनी, गरीब, व्यवसायी, अध्यात्मवादी या दार्शनिक सब समान रूप से इससे लाभान्वित हो सकते हैं और अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सकते है ।

जिस प्रकार विभिन्न विज्ञानो की अपनी पद्धति है, उसी प्रकार धर्म की भी अपनी पद्धति है । धर्म के परम उद्देश्य 'मुक्ति' को प्राप्त करने की पद्धति को भारतीय दर्शन मे 'योग' कहते है । इस शब्द की व्युत्पत्ति भी उमी सस्कृत धातु से हुई है, जिससे अग्रेजी शब्द 'योक' (Yoke) बना है और जिसका अर्थ है 'सयुक्त होना', अपनी वास्तविकता अर्थात् ईश्वर से सयुक्त होना । इस प्रकार एकीकरण अथवा योग की कई पद्धतियाँ है, जो मनुष्य के विभिन्न स्वभावो और मनोवृत्तियो के अनुकूल है । इनमे से मुख्य-मुख्य योगो का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है —

१ कर्मयोग–कार्य एव कर्त्तव्य-पालन के द्वारा मनुष्य को अपनी दिव्यता की अनुभूति ।

२ भक्तियोग–सगुण ईश्वर की भक्ति और प्रेम के द्वारा दिव्यता की अनुभूति ।

३ ज्ञानयोग—ज्ञान के द्वारा मनुष्य को स्वय अपनी दिव्यता की अनुभूति ।

४ राजयोग—मन के नियत्रण द्वारा मनुष्य को अपनी दिव्यता की अनुभूति ।

ये विभिन्न योग एक ही केन्द्र, ईश्वर की ओर ले जाने वाले विभिन्न मार्ग है । †

योग के ये विभिन्न मार्ग एक दूसरे के विरोधी नही है । इनमे से किसी का भी कठिन अभ्यास करने से मनुष्य निश्चय रूप से जीवन के अतिम लक्ष्य तक पहुँच सकता है । अभ्यास ही इनकी सफलता का रहस्य है । प्रत्येक योग में आत्म-साक्षात्कार के तीन स्तर है जिन्हे साधक को पार करना पडता है—श्रवण, मनन और निदिध्यासन । पहले श्रवण करना होता है, तब मनन और अत मे अभ्यास । यदि श्रवण के उपरात कोई तथ्य कठिन होने के कारण समझ में नही आता है, तो निरतर श्रवण और मनन करने से वह समझ मे आ जाता है । सार रूप मे कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति द्वारा सिखाया-पढाया नही जा सकता है । प्रत्येक व्यक्ति अपने आप मे स्वय अपना शिक्षक है । बाहरी

† 'The Complete Works', Vol V, pp. 20, 22

शिक्षक आतरिक शिक्षक को कार्य करने और वस्तुओ को समझने के लिए प्रोत्साहित कर सकता है, सकेत अथवा सुझाव दे सकता है। अपनी ही ग्रहणशीलता और विचारणा द्वारा व्यक्ति को सभी चीजे स्पष्ट हो जाती है। स्वय व्यक्ति को अपनी आत्मा द्वारा ही ज्ञान का अनुभव करना होता है और यही अनुभूति तीव्र इच्छा-शक्ति के रूप मे विकसित हो जाती है। "सर्वप्रथम अनुभूनि होती है, पुन वह इच्छा मे परिवर्त्तित होती है और इसी इच्छा-शक्ति से कार्य करने की असीम शक्ति उत्पन्न होती है। यह शक्ति प्रत्येक शिरा, धमनी और मास-पेशियो मे होती हुई तुम्हारे सपूर्ण शरीर को स्वार्थरहित कर्म-योग के साधन के रूप मे परिवर्त्तित कर देती है और क्रमश पूर्ण आत्मत्याग और पूर्ण स्वार्थत्याग के इच्छित फल प्राप्त होते है। यह उपलब्धि किसी रूढि, विश्वास, सिद्धात या आस्था पर आधारित नही है।"† इसके लिये व्यक्ति को स्वय प्रयत्नशील होना है।

भारतीय योग-विज्ञान मनुष्य को पूर्ण बनने या जीवनमुक्त होने मे सहायता प्रदान करता है। 'जीवन-मुक्त' की व्याख्या हम स्वामी विवेकानद के जीवन-दर्शन के सबध म कर चुके है। जीवन-मुक्ति के आदर्श मे विश्वबधुत्व की भावना एव लक्ष्य निहित है। पर इस विश्वबधुत्व का आधार आध्यात्मिक है। सभी प्राणियो के अतर मे ईश्वर का निवास है। अत सभी पाणी 'एक है, आध्यात्मिक सूत्र द्वारा परस्पर गुँथे हुए है। इसलिए प्रत्येक प्राणी को अन्य सभी प्राणियो के प्रति श्रद्धा होनी चाहिए। अन्य प्राणियो मे श्रद्धा तभी उत्पन्न हो सकती है, जब व्यक्ति अपने मे श्रद्धा रखता हो। अत स्वय पर श्रद्धा और विश्वास व्यक्तित्व-विकास के साधन का एक आवश्यक अग है।

शिक्षा का लक्ष्य : मनुष्य-निर्माण

जीवन के महान लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति के लिए, उपर्युक्त विचारशृखला के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक को अपने व्यक्तित्व का विकास करना होगा। प्रश्न उठता है कि व्यक्तित्व से क्या तात्पर्य है? वेदान्त-दर्शन के अनुसार मनुष्य परमात्म-शक्ति का ही अश है, उसकी प्रकृति आध्यात्मिक है, अत शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए 'मनुष्य का निर्माण' अर्थात् मनुष्य के स्वाभाविक गुणो का विकास। 'मनुष्य' बनने के लिए उसकी अतर्निहित शक्तियो का सर्वतोन्मुखी विकास होना चाहिए। स्वामीजी ने अपने समय की शिक्षा-प्रणाली मे इस महान तथ्य के अभाव को लक्ष्य किया और इसीलिए उन्होने ऐसी शिक्षा पर जोर दिया जो मनुष्यत्व के विकास मे योग प्रदान करे।

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की त्रुटियो को बताते हुए स्वामीजी ने उसे नकारात्मक कहा है। उनका कथन है कि आज की शिक्षा मनुष्य का सक्रिय विकास नही करती। वह विदेशी है तथा केवल क्लर्क पैदा करने वाली है। उसका उद्देश्य बडा ही सकुचित है, वह केवल बालक को सूचनाएँ प्रदान करने का साधन है। स्वामीजी का

† Vivekananda 'Karma Yoga,' pp. 103, 104

विचार है कि शिक्षा अधिकाधिक सूचना प्राप्त करने का साधनमात्र नही है। शिक्षा द्वारा प्राप्त बहुत सी सूचनाएँ मनुष्य आजीवन आत्मसात नही कर पाता है और वे उसके मस्तिष्क मे उपद्रव मचाया करती है। यदि एक व्यक्ति केवल पाँच सद्विचारो को भी आत्मसात कर ले और उनके अनुसार अपने चरित्र का निर्माण कर ले तो वह उस व्यक्ति से अधिक शिक्षित है जिसे सारा पुस्तकालय कठस्थ है। यदि 'शिक्षा' का अर्थ केवल 'सूचना' है, तो यह कहा जा सकता है कि 'पुस्तकालय सबसे बडे सत और विश्वकोश सबसे महान ऋषि' है, क्योकि उनमे जानकारी की असख्य बाते भरी पडी है।

स्वामीजी के अनुसार प्रचलित शिक्षा-पद्धति व्यक्ति मे आत्मविश्वास की भावना नही जाग्रत करती है और न व्यक्ति को विचारो की मौलिकता के लिए प्रेरणा और अवसर ही प्रदान करती है। वह व्यक्ति को अपने हाथ-पैरो का उपयोग करने के लिए भी प्रशिक्षित नही करती। अत जो शिक्षा मनुष्य को भावी जीवन के लिए तैयार नही करती, उसके चरित्र का निर्माण नही करती, सिह के समान शक्तिशाली नही बनाती तथा विश्वबधुत्व की भावना उत्पन्न नही करती, उस शिक्षा को सार्थक नही कहा जा सकता। वर्त्तमान परिस्थिति को ध्यान मे रखकर स्वामीजी ऐसी शिक्षा पर बल देते है जिससे चरित्र का उत्थान हो, मानसिक बल की वृद्धि हो, बुद्धि का विकास हो और जिसके द्वारा मनुष्य स्वावलबी बन सके। सभी प्रकार की शिक्षा और प्रशिक्षण का चरमलक्ष्य 'मनुष्य का निर्माण' होना चाहिए। शिक्षा, वास्तव मे, उसी को कहा जा सकता है जिसके द्वारा इच्छाशक्ति और उसकी अभिव्यक्ति को नियत्रित करके फलप्रद बनाया जा सके। "आज हमारे देश के लोगो को फौलादी मासपेशियो, लौह धमनियो तथा दुर्जेय इच्छाशक्ति की आवश्यकता है, जो विश्व के रहस्यो का भेदन कर सके और लक्ष्य की पूर्ति कर सके, भले ही इसके लिए सागर की अतल गहराई मे प्रवेश करके मृत्यु का सामना ही क्यो न करना पडे।"† "इसी प्रकार मनुष्य का निर्माण करने वाले धर्म की हमे आवश्यकता है, इसी प्रकार मनुष्य का निर्माण करने वाले सिद्धातो की हमे आवश्यकता है, इसी प्रकार, मनुष्य का निर्माण करने वाली सर्वतोन्मुखी शिक्षा की हमे आवश्यकता है।"‡

शिक्षा से तात्पर्य

स्वामी विवेकानद के विचार में 'शिक्षा, मनुष्य मे अतर्निहित पूर्णता की अभिव्यक्ति है।'★ यह पूर्णता कही बाहर से नही आती, वरन् मनुष्य के भीतर ही छिपी रहती है। वेदात के आत्मा सबधी सिद्धात मे दृढ विश्वास होने के कारण, स्वामीजी का कथन है कि सब प्रकार का ज्ञान, चाहे वह धर्म-निरपेक्ष हो अथवा धर्म-प्रधान, मनुष्य की आत्मा

---

† 'The Complete Works', Vol III p 18

‡ Ibid p. 224

★ Ibid p. 304

मे निहित है। गुरुत्वाकर्षण का सिद्धात अपने प्रतिपादन के लिए न्यूटन की प्रतीक्षा नही कर रहा था। वह तो उसके मस्तिष्क मे पहले से ही विद्यमान था। समय आने पर न्यूटन ने केवल उसका अन्वेषण-मात्र किया। अत मनोवैज्ञानिक शब्दावली मे कहा जा सकता है कि 'सीखना, वास्तव मे खोज निकालना है।' सपूर्ण ज्ञान और शक्ति का अधिष्ठान मानव-आत्मा है, किंतु उस पर अज्ञान का आवरण पडा रहता है। यह आवरण जब धीरे-धीरे हटता जाता है तब हम कहते है कि 'हम सीख रहे है।' ज्यो-ज्यो यह आवरण उठता जाता है, त्यो-त्यो हम ज्ञान की ओर अग्रसर होते जाते है। जिस मनुष्य के ज्ञान पर पडा हुआ यह अज्ञान-आवरण जितना ही अधिक हट जाता है, वह उतना ही अधिक ज्ञानी कहलाता है। जिस व्यक्ति के ज्ञान पर यह अज्ञान-आवरण जितना ही मोटा होता है, वह उतना ही अज्ञानी होता है। जिसके ज्ञान पर पडा हुआ यह पर्दा पूर्णतया हट जाता है, वह पूर्ण ज्ञाता या त्रिकालदर्शी हो जाता है। जिस प्रकार चकमक पत्थर मे अग्नि वर्त्तमान रहती है और रगडने से वह प्रकट हो जाती है उसी प्रकार मनुष्य के मन मे ज्ञान निहित होता है और सकेत रूपी रगड पाकर वह अभिव्यक्त होता है। पेड से सेव को गिरते हुए देखकर न्यूटन को यह सकेत मिला कि पृथ्वी मे आकर्षणशक्ति है। पेड से सेव का गिरना एक सकेत था, जिसने न्यूटन के मस्तिष्क मे पहले से स्थित सपूर्ण विचार-शृखलाओ को पुनर्जाग्रत किया और अत मे उसने एक नवीन विचार-सरणि का अन्वेषण किया, जिसे गुरुत्वाकर्षण का सिद्धात कहा जाता है। सब प्रकार के ज्ञान का स्रोत मानव-आत्मा है। शिक्षा मानव-आत्मा मे अतर्निहित इसी ज्ञान का अन्वेषण और प्रकाशन करती है। शिक्षा की इस वेदातिक परिभाषा की तुलना हम किसी सीमा तक पेस्टालाजी द्वारा की गयी शिक्षा की परिभाषा से कर सकते है, जिसके अनुसार शिक्षा 'मनुष्य मे अतर्निहित शक्तियो का प्राकृतिक, प्रगतिशील एव विरोध-हीन विकास है।'

स्वामी विवेकानद के शिक्षण-पद्धति-सबधी विचार वेदात-सिद्धात पर आधारित है और तुलनात्मक दृष्टि मे देखने पर फ्राबेल के विचारो से भी मिलते-जुलते है। विवेकानद और फ्रॉबेल, दोनो बालक की उपमा एक पौधे से देते है। जिस प्रकार बरगद के बीज मे विकास करके एक बडा वृक्ष बनने की शक्ति विद्यमान रहती है, उसी प्रकार बालक के जीवनाधार-तत्व मे अगाध बुद्धि निवास करती है। पौधे के प्राकृतिक विकास की भाँति ही बालक का भी अपनी प्रकृति के अनुरूप विकास होता है। जिस प्रकार हम पौधे को केवल पोषक तत्व देते है, उसकी रक्षा करते है और वह उनको ग्रहण करके भी अपनी प्रकृति के अनुसार ही बढता है, उसी प्रकार बालक को शिक्षा देते समय हमे केवल उसके मार्ग की बाधाओ को दूर करना चाहिए तथा उसके सम्मुख विकास का क्षेत्र प्रस्तुत करना चाहिए, ताकि अवसर-प्राप्ति के अभाव मे उसमे अतर्निहित विपुल शक्तियाँ नष्ट न हो जायें। यहाँ यह सिद्धात, जैसा ऊपर भी कहा जा चुका है, स्पष्ट हो जाना चाहिये कि बालक स्वय अपना शिक्षक है। बालक अपने आप शिक्षित होता है। शिक्षक का कार्य तो केवल

उसके भीतर निहित ज्ञान को जाग्रत करना और उसका मार्ग-प्रदर्शन करना है, ताकि वह अपनी बुद्धि द्वारा अपने हाथ, पैर, कान और आँख आदि इद्रियो का समुचित उपयोग कर सके। शिक्षक को चाहिए कि बालक की प्रवृत्तियो और आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए शिक्षा प्रदान करे। इसका मुख्य कारण यह है कि बालक मे पूर्वजन्म के सस्कार अवशेष रहते है, जो उसकी प्रवृत्तियो को नियत्रित करते है। शिक्षक को चाहिए कि वह इन सस्कारो का निरीक्षण करे और बालक की व्यक्तिगत प्रवृत्तियो का ध्यान रखे। उसे बालक की विशेष रुचियो या झुकावो को प्रोत्साहित करना चाहिए और यदि कोई बालक बहुत ही अयोग्य है, तो भी उसे हताश नही करना चाहिए। बालको के मस्तिष्क पर सक्रिय या रचनात्मक विचारो (Positive ideas) का प्रभाव डालना चाहिए। नकारात्मक विचार (Negative ideas) जैसे बालको से यह कहना कि तुम मूर्ख हो या तुम कभी कुछ सीख नही सकते, उन्हे शारीरिक और मानसिक दोनो दृष्टियो से दुर्बल बना देते है। कभी-कभी तो इन नकारात्मक बातो का इतना गभीर प्रभाव बालक पर पडता है कि वह वैसा ही बनने भी लगता है। बालको से कोमल और उत्साहवर्द्धक शब्दो मे बात करनी चाहिए। यदि उन्हे सक्रिय या रचनात्मक विचार दिये जायँ तो वे पूर्ण मनुष्य बनेगे और स्वावलबी होगे। भाषा, साहित्य, कविता और कला आदि सभी विषयो मे हमे उनके कार्यों और विचारो की त्रुटियो की ओर सकेत नही करना चाहिए, वरन् यह बताना चाहिए कि वे किस प्रकार इन कार्यों को और भी अच्छी तरह कर सकते हैं।

पाठ्य-विषय

हमने प्रारभ मे ही देखा कि स्वामी विवेकानद का दृष्टिकोण समन्वयकारी है। दार्शनिक होने का अर्थ उनके अनुसार यह नही है कि जीवन के चरम लक्ष्य के अतिरिक्त अन्य विषयो पर विचार ही न किया जाय। जीवन के उच्च लक्ष्य की प्राप्ति भी इसी ससार मे निवास करते हुए और इसी शरीर के द्वारा की जा सकती है, अत स्वामी विवेकानद ने पाठ्य-विषय के अतर्गत उन सभी विषयो के ज्ञान को अनिवार्य बताया है जो इस ससार से सबधित है। भारतीय विषयो के अध्ययन के साथ ही, उन्होने अग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान के अध्ययन का भी समर्थन किया है। उनका कथन है कि हमे प्राविधिक शिक्षा (Technical Education) तथा उन सभी विषयो का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए जिससे उद्योगो की उन्नति हो, हम नौकरियो पर अवलम्बित न रह कर उद्यम करके स्वतत्रता से धनोपार्जन कर सके और अपने दुर्दिन के लिए पर्याप्त धन-सग्रह कर सके। अध्ययन के विषय मे स्वामीजी के विचार बहुत ही सक्षिप्त किंतु बडे महत्त्वपूर्ण और व्यावहारिक है। वह अपने देश के ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रो के अध्ययन के साथ ही अतर्राष्ट्रीय प्रगति के साथ गतिशील रहने के लिए अग्रेजी भाषा और पाश्चात्य विज्ञान को प्रमुखता देते है। इसका कारण यह है कि आज के

युग मे विज्ञान की उन्नति के बिना देश की उन्नति असभव है। उन्होने औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षण के महत्त्व को समझ लिया था क्योकि राष्ट्र की समृद्धि उद्योगो पर ही अवलबित है। अत कहा जा सकता है कि आध्यात्मिक पूर्णता के साथ ही लौकिक समृद्धि को भी वह अनिवार्य मानते थे तथा अध्ययन के अतर्गत इन सभी विषयो का समावेश चाहते थे।

शिक्षण-विधि

चित्त की एकाग्रता—स्वामीजी का विचार है कि मन की एकाग्रता ही वह विधि है जिसके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। मन की एकाग्रता ही शिक्षा का सारतत्त्व है। जीवन के किसी भी क्षेत्र मे सफलता प्राप्त करने का यही सर्वोत्तम साधन है। साधारण मनुष्य से लेकर महान योगी तक, सभी अपने इच्छित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इसी विधि, चित्त की एकाग्रता का प्रयोग करते है। विचारो की एकाग्रता के अभाव मे या चित्त की अस्थिरता के कारण ही मनुष्य भयकर भूले करता है। जो मनुष्य प्रशिक्षित होता है या जिसका मन एकाग्र होता है वह कभी भूल नही करता। मनुष्य के चित्त की एकाग्रता के अनुपात मे भिन्नता के कारण ही मनुष्यो मे अतर होता है। महान और साधारण व्यक्ति मे यही अतर होता है कि महान व्यक्ति का चित्त एकाग्र और साधारण व्यक्ति का मन कम एकाग्र या चचल होता है। एकाग्रता ही वह तथ्य है जिसके कारण मनुष्य और पशु म भेद माना जाता है। पशुओ का प्रशिक्षण करने वाले यह बताते है कि पशुओ को प्रशिक्षित करना कितना कठिन कार्य है। उन्हे जो भी सिखाया जाता है उसे वे शीघ्र ही भूल जाते हैं। चित्त की एकाग्रता को हम ज्ञान-भडार की कुजी कह सकते है जिसे उपलब्ध करने से मनुष्य ज्ञान-रत्न के भडार का स्वामी बन सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि चित्त की एकागता प्राप्त कैसे की जाय? हम यह जानते है कि किसी एक वस्तु पर चित को एकाग्र करना कितना कठिन है क्योकि जब हम किसी वस्तु पर अपने मन को एकाग्र करते है तो उस बीच हमारे मन मे अनेक प्रकार के विचार उठकर एकाग्रता मे बाधा डालने लगते है। इन बाधाओ पर विजय प्राप्त करने तथा चित्त को एकाग्र करने की शिक्षा हमे 'राजयोग' से प्राप्त होती है। अभ्यास तथा उपासना द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त की जा सकती है।

विवेकानद का विश्वास है कि तथ्यो का सकलन शिक्षा का सारतत्त्व नही है, वरन् मन की एकाग्रता ही शिक्षा का मुख्य तत्व है। उनका कहना है, "यदि मुझे फिर अध्ययन करना पडे तो मै तथ्यो का अध्ययन बिल्कुल न करूँ। मै चित्त को एकाग्र करने तथा मन को समाधिस्थ करने की शक्ति को विकसित करूँ और फिर मन को वश मे

† 'The Complete Works', Vol. III p 18

‡ 'The Complete Works', Vol III p 224

करके उस पूर्ण मानसिक यत्र के सहारे अपनी इच्छाशक्ति के अनुमार तथ्यो का मकलन करूँ।"†

ब्रह्मचर्य और श्रद्धा—एकाग्रता की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। बारह वर्षो तक अखड ब्रह्मचर्य धारण करके ही चित्त को एकाग्र करने की शक्ति प्राप्त की जा सकती है। महान बौद्धिक तथा आत्मिक शक्ति प्राप्त करने का यही एक-मात्र साधन है। 'प्रत्येक दशा मे सदैव मन, वचन और कर्म की पवित्रता ही ब्रह्मचर्य है।' अपवित्र चितन उतना ही बुरा है जितना अपवित्र कर्म। विवेकानद के विचार मे देश की वर्त्तमान असतोषजनक दशा का कारण है—सयम का अभाव। अत तात्कालिक आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक छात्र को पूर्ण ब्रह्मचर्य के अभ्यास की शिक्षा दी जाय। ब्रह्मचर्य के बिना मनुष्य को स्वय अपने मे श्रद्धा या विश्वास उत्पन्न नही होता। एकाग्रता की ही भाँति श्रद्धा के कम या अधिक अनुपात मे होने के कारण भी मनुष्य एक दूसरे से भिन्न है। श्रद्धा या अपने प्रति विश्वास के अभाव मे जब एक व्यक्ति स्वय को शक्तिहीन समझने लगता है तो वह वस्तुत नि शक्त हो जाता है। विवेका-नद का कथन है, "तुम्हारे भीतर स्वय के प्रति श्रद्धा या विश्वास का होना आवश्यक है। तुम पाश्चात्य जातियो मे भौतिक शक्ति की जो समृद्धि देखते हो वह उनकी श्रद्धा का ही परिणाम है। वे अपनी मासपेशियो (स्थूल-शक्ति) मे विश्वास रखती है। पर यदि (स्थूल-शक्ति की अपेक्षा) तुम आत्मा मे विश्वास करो तो कितना अधिक कार्य कर सकोगे।"‡

अत बालक को जन्म से ही श्रद्धा या आत्मविश्वास की शिक्षा दी जानी चाहिए। श्रद्धा या आत्मविश्वास एक महान जीवन-रक्षक, श्रेष्ठ और उच्च सिद्धात है। बालको मे आत्मविश्वास का होना अत्यत आवश्यक है "क्योकि वे परमपिता परमात्मा के बालक है, दिव्य ज्योति के स्फुलिग है, वे सब कार्य करने मे समर्थ है।' हमारे पूर्वजो के हृदय मे यही आत्मविश्वास था जिसके कारण उन्होने हमारी प्राचीन सस्कृति को जन्म दिया।

गुरुकुलवास—पहले कहा जा चुका है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व अथवा उसका निजी आकर्षण होता है, जो दूसरे को प्रभावित करता है। इस सिद्धात के अनुसार स्वामी विवेकानद शिक्षण-क्रिया मे गुरु-शिष्य के परस्पर सबध पर अधिक बल देते है। इसी कारण वह भारत की प्राचीन शिक्षा-प्रणाली से पूर्णतया सहमत है। उनके अनुसार प्राचीनकाल मे गुरु और शिष्य, गुरुकुल मे साथ साथ रहते थे जिससे उनमे व्यक्तिगत सपर्क और सबध स्थापित रहता था। उस समय विद्या का व्यवसाय नही होता था।

† 'The Complete Works', Vol VI, p 30

‡ 'The Complete Works', Vol III p 376

गुरुकुलो मे आजकल की भाँति विद्या बेची नही जाती थी । आजकल की शिक्षा-पद्धति मे गुरु और शिष्य का सबध उतना घनिष्ठ नही रह गया है, अत अब अध्यापको का प्रभाव भी बालको पर बहुत कम पडता है ।

विद्यार्थी और शिक्षक के आवश्यक गुण—भारतीय आदर्शवादी परपरा के अनुसार यदि शिक्षणक्रिया को सफल होना है तो विद्यार्थी और शिक्षक मे कुछ विशेष गुणो की आवश्यकता है । विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह पवित्र हो, उसमे ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासा हो तथा वह निरतर प्रयत्नशील रहे । उसे मन, वचन और कर्म से पूर्णतया शुद्ध होना चाहिए । ज्ञानपिपासा के सम्बन्ध मे तो यह पुराना नियम है कि हम जिस वस्तु की इच्छा करते है वही प्राप्त होती है, अत यदि हमे ज्ञान-प्राप्ति की पिपासा होगी तो वह अवश्य प्राप्त होगा । हम केवल उसी वस्तु को प्राप्त कर सकते है जिस पर दत्तचित्त हो कर अपना ध्यान केन्द्रित करे, किंतु इसके लिए निरतर सघर्ष करके अपनी निम्न मनोवृत्तियो को दबाने की उस समय तक आवश्यकता पडती है जब-तक कि हम अपनी उच्चतम आकाक्षा की प्राप्ति न कर ले । जो विद्यार्थी इस ध्रुव धारणा और निश्चय के साथ अपना कार्य आरभ करता है उसे अत मे सफलता अवश्य मिलती है । सफलता प्राप्त करने के लिए यह भी आवश्यक है कि विद्यार्थी गुरु मे श्रद्धा रखे । गुरु मे श्रद्धा या भक्ति के बिना, गुरु के सम्मुख शीश झुकाये बिना तथा गुरु का सम्मान किये बिना शिष्य कभी उन्नति नही कर सकता । विवेकानद का कथन है कि यद्यपि विद्यार्थी को चाहिए कि वह अपने गुरु की पूजा ईश्वर की भाँति करे तथापि उसे अधविश्वासी की भाँति गुरु की सभी बातों को स्वीकार भी नही कर लेना चाहिए, क्योकि एक व्यक्ति के प्रति इतने अधिक विश्वास से विद्यार्थी मे मानसिक हीनता की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, उसमे मूर्तिपूजा जैसी भावना आ जाती है । अत उसे विवेक से काम लेना चाहिए ।

शिक्षक के गुणो का उल्लेख करते हुए स्वामीजी ने कहा है कि शिक्षक को पूर्ण ज्ञानी होना चाहिए । "उसे धर्मग्रथो का सारतत्त्व जानना चाहिए । सारे ससार के लोग बाइबिल, कुरान और वेद पढ़ते है, परतु वे तो केवल शब्द, वाक्य-रचना, शब्द-व्युत्पत्ति और भाषा विज्ञान है, धर्म की शुष्क अस्थियाँ है । जो शिक्षक केवल शब्दो मे उलझा रह जाता है, उन्ही पर जोर देता है वह आत्मा से परिचित नही हो पाता । एक सच्चे अध्यापक को ग्रथो की मूल आत्मा का ज्ञान होना चाहिए ।"† जो अध्यापक कोरे शब्दो से शिक्षार्थी को सतुष्ट करना चाहता है, जो धर्म का ज्ञान तो रखता है, किंतु धर्म के सत्य को अपने जीवन मे नही उतारता, वह धर्म के रहस्य को या धर्म के तत्त्व को नही पहचानता ।

आदर्श शिक्षक का दूसरा गुण है निष्पाप होना । स्वय सत्य का ज्ञान प्राप्त करने

† 'The Complete Works' Vol III p 48

और दूसरो को उसकी शिक्षा देने के लिए यह अनिवार्य है कि वह हृदय और आत्मा से पवित्र हो। जब शिक्षक स्वय परम पवित्र होता है तभी उसके शब्दो का कुछ मूल्य होता है। शिक्षक का कार्य बालक की ज्ञानात्मक और मानसिक शक्तियो को उत्तेजित करना मात्र नही है, वरन् बालक को 'कुछ हस्तातरित करना' भी है और यह है अपने व्यक्तित्व का प्रभाव। यही बालक को उसकी देन है, अत शिक्षक को अनिवार्य रूप से पवित्र होना चाहिए।

शिक्षक के तीसरे गुण का सबध उसकी आतरिक प्रेरणा 'भावना' से है। शिक्षक को किसी स्वार्थवश, रुपये-पैसे के लिए या प्रसिद्धि के लिए शिक्षा नही देनी चाहिए। उसे प्रेम, मानव-प्रेम की भावना से प्रेरित होना चाहिए। केवल प्रेम के माध्यम से ही बालक मे आत्मशक्ति पहुँचायी जा सकती है। स्वार्थसाधन, अर्थ या ख्याति की भावना से यह माध्यम नष्ट हो जाता है।

शिक्षक को अपने विद्यार्थी के प्रति सहानुभूति रखनी चाहिए तथा उसकी प्रवृत्तियो तथा धारणाओ का अध्ययन पूर्णरूप से करना चाहिए। उसे विद्यार्थी की सद्प्रवृत्तियो को सदैव प्रोत्साहित करना चाहिए और किसी भी मूल्य पर किसी प्रकार भी नष्ट न होने देना चाहिए। 'सच्चा शिक्षक वही है जो क्षणभर मे अपने को हजारो व्यक्तियो मे परिणित कर सके' अर्थात् हजारो बालको के स्थान पर अपने को रख कर उनकी समस्याओ और सस्कारो को देख और समझ सके और अपनी आत्मा का सचार अपने शिष्य की आत्मा मे कर सके। केवल ऐसा ही शिक्षक वास्तव मे शिक्षा दे सकता है, दूसरा नही।

चरित्र-संबंधी शिक्षा

स्वामी विवेकानद ने शिक्षा मे चरित्र-निर्माण के उद्देश्य को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है। मनुष्य के इस चरित्र-निर्माण मे उसके विचारो का प्रमुख स्थान होता है। जिस मनुष्य का विचार जैसा होता है उसी के अनुरूप उसका चरित्र भी बनता है। उनके विचार मे मनुष्य का चरित्र प्रवृत्तियो का समन्वित या पुजीभूत रूप होता है। मनुष्य का मानसिक झुकाव जिस प्रकार का होता है उसी प्रकार का उसका चरित्र भी होता है। सुख और दुख मनुष्य की आत्मा पर विभिन्न प्रकार के चित्र अकित कर जाते है और इन चित्रो का जो समन्वित प्रभाव मनुष्य पर पडता है उसी से उसके चरित्र का निर्माण होता है। 'हम और कुछ नही है, वरन् अपने विचारो द्वारा निर्मित या उनके प्रतिबिंब है। विचार हमारे भीतर विद्यमान रहते है, वे दूर दूर तक सचरण करते है, वे हमसे क्या नही करा सकते ?' अत हम सबको अपने विचारो का बहुत ध्यान रखना चाहिए।

स्वामीजी का कथन है कि हमारे चरित्र के निर्माण मे भलाई और बुराई दोनो का समान योग है। कुछ दशाओ मे तो विपत्तियाँ सुख की अपेक्षा अधिक महान शिक्षक का

कार्य करती है। ससार के महापुरुषो के चरित्र पर विचार करने से ज्ञात होता है कि अनेक दशाओ मे सुख की अपेक्षा आपदाओ ने, वैभव की अपेक्षा दरिद्रता ने और प्रशसा की अपेक्षा आघातो ने उनके जीवन के अत प्रकाश को अधिक प्रज्वलित और व्यक्त किया है। देखा जाता है कि जब हृदय मे प्रेम का आविर्भाव होता है, जब आपदाओ की आँधियाँ चलने लगती है तथा साहस और आशा का प्रकाश बुझता हुआ प्रतीत होने लगता है, तभी महान आध्यात्मिक झोको के बीच हमारे अत करण मे स्थित प्रकाश ज्योतित हो उठता है।

स्वामीजी ने मनुष्य के मन की उपमा एक सरोवर से दी है। जिस प्रकार सरोवर मे उठने वाली कपन या लहर शात होकर भी नष्ट नही होती, उसी प्रकार हमारे मन मे उठने वाली तरगे शात होकर भी पूर्णतया नष्ट नही होती, बल्कि मन पर अपना एक छाप छोड जाती हैं। भविष्य मे पुन उस छाप के उभरने की सभावना बनी रहती है। हमारे प्रत्येक कार्य, हमारे शरीर के प्रत्येक स्पदन, हमारे प्रत्येक विचार मन पर ऐसे प्रभाव छोड जाते है कि वे बाहर से दृष्टिगोचर न होने पर भी अचेतनावस्था मे मन के भीतरी तल मे अपना कार्य किया करते है। हमारे जीवन का प्रत्येक क्षण इन्ही प्रभावो से निर्धारित होता है। प्रत्येक व्यक्ति का चरित्र इन्ही समन्वित प्रभावो से बनता है। यदि ये प्रभाव अच्छे होते है तो मनुष्य का चरित्र उत्तम होता है और यदि ये बुरे होते है तो चरित्र निकृष्ट होता है। उदाहरण के लिए यदि कोई मनुष्य निरतर बुरे शब्दो को सुनता है, बुरे विचार सोचता है और बुरे काम करता है तो उसका मन बुरे प्रभावो से आच्छादित हो जाता है और बिना उसकी जानकारी के ये प्रभाव उसके चरित्र और कार्य को प्रभावित करते है। वास्तव मे मनुष्य के मन पर पडने वाले बुरे प्रभाव निरतर क्रियाशील रहते हैं और इनका परिणाम यह होता है कि मनुष्य मे निकृष्ट कार्य करने की दृढ भावना उत्पन्न होती है और वह वैसे ही कार्य करता है। वह बुरे प्रभावो के वश मे हो कर यत्रवत निम्न कोटि के कार्य करता है।

इसी प्रकार अच्छे विचारो और कार्यों का भी प्रभाव मनुष्य के चरित्र पर पडता है। जो मनुष्य सद्विचारो मे लीन रहता है उसके मन पर उनका प्रभाव पडता है और वह अच्छे कार्य करता है। फलस्वरूप मनुष्य मे अच्छे कार्य करने की एक प्रबल प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है जिसके कारण वह सदैव शुभ कार्यो को ही करता रहता है। इन सुदर विचारो से उसका मन इस प्रकार आवृत्त हो जाता है कि वह बुरे कार्य करने को तत्पर नही होता। जब ऐसी स्थिति आ जाती है तब कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति का चरित्र सुंदर और दृढ है। किसी मनुष्य के चरित्र की कसौटी उसके महान कार्य नही, वरन् सामान्य कार्य होते हैं। यदि किसी व्यक्ति के चरित्र को परखना हो तो उसके सामान्य क्रियाकलापो पर ध्यान देना चाहिए, छोटे-छोटे सामान्य, दैनिक कार्य किसी व्यक्ति के वास्तविक चरित्र का बोध करा देते है। महान अवसरो पर तो छोटे या

सामान्य व्यक्ति के मन मे भी महान विचार उत्पन्न हो जाते है, किंतु वास्तव मे महान वही व्यक्ति होता है जिसका आचरण सदैव प्रत्येक स्थिति मे ऊँचा रहे।

इसके अतिरिक्त अच्छे या बुरे, जिस प्रकार के अधिक प्रभाव हमारे मन पर पडते हैं और जब वे सगठित हो जाते है तब हमारी आदत उन्ही के अनुरूप बन जाती है। आदत को प्रतिस्वभाव (Second n tu) कहा भी गया है। इन्ही आदतो और पूर्व-जन्म के सस्कारो के आधार पर मनुष्य के चरित्र का निर्माण होता है। हमारा जीवन जैसा भी है वह हमारी आदतो का परिणाम है। बुरी आदतो के रोकने का एकमात्र उपाय है अच्छी आदते डालना। उसके लिए निरतर सद्विचारो और सत्कार्यो मे लगा रहना आवश्यक है। कभी भी यह नही कहना चाहिए कि अमुक व्यक्ति बुरा है क्योकि वह केवल एक विशेष प्रकार के चरित्र या बुरी आदतो का प्रतिनिधित्व करता है और उसकी इन आदतो का सुधार अच्छी आदतो द्वारा किया जा सकता है। चरित्र बार-बार की आदतो से बनता है और अच्छी आदतो के बार-बार दुहराने से ही उसका सुधार किया जा सकता है।

चरित्र गठन की उपर्युक्त प्रक्रिया पर ध्यान देने से हमे यह पता चलता है कि अपनी सभी प्रत्यक्ष बुराइयो का कारण हम स्वय ही है। इसके लिए किसी देवी-देवता को दोषी ठहराना उचित नही है। हमे यह भी नही सोचना चाहिए कि किसी अन्य शक्ति की सहायता या परमात्मा की अनुकपा के बिना हमारा उद्धार नही हो सकता। कारण, मनुष्य की दशा रेशम के कीडो की भाँति है। जिस प्रकार रेशम का कीडा अपने भीतर के तत्वो से ही रेशम के धागे को अपने चारो ओर बुन लेता है और अत मे उसी मे बद हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य अपने स्वय के कर्म-सूत्रो मे अपने को बाँध लेता है और अज्ञान के कारण अपने को बदी समझता है। इस बधन से मुक्त होने के लिए किसी बाहरी सहायता की आवश्यकता नही है, वरन् यह सहायता हमे अपने भीतर से ही प्राप्त हो सकती है।

हम जो भूले अथवा गलतियाँ करते है उनका एक मात्र कारण हमारी दुर्बलता है और यह दुर्बलता अज्ञान से उत्पन्न होती है। इस अज्ञान का कारण भी हम स्वय ही है। उदाहरण के लिए जब हम अपनी आँखो पर हथेली रख लेते है तो अधेरा हो जाता है और जब उसे हटा लेते है तो प्रकाश दिखायी देने लगता है। यह प्रकाश तब भी वर्त्तमान था, किंतु हमे इसलिए दिखायी नही दे रहा था कि हमने अपनी आँखो को हथेली से मूँद लिया था। अत हमने स्वय अपने को अज्ञान के अधकार मे डाल रखा है। अपनी इच्छा-शक्ति का निरतर विकास और अभ्यास करने से मनुष्य ऊँचा उठ सकता है। अपनी भूलो और गलतियो के लिए बैठ कर रोने की आवश्यकता नही है, वरन् अपने चरित्र का निर्माण करने और अपने वास्तविक स्वभाव को विकसित एव पुष्ट करने की आवश्यकता है।

धार्मिक शिक्षा

स्वामी विवेकानद के धर्म-सबधी विचारो का उल्लेख, उनके जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालते समय, हम पहले कर चुके है। उनके अनुसार 'धर्म' ही शिक्षा की आत्मा है। किंतु धर्म से विवेकानद का तात्पर्य किसी धर्म-विशेष—हिंदू, बौद्ध, ईसाई—से नही है। अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहस की भाँति वह धर्म के औपनिषदिक रूप—'एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'—को स्वीकार करते है, अर्थात् सत्य तो एक ही है, परतु पडित लोग उस सत्य की व्याख्या नाना प्रकार से करते है। श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है, "किसी भी प्रकार जो मुझे प्राप्त कर लेता है, मै उसकी श्रद्धा को दृढ और अचल बनाता हूँ। मनुष्य किसी भी प्रकार मुझे प्राप्त करे, फिर भी मै उसकी सेवा करता हूँ। सभी मार्ग, 'धर्म' मेरे द्वारा बनाये गये है।" †

धर्म, एक साधना—स्वामीजी के विचार मे वास्तविक धर्म, 'सिद्धात, अधविश्वासो और शास्त्रीय तर्कों मे नही है। धर्म अनुभूति या आत्मा-साक्षात्कार है।'* जिस प्रकार केवल शल्य- चिकित्सा की पुस्तको को पढ़कर कोई व्यक्ति शल्य-चिकित्सक (सर्जन) नही बन सकता, उसी प्रकार केवल धर्मग्रथो का अध्ययन करके कोई व्यक्ति धार्मिक नही बन सकता। जिस प्रकार किसी देश का मानचित्र देखकर उस देश को देखने की जिज्ञासा की पूर्ति नही हो सकती, उसी प्रकार केवल धर्म-ग्रथ पढ़कर व्यक्ति धर्म या परमात्मा को तब तक नही समझ सकता जब तक साधना का आश्रय लेकर स्वय ईश्वर का अनुभव नही करता। जिस प्रकार किसी देश का मानचित्र हमारी जिज्ञासा को और अधिक जागृत करता है और हम उस देश के विषय मे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्सुक होते है, उसी प्रकार धार्मिक ग्रथ हमे ईश्वर का बोध करने के लिए उत्सुक बनाते है। मदिर, गिरजाघर, धर्मग्रथ आदि धर्म की अनुभूति के आरभिक सोपान है, किडर गार्टन या बाल-पोथी है, जिन्हे पढकर धर्म के उच्च क्षेत्र की ओर अग्रसर होने मे बालक को प्रोत्साहन और दृढता प्राप्त होती है। ‡

आत्म-साक्षात्कार या अनुभूति की प्राप्ति हृदय द्वारा ही हो सकती है। बुद्धि उस ऊँचे स्तर तक कभी नही पहुँचा सकती, जहाँ हृदय की पहुँच है। हृदय बुद्धि के परे उस स्तर को प्राप्त करता है जहाँ दैवी-ज्ञान का प्रकाश है। 'हमारे हृदय के माध्यम से ही ईश्वर हमे सदेश देता है।' वर्त्तमान शिक्षा का सबसे बडा दोष यही है कि यह केवल

---

† 'भगवद् गीता', अध्याय ४ श्लोक ११
* 'The Complete Works,' Vol. I, p 43
‡ 'The Complete Works,' VolI, I p 43

बौद्धिक है, इसमे हृदय का परिष्कार नही किया जाता, हृदय का प्रशिक्षण नही हो पाता, अत आधुनिक शिक्षा अधूरी है। इसका सबसे बडा दोष तो यह है कि यह अधूरी शिक्षा मनुष्य को स्वार्थी बनाती है।

धार्मिक शिक्षा की विधि—छात्रो को धार्मिक शिक्षा देने की विधि है पाठशालाओ मे सतो की पूजा, अर्चा का प्रारभ। उनके सम्मुख राम,कृष्ण और बुद्ध जैसे प्राचीन काल के महान पुरुषो तथा रामकृष्ण परमहस जैसे आधुनिक काल के महात्माओ का आदर्श रखना चाहिए, जिससे वे उनका अनुसरण कर सके। किंतु भारत की वर्त्तमान परिस्थिति मे सेवा और साहस के प्रतीक हनुमान का चरित्र आदर्श है। गीता के प्रवक्ता श्रीकृष्ण तथा शक्ति की प्रतीक दुर्गा की पूजा होनी चाहिए। श्रीकृष्ण के जीवन के लीला-पक्ष को कुछ समय के लिए स्थगित कर देना चाहिए क्योकि इससे देश मे शक्ति का पुन सचार करने मे सहायता नही मिलेगी। सगीत की कीर्तन आदि शैलियो को तत्काल छोडकर ध्रुपद आदि तालो का श्रवण करना चाहिए। कारण यह है कि कीर्तन मे लोग ढोल और करताल बजा बजाकर नाचते गाते है और आत्म-विभोरता, जो भगवत्-प्रेम की अत्यत उच्च स्थिति है और जिसके लिए पूर्ण पवित्र जीवन व्यतीत करना अनिवार्य है, की नकल करते है। इस प्रकार के छद्म व्यवहार ने लोगो को अधोगामी बनाकर घोर तमस् मे डुबा दिया, है। कीर्तन से हृदय मे केवल कोमल भाव जाग्रत होते है। परतु देश की वर्त्तमान स्थिति को ध्यान मे रखते हुए कीर्तन एव शृगाररस-प्रधान सगीत के स्थान पर ध्रुपद आदि गभीर एव वीररस-युक्त गायन की आवश्यकता है जिससे लोगो मे पौरुष की भावना का विकास हो।

स्वामीजी का दृढ विश्वास है कि वेदमत्रो की विद्युत्-ध्वनि द्वारा देश मे पुन जीवनी-शक्ति का सचार किया जा सकता है। वह बलपूर्वक आदेश करते है कि आज फिर हमे अपना प्रत्येक कार्य वीर पुरुषत्व की तपस्वी भावना से प्रेरित होकर करना चाहिए। यदि इस आदर्श के अनुकूल हम अपना चरित्र बना सके तो हजारो व्यक्ति हमारा अनुसरण करके अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर सकेगे। परतु ध्यान रहे कि आदर्श से तिल भर भी पीछे न हटना होगा, कभी भी साहस नही छोडना होगा। आहार-विहार, वेष-भूषा, खेलने-कूदने, गाने-बजाने, हर्ष-शोक आदि सभी कार्यों मे प्रत्येक को उच्च नैतिक बल का प्रदर्शन करना चाहिए और अपने मन मे क्षणभर के लिए भी दुर्बलता नही आने देनी चाहिए। 'महावीर का स्मरण करो, माँ दुर्गा का स्मरण करो, तुम देखोगे कि तुम्हारे हृदय की कायरता और दुबलता दूर हो जायेगी।'

स्वामी विवेकानद ने 'धार्मिक' होने की व्याख्या नवीन ढग से की है। प्राचीन धर्मों के अनुसार ईश्वर में विश्वास न करने वाला व्यक्ति नास्तिक है। अद्वैत की व्याख्या करते हुए स्वामीजी का कहना है कि नास्तिक वह व्यक्ति है जो 'स्वय' मे श्रद्धा या विश्वास

नही रखता है। यहाँ 'स्वय' से तात्पर्य किसी एक व्यक्ति की आत्मा से नही है, वरन् उस एक 'आत्मा' से है जो हम सभी मे व्याप्त है। यही आत्म-विश्वास ससार को उच्च स्तर पर पहुँचा सकता है। यही विश्वास हमे केवल मानव से ही नही, वरन् पशु-पक्षियो से अर्थात् प्राणीमात्र से भी प्रेम करना सिखाता है। इसी भावना से प्रेरित होकर ससार के अनेक व्यक्ति महान आत्मा बन सके। अद्वैत की इस भावना मे अद्भुत शक्ति है। यही वास्तविक धर्म है और ऐसा धर्म ही शक्ति है। धर्म के अभाव मे ही मनुष्य शक्तिहीन हो जाता है। स्वामीजी के विचार मे 'शक्तिहीनता ही पाप और बुराइयो की जननी है।' शक्तिहीन मनुष्य ही दूसरो को आघात पहुँचाने को चेष्टा करता है। अत प्रत्येक व्यक्ति को अहर्निश 'सोऽहम्' का जप करते रहना चाहिए जिससे उसे अपनी वास्तविक प्रकृति का स्मरण रहे। प्रत्येक बालक के भीतर 'सोऽहम्' का विचार आरभ ही से माँ के दूध के साथ प्रवेश करना चाहिए। अत पहले बालक इस विचार का श्रवण करे, फिर इस पर मनन करे और तत्पश्चात् यह विचार स्वयमेव उसे महान कार्य करने के लिए प्रेरित करेगा।

धार्मिक होने के लिए आवश्यक है 'सत्य बोलना' क्योकि सत्य ही शाश्वत है और यही सब आत्माओ की वास्तविक प्रकृति है। दूसरे शब्दों मे, 'सत्य ही शक्ति-स्वरूप, शुद्ध-स्वरूप एव ज्ञान-स्वरूप है। सत्य उसे ही कहा जा सकता है जो हमे शक्ति दे, प्रकाश दे और स्फूर्ति दे।' सत्य का मानदड यही है कि जो वस्तुएँ हमे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दृष्टिकोण से निर्बल बनाएँ उन्हे विष समझकर त्याग देना चाहिए। जीवन के परम एव शाश्वत सत्य हमे उपनिषदो से प्राप्त होते है। यदि हमे अपना उत्थान करना है तो उपनिषदो के सत्य को जीवन मे व्यवहृत करना होगा। इस प्रकार न केवल व्यक्ति का कल्याण होगा, वरन् समस्त भारत का उत्थान होगा।

धार्मिक बनने के लिए सबसे प्रथम आवश्यकता यह है कि मनुष्य अपने शरीर को स्वस्थ बनाये। शारीरिक दुर्बलता हमारी एक-तिहाई विपत्तियो की जननी है। स्वामी विवेकानद ने देश के नवयुवको को परामर्श देते हुए कहा है, "सबसे पहले हमारे युवको को स्वस्थ और शक्तिशाली बनना चाहिए, धर्म तो बाद की चीज है तुम गीता पढने की अपेक्षा फुटबाल खेलने के द्वारा स्वर्ग के अधिक निकट पहुँच सकते हो यदि तुम्हारे शरीर मे स्वस्थ रक्त है तो तुम कृष्ण की महान मेधा और महान शक्ति को अधिक अच्छी तरह समझ सकते हो। यदि तुम्हारा शरीर स्वस्थ है, अपने पैरो पर खडे हो सकते हो और अपने भीतर मानव-शक्ति का अनुभव कर सकते हो तो तुम उपनिषदो और आत्मा की महत्ता को अधिक भलीभाँति समझ सकोगे।'† 'शक्ति ही शिव है और दुर्बलता पाप।'‡ 'असीम शक्ति ही धर्म है।'*

† 'The complete Works', Vol. III p 242
‡ 'The complete Works', Vol III, p 120
* 'The complete Works', Vol. VII, p 11

यह असीम शक्ति हमे कहाँ से प्राप्त होगी ? उपनिषदो के दर्शन का अनुसरण करने से । स्वामीजी का कथन है कि विश्वभर मे केवल उपनिषद् ही ऐसा दर्शन है जिसमे ईश्वर या मनुष्य के लिए 'अभय' विशेषण का प्रयोग हुआ है । इस सबध मे स्वामी विवेकानद ने सिकदर महान से सबधित एक घटना का वर्णन किया है । सिकदर सिधु नदी की घाटी पर खडा एक सन्यासी से बात कर रहा था । वह सन्यासी नग्न था और शिलाखड पर बैठा हुआ था । सिकदर उस सन्यासी की प्रतिभा एव ज्ञान से अत्यधिक प्रभावित हुआ और उससे यूनान चलने का अनुरोध करने लगा । उसने सन्यासी को धन और मान आदि का लोभ दिखाया । सिकदर की बाते सुनकर सन्यासी केवल मुस्कराया और जाने मे इकार कर दिया । इस पर सिकदर ने धमकी दी कि 'यदि तुम नही चलोगे तो मै तुम्हे मार डालूंगा ।' सन्यासी ने प्रत्युत्तर मे कहा 'जितना असत्य तुम इस समय बोल रहे हो उतना असत्य तो जीवनभर भी न बोले होगे । मुझे कौन मार सकता है ? क्योकि मै अजर अमर आत्मा हूँ ।' यही 'शक्ति' हे ।

हमे शक्ति चाहिए 'और ''उपनिषद् शक्ति की खान है । उनमे इतनी शक्ति है कि वे सारे ससार मे शक्ति का सचार कर सकते है । उनके द्वारा सारे विश्व को स्वस्थ, शक्तिशाली तथा तेजोमय बनाया जा सकता है । वे दुँदुभी के स्वर मे ससार की सब जातियो और सप्रदायो के दुर्बल, दलित, दुखी व्यक्तियो को स्वावलबी तथा स्वतत्र बनने के लिए ललकारते है । 'शारीरिक स्वतत्रता, मानसिक स्वतत्रता और आध्यात्मिक स्वतत्रता' यही उपनिषदो के साकेतिक शब्द है ।''*

स्त्री-शिक्षा

स्वामी विवेकानद के समय मे स्त्री और पुरुष का स्थान बराबर नही था । स्त्रियो को पुरुषो की अपेक्षा हेय दृष्टि से देखा जाता था । उन्हे यह बात अनुचित प्रतीत हुई । स्वामीजी ने वेदात द्वारा प्रतिपादित आत्मा के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा है कि यह समझना बडा कठिन है कि इस देश मे स्त्रियो और पुरुषो मे इतना भेद-भाव क्यो किया जाता है जब कि वेदात ने यह घोषणा की हे कि प्रत्येक प्राणी मे एक ही आत्मा निवास करती है । इतिहास पर दृष्टि डालने से भी यही पता चलता है कि वेद और उपनिषद्-काल मे मैत्रेयी तथा गार्गी जैसी विदुषी नारियाँ थी जिन्हे ऋषियो का स्थान प्राप्त था । वास्तविकता यह है, उन्होने बताया कि भारत को अवनति के काल मे स्मृतियो और पुरोहितो ने स्त्रियो को उनके अधिकारो से वचित कर दिया । स्वामी विवेकानद का कथन है कि हमारे देश के पतन के जो अनेक कारण है उनमे मुख्य है शक्ति-रूपिणी नारी-जाति का निरादर । मनु ने भी कहा है कि ''जहाँ नारियो का सम्मान होता है वहाँ देवताओ का निवास होता है । जहाँ उनका अनादर होता है, वहा सारे प्रयत्न और कार्य व्यर्थ

* 'The Complete Works', Vol III, p 238

होते है। उस परिवार या देश के उत्थान की कोई आशा नही है जिसमे स्त्रियाँ दुखी रहती हैं

स्वामी विवेकानद के विचारानुसार नारी-शिक्षा के केन्द्र मे धर्म की स्थापना होनी चाहिए । स्त्रियो के लिए धार्मिक-शिक्षण चरित्र निर्माण, तथा ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है । हिंदू नारियाँ सयम या पवित्रता के अर्थ ,तथा उसके महत्व को स्वयमेव जानती है क्योकि यह विशेषता उन्हे आनुवशिक उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त है । सबसे प्रथम उनके हृदय मे आदर्श की भावना को तीव्र करना चाहिए ताकि इस आदर्श के कारण वे अपने चरित्र का निर्माण कर सके । चरित्र-निर्माण के कारण वे अपने विवाहित या अविवाहित (यदि वे अविवाहित रहना चाहे तो), जीवन की किसी भी स्थिति मे रचमात्र भी भयभीत नही होगी । अपने सयम से डिगने की अपेक्षा वे मृत्यु का वरण श्रेयस्कर समझेगी । स्वामी विवेकानद ने 'सीता' को भारतीय नारी के सतीत्व एव आदर्शों का उच्चतम प्रतीक माना है ।

शिक्षा के क्षेत्र मे बालिकाओ को बालको के समान शिक्षा देनी चाहिए । उन्हे ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे वे दूसरे के ऊपर आश्रित तथा कठिन समय मे दुखी न रह सके। बालको की भाँति बालिकाओ को भी ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। यदि वे पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन करना चाहें तो कर सकती है। पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उन्हे बौद्धिक विकास मे अपना जीवन लगाना चाहिए क्योकि यदि एक भी स्त्री ने 'ब्रह्म' का ज्ञान प्राप्त कर लिया तो उसके व्यक्तित्व की चमक से हजारो स्त्रियाँ अनुप्राणित होगी, सत्य के प्रति जागरूक होगी और इस प्रकार समाज और देश का महान कल्याण निश्चित हो जायगा । अत केवल सच्चरित्र ब्रह्मचारिणियो को ही शिक्षण का कार्य करना चाहिए ।

स्त्रियो के लिए इतिहास, पुराण, गृह-विज्ञान, कला, पारिवारिक जीवन के सिद्धात तथा विकास मे सहायक ग्रथो का अध्ययन उचित है । इनके अतिरिक्त उन्हे सिलाई, पाककला, पारिवारिक कार्यों के नियम तथा शिशु-पालन की शिक्षा भी दी जानी चाहिए । जप, पूजा, उपासना आदि उनकी शिक्षा के अनिवार्य अग होने चाहिए। पठन-पाठन के साथ ही उन्हे वीरता और शौर्य का भाव भी ग्रहण करना उचित है। आज उनके लिए आत्मरक्षा की कला सीखना भी आवश्यक हो गया है । इस सबध मे विवेकानद ने झाँसी की रानी की प्रशसा की है । आज के युग की पुकार है कि माताएँ पवित्र एव निर्भय बनें, प्राचीन नारियो—सघमित्रा, लीला अहिल्याबाई, मीराबाई—की परपरा कायम रखें तथा वीर पुत्रो को जन्म दे । यदि नारियाँ पवित्र, विदुषी एव वीरागना होगी तो उनके द्वारा उत्पन्न पुत्र अपने सत्कार्यो द्वारा देश को महिमामडित करेंगे और तभी देश मे सभ्यता, सस्कृति, ज्ञान, शक्ति और भक्ति की भावना जाग्रत होगी ।

सर्वसाधारण के लिए शिक्षा

स्वामी विवेकानद देश की अशिक्षित, अर्द्ध बुभुक्षित, अर्द्ध नग्न जानता को देख कर अत्यत दुखी थे। सर्वसाधारण की ऐसी उपेक्षा को वह राष्ट्रीय अपराध मानते थे। जनता की इसी दुरवस्था को वह देश के पतन का कारण मानते थे। कोई राष्ट्र उसी अनुपात मे उन्नत माना जाता है जिस अनुपात मे वहाँ के लोग शिक्षित एव प्रबुद्ध होते है। अत हमारा प्रथम कर्त्तव्य है जनता के विसर्जित व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण। इसके लिए रास्ता यह है कि हमारे जिन ग्रथो मे महान आध्यात्मिक शक्ति का भडार सचित है उनको थोडे-से व्यक्तियो के एकाधिकार से बाहर निकाल कर सामान्य जनता तक पहुँचाया जाय। उन ग्रथो को सस्कृत भाषा के द्वारा नही, वरन् जनता की अपनी भाषाओ के माध्यम से प्रस्तुत किया जाय क्योकि सब लोगो के लिए सस्कृत का ज्ञान कठिन है। 'उन्हे केवल मूल विचारो से परिचित कराना है, प्रभाव के रूप मे शेष वे सब समझ लेंगे।' उन्हे यह ज्ञात होना चाहिए कि धर्म पर उनका भी वही अधिकार है जो ब्राह्मणो का। सामान्य जनता को यह अनुभव करना चाहिए कि वह भी दिव्य प्रकाश-रूप ईश्वर का अश है। 'वेदात की इन अवधारणाओ को जगलो और गुफाओ से बाहर आना चाहिए। उन्हें न्यायालयो, झोपडियो तथा मछुओ, विद्यार्थियो आदि विभिन्न वर्गो की सामान्य जनता तक पहुँचना चाहिए।' वेदात की शिक्षाएँ सब के लिए है, चाहे किसी का व्यवसाय कुछ भी हो। यह पूछा जा सकता है कि मछुए या सामान्य जन उपनिषद् के विचारो को कैसे व्यावहारिक रूप दे सकते है? इसके लिए भी मार्ग बताया गया है। 'यदि मछुआ अपनी आत्मा को समझता है तो वह एक कुशल मछुआ होगा। यदि एक विद्यार्थी अपनी आत्मा को समझता है तो वह बुद्धिमान विद्यार्थी होगा।' यह तो सत्य है कि जैसे विचार होते है मनुष्य वैसे ही कार्य करता है। अत अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने पर व्यक्ति उसी के अनुरूप कार्य करने की चेष्टा करेगा।

सामान्य जनता के उत्थान के लिए स्वामीजी यह आवश्यक समझते है कि लोगो को अपनी दशा सुधारने का ज्ञान होना चाहिए। उन्हे यह जानना चाहिए कि ससार में उनके चारो ओर क्या हो रहा है, तभी उनमे उन्नति करने के लिए भावनाएँ एव विचार जाग्रत हो सकेंगे। इस उद्देश्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन है, जनता को शिक्षित करना। उन्हे गाँव-गाँव, घर-घर जाकर ही शिक्षा देनी होगी। कारण यह है कि गाँव के बालको को जीविकार्जन के हेतु अपने पिता के साथ खेत पर काम करने के लिए जाना पडता है, वे शिक्षा-प्राप्त करने विद्यालय नही आ पाते है। इस सबध मे स्वामी जी सुझाव देते है कि यदि सन्यासियो मे से कुछ को धर्मेतर विषयो की शिक्षा प्रदान करने के लिए भी सगठित कर लिया जाय तो बडी सरलतापूर्वक घर-घर घूम कर वे अध्यापन तथा धार्मिक शिक्षा दोनो काम कर सकते है। कल्पना कीजिए कि दो सन्यासी कैमरा, ग्लोब, कुछ मानचित्रो के साथ सध्या समय किसी गाँव मे पहुँचे है। इन साधनो के

द्वारा वे अशिक्षित जनता को भूगोल, ज्योतिष आदि की शिक्षा देते है। इसी प्रकार कथा-कहानियो के द्वारा दूसरे देश के सबध मे अपरिचित जनता को वे इतनी बाते बताते है जितनी वे पुस्तक द्वारा अपने जीवनभर मे भी नही सीख सकते। क्या इन वैज्ञानिक साधनो द्वारा आज की जनता के अज्ञानमय अधकार को शीघ दूर करने का यह एक उपयुक्त सुझाव नही है ? क्या सन्यासी स्वय इस लोक-सेवा द्वारा अपनी आत्मा की ज्योति को और अधिक प्रदीप्त नही कर सकते ? इस प्रकार सन्यासियो के समय का सदुपयोग होगा और जनता में शीघ्रातिशीघ्र नवीन चेतना का सचार होगा। स्वामीजी कहते है कि जनता को इतिहास भूगोल, विज्ञान और साहित्य की शिक्षा के साथ और इन्ही के द्वारा धर्म के पूर्ण सत्य का ज्ञान कराना चाहिए। जनता को वाणिज्य-व्यवसाय आदि के क्षेत्र मे होने वाले नये अन्वेषणो का परिचय भी कराना चाहिए।

शिक्षा के माध्यम के सबध मे स्वामीजी का विचार है कि जनसाधारण को उनकी मातृभाषा द्वारा ही शिक्षा दी जानी चाहिए। उनका कहना है 'उन्हे विचार दो, सूचनाओं का सग्रह वे स्वय कर लेगे।' परतु जन-साधारण की उन्नत स्थिति को स्थिर रखने के लिए उन्हे शिक्षा के साथ एक और वस्तु की आवश्यकता है और वह है 'सस्कृति'। मनुष्यो को सुसस्कृत होना चाहिए। उन्हे अपनी सस्कृति से पूर्णरूप से न केवल परिचित होना चाहिए, वरन् सस्कृति का पालन करना चाहिए। जब तक सामान्य जनता का सास्कृतिक विकास न होगा तब तक उनकी स्थिति मे स्थायित्व नही आ सकता।

मातृ-भाषा और अपने देश की सस्कृति का समर्थन करने के साथ-साथ स्वामीजी सस्कृत भाषा एव शिक्षा के प्रति अगाध श्रद्धा रखते थे। वह सामान्य शिक्षा के साथ सस्कृत की शिक्षा भी आवश्यक मानते थे क्योकि 'सस्कृत शब्दो की ध्वनि ही जाति को सम्मान, बल एव शक्ति प्रदान करती है।' स्वामी विवेकानद के अनुसार गौतम बुद्ध ने यह बडी भारी भूल की कि उन्होने जनता के लिए सस्कृत भाषा के अध्ययन के प्रति उपेक्षा का भाव अपनाया। यद्यपि यह तो उन्होने बुद्धिमानी की कि अपने विचारो को जनता तक शीघ्रातिशीघ्र पहुँचाने के लिए 'पाली' भाषा का आश्रय लिया, तथापि इसके साथ ही साथ उन्हे 'सस्कृत' भाषा का भी प्रचलन करना चाहिए था।

जीवन-दर्शन पर आधारित शिक्षा-संस्थाएँ

शिक्षा-सस्थाएँ दो प्रकार की होती है—अविधिक और सविधिक। अविधिक सस्थाओ के अतर्गत घर, समाज, मठ, सघ आदि आते है और सविधिक के अतर्गत पाठशाला, विद्यालय और गुरुकुल आदि। स्वामी विवेकानद और उनके अनुयायियो द्वारा स्थापित मठ और समितियो की गणना अविधिक शिक्षा देने वाली सस्थाओ मे है।

स्वामी विवेकानद ने श्रीरामकृष्ण परमहस की शिक्षा का प्रसार करने के लिये सन

१८९७ ई० मे 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। उनके समय मे भारत मे सबसे पहले वेल्लूरमठ (हावडा) और तत्पश्चात् अद्वैतआश्रम (अल्मोडा) की स्थापना हुई। स्वामीजी ने वेदात के प्रचार के लिए न्यूयार्क, अमेरिका मे भी 'वेदात सोसायटी' की स्थापना की। स्वामीजी द्वारा स्थापित 'रामकृष्ण मिशन' के निम्नाकित उद्देश्य है —

१ वेदात के अध्ययन तथा श्रीरामकृष्ण परमहस द्वारा निरूपित वेदात के सिद्धातो के अध्ययन की उन्नति और प्रसार करना। व्यापक रूप मे धर्मशास्त्रो का तुलनात्मक अध्ययन करना।

२ कला, विज्ञान और औद्योगिक विषयो के अध्ययन की उन्नति तथा उनकी शिक्षा का प्रसार करना।

३ उपर्युक्त विषयो मे, अध्यापको का प्रशिक्षण तथा उन्हे जनता तक पहुँचने मे समर्थ बनाना।

४ जनता मे शैक्षिक कार्य करना।

५ विद्यालयो, कालेजो, अनाथालयो, कारखानो, प्रयोगशालाओ तथा अस्पतालो आदि की स्थापना, उनका सचालन तथा उनकी सहायता।

६ उपर्युक्त कार्यो की उन्नति के लिए पुस्तक-पुस्तिकाओ का मुद्रण, प्रकाशन और विक्रय करना।

'रामकृष्ण मिशन' की कई सौ शाखाएँ आज भारत के सभी प्रदेशो मे फैली हुई है जो वेदात की शिक्षा देने के साथ ही स्कूल, कालेज, अस्पताल आदि चलाती है। भारत के अतिरिक्त बर्मा, श्रीलका, फिजी, मारीशस, अमेरिका, दक्षिण अमेरिका, इगलैड और फ्रास मे भी रामकृष्ण मिशन की शाखाएँ वेदात के प्रसार तथा ससार की भलाई का कार्य कर रही है।

सहायक साहित्य

स्वामी विवेकानन्द

1 *Education*
2. *Women of India*
3 *Teachings of Swami Vivekananda*
4. *Jnana-Yoga*
5. *Raja Yoga*
6. *Karma-Yoga*
7. *Bhakti-Yoga*
8. *The Practical Vedanta.*
9 *Realisation and Its Methods*
10 *The Science and Philosophy of Religion*
11 *Essentials of Hinduism*
12 *Advaita Vedanta*
13 *Powers of the Mind*
14 *The Complete Works of Swami Vivekananda [Eight Volumes]*
15. *Is Vedanta the Future Religion ?*

मदनापल्ली ट्रस्ट

दक्षिण मे मदनापल्ली कालेज का स्थापना एनी बेसट के प्रयत्नो मे हुई, जा आगे चलकर एक ट्रस्ट के रूप मे परिणित हो गया। इस ट्रस्ट के अतर्गत मदनापल्ली कालेज तथा अन्य चार स्कूलो का सचालन होता है। यह कालेज प्रथम श्रेणी का शिक्षा सस्थान है।

ऋषिवैलो ट्रस्ट

थियोसोफिकल एजूकेशनल ट्रस्ट तथा ऋषिवेलो ट्रस्ट के अतर्गत बनारस मे चार विद्यालय चल रहे है, जिनमे बेसेट इटर कालेज, और बेसेट मेमोरियल हाई स्कूल मुख्य है। इन विद्यालयो मे एनी बेसेट के आदर्शों के अनुरूप शिक्षा का आयोजन किया गया है।

सहायक साहित्य

एनी बेसेट

1 *Man And His Bodies, Theosophical Manual No VII*
2 *The School-boy as a Citizen*
3 *Higher Education in India*
4 *Essentials of an Indian Education Vol 7*
5. *Principles of Education*
6. *The Besant Spirit, Vol 2*
7. *Dharma*
8. *Indian Ideals in Education*
9 *Brahma Vidya, Divine wisdom*
10 *A word on man, his Nature and his Powers*
11 *Education as a National Duty*
12 *Education for Indian Girls*
13 *Hindu Ideals*
14 *Education for the New Era*
15 *Education in the Light of Theosophy*
16 *The Wisdom of the Upanisads, Convocation Lecture of 1906*

अन्य लेखक

1. Yudhisthir Kumar *Annie Besant as an Indian Educator*
2. Bhagwan Das *Annie Besant and the Changing World*
3. Sri Prakash : *Annie Besant, A Woman and Leader*, 1941
4. Besterman *Mrs. Annie Besant, A Modern Prophet*, 1934

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

शिक्षा सम्बन्धी विचारों पर दार्शनिक

जीवन और कार्य

कालिदास और तुलसी के बाद भारत की महान् कवि परपरा मे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर एक मात्र ऐसे कवि हुए जिन्होने विश्व जनीन भावो को अपने काव्य के माध्यम से व्यक्त करके विश्व कवि का उच्च स्थान प्राप्त किया। वह प्रतिभा के धनी, भारतीय सस्कृति के महान गायक थे, जिनके गीतो के स्वरो ने देश-काल की सीमाओ को तोड कर अपनी व्यापकता, उदारता और रहस्यमयता का परिचय ससार को दिया। उनके काव्य मे प्राचीन ऋषियो की तेजस्विता, सतो की सरलता, सूफियो की प्रेम विह्वलता और वैष्णवो का आत्मनिवेदन एक साथ समन्वित रूप मे मुखरित हुआ है। यही कारण है कि परतत्रता के दिनो मे भी उन्होने भारतीय सस्कृति और आत्मा का सदेश सारे जगत को दिया तथा देश के गौरव को पुन स्थापित किया।

जन्म और बाल्यकाल

रवि ठाकुर का जन्म बगाल के प्रसिद्ध ठाकुर वश मे सन् १८६१ ई० मे कलकत्ते में हुआ था। ठाकुर परिवार अपनी समृद्धि, विद्या कला और सगीत के लिए सपूर्ण बगाल मे विख्यात था। कवि के दादा प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुर और उनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ इस परिवार के दो सम्माननीय व्यक्ति थे। प्रिंस द्वारिकानाथ ठाकुर यदि अपनी सम्पत्ति के कारण प्रसिद्ध थे तो महर्षि देवेन्द्रनाथ विद्वत्ता, देशभक्ति, धर्म प्रियता और साधुता के कारण पूज्य थे। अपने वश के इन दोनो पुरुषो के गुण कवि को उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त हुए। रवीन्द्रनाथ अपने कई भाई-बहिनो मे सबसे छोटे थे, किंतु आगे चलकर अपने यश से इन्होने न केवल ठाकुर परिवार, वरन् सपूर्ण देश में अपने को वरेण्य सिद्ध कर दिया।

इतने सपन्न परिवार मे जन्म लेने पर भी रवीन्द्रनाथ का पालन-पोषण विलासिता-पूर्वक नही हुआ। इन्होने लिखा है, "हमारे जीवन मे भोग-विलास का आयोजन नही के बराबर था। कुल मिलाकर तब की जीवन-यात्रा आज से बहुत सीधी-सादी थी। हम लोग थे नौकरो के ही शासन-अधीन। अपने कर्त्तव्य को सरल करने के लिए उन लोगो ने हमारा हिलना-डुलना एक प्रकार से बद कर दिया था। हमारे आहार मे शौकीनी की गध भी नही थी। कपडे-लत्ते भी इतने ज्यादा साधारण थे कि आजकल के लडको के सामने उसकी सूची रखने मे सम्मानहानि की अशका होती है। दस साल की उमर के पहले कभी भी किसी दिन किसी कारण से मोजे नही पहने और जाडे के दिनो मे एक सफेद कुरता—कमीज पर—और एक सफेद कोट काफी था।"† इस उद्धरण से इनके सादे जीवन का अनुमान किया जा सकता है। नौकरो द्वारा लगाये गये प्रतिबध के प्रति अपनी प्रतिक्रिया का उल्लेख करते हुए इन्होने कहा, "उधर, बधन कितना ही कठिन क्यो न हो, अनादर या अ-लाड एक जबर्दस्त स्वाधीनता है, और उस स्वाधीनता से हमारे मन मुक्त थे।" अपने बाहर वाले मकान की दूसरी मजिल पर दक्षिण-पूर्व कोने के कमरे मे नौकरो के बीच इनके दिन कटते थे। नौकरो के कठोर प्रतिबध तथा बाहर न जाने देने के कारण इनका जीवन एकात मे ही व्यतीत होता था। वह खिडकी से प्रकृति के दृश्यो को देखा करते और उनमे लीन रहते। उनके शब्दो मे "खिडकी के नीचे ही एक पक्के घाट वाला तालाब था। उसके पूरब की तरफ चहार-दीवारी से सटा हुआ एक बडा-भारी चीनी वटवृक्ष था, और दक्षिण की तरफ नारियल के पेडो की कतार। लकीर-बधन मे बदी मै खिडकी की झिलमिली खोल कर प्राय दिन भर उस तालाब को 'तसवीरो वाली किताब' की भाँति देखता हुआ बिता देता था।"‡ इस एकात जीवन और प्रकृतिनिरीक्षण का परिणाम यह हुआ कि रवीन्द्रनाथ बचपन से ही गभीर और चिन्तनशील बन गये।

शिक्षा

अपने भाई और भानजे को स्कूल जाते देखकर रवीन्द्र ने भी पढने जाने के लिए हठ किया। यह हठ पढने के विचार से नही वरन् बाहर निकल पाने की अभिलाषा से था। विद्यालय जाने के लिए यह रोने लगे। इस समय का वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है, "मेरा मन घर से बाहर निकलने के लिए फडफडा उठा। जो हमारे शिक्षक थे, उन्होने मेरे मोह का विनाश करने के लिए प्रबल चपेटाघात के साथ एक सारगर्वित वाक्य सुनाया, 'अभी तो स्कूल जाने के लिए रो रहे हो, किसी दिन नही जाने के लिए,

---

† रवीन्द्र साहित्य, भाग १८ जीवन-स्मृति पृष्ठ ८

‡ ,, ,, ,, १०

इससे बहुत ज्यादा रोना पडेगा।' उस दिन का वह गुरु-वाक्य और गुरुतर चपेटा-घात आज भी मेरे मानस-पट पर स्पष्ट जागृत है। इतनी बडी अव्यर्थ भविष्यवाणी मेरे जीवन मे और किसी दिन कर्णगोचर न हुई।''

सर्वप्रथम इन्हे ओरिएटल सेमेनरी स्कूल मे भर्त्ती किया गया, किंतु यहाँ इनका मन नही लगा। यहाँ के वातावरण से इनका कोमल मन त्रस्त हो गया। 'पाठ न सुना सकने पर विद्यार्थी को वहाँ बेच पर खडा करके उसके दोनो हाथ पसार कर उन पर कक्षा की बहुत-सी सिलेटें इकट्ठी करके लाद दी जाती थी।' नौकरो के बीच भी इनकी शिक्षा चलती थी। उन्ही के बल पर इनकी साहित्य-चर्चा का आरभ हुआ। चाणक्य के श्लोको का बगला अनुवाद और रामायण का पाठ नौकरो के बीच होता था। इस समय रवीन्द्रनाथ की अवस्था सात-आठ वर्ष की थी, किंतु इसी आयु मे उनके हृदय मे कवित्व का बीजारोपण हो चुका था।

ओरिएटल सेमेनरी मे अधिक दिनो तक इनकी शिक्षा नही हुई। उसके बाद यह नार्मल स्कूल मे भर्ती किये गये। नार्मल स्कूल मे विद्यालय का कार्य आरभ होने के पूर्व गैलरी मे बैठकर सब लडके सस्वर कविता पाठ करते थे। ऐसी व्यवस्था सभवत मनोरजन के लिए की गयी थी। कविता के शब्द और स्वर दोनो अग्रेजी के थे। इस सबध मे उन्होने लिखा है, ''मेरी कुछ समझ मे न आता था कि हम क्या मत्र पढ रहे है और कौन सा अनुष्ठान कर रहे है। प्रतिदिन वही एक अर्थहीन राग अलापना मेरे लिए सुखदायक नही था।''† ''क्रमश नार्मल स्कूल की स्मृति जहाँ धुधली अवस्था पार करके परिस्फुट होने लगती है वहा किसी भी अश मे वह लेशमात्र मधुर नही मालूम होती।''‡ यहाँ लडको का सपर्क इतना अशुचि और ऐसा असम्मानप्रद था कि रवीन्द्रनाथ दोपहर का अवकाश का समय नौकर के साथ अकेले मे बिताते थे। यहाँ के वातावरण से यह इतना ऊब चुके थे कि मन ही मन सोचते थे कि एक साल, दो साल, तीन साल, और भी, न मालूम कितने साल इस तरह बिताने पडेगे। एक शिक्षक के विषय मे इन्होने लिखा है, ''शिक्षको में एक की बात मुझे याद हैं, वे ऐसी कुत्सित भाषा का प्रयोग किया करते थे कि उनके प्रति अश्रद्धावश उनके किसी प्रश्न का मै उत्तर ही नही देता था।''* सभवत बचपन के यही कटु अनुभव इनके मन मे जमते गये और फलस्वरूप आगे चल कर इन्होने आजीवन शिक्षा सुधार के लिए प्रयत्न किया तथा आदर्श शिक्षा सस्था के रूप में 'विश्व-भारती' की स्थापना की।

---

† रवीन्द्र साहित्य, भाग १८ 'जीवन-स्मृति पृष्ठ २३

‡ वही पृष्ठ २४

* वही

रवीन्द्रनाथ की शिक्षा की व्यवस्था स्कूल से अधिक घर पर की गयी थी। समुचित शिक्षा-दीक्षा के लिए घर पर नाना विद्याओ का आयोजन किया गया था। सस्कृत, बगला, अग्रेजी, चित्रकला, सगीत और तत्वदर्शन आदि की शिक्षा के लिए अलग-अलग अध्यापक नियुक्त थे। ६ बजे प्रात काल से लेकर ९ बजे रात तक पढाई का यह क्रम चलता था। अनवरत शिक्षा का यह क्रम कितना कठिन और अरुचिकर रहा होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।

यज्ञोपवीत एव देश-भ्रमण

बारह वर्ष को अवस्था मे रवीन्द्रनाथ का यज्ञोपवीत सस्कार विधिपूर्वक हुआ। इसी वर्ष इनके पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ देश-भ्रमण के लिए निकले और इन्हे अपने साथ लेते गये। कवि के जीवन पर इस यात्रा का बडा प्रभाव पडा और इसने इनकी काव्य-प्रतिभा को विशेष प्रेरणा प्रदान की। प्रयाग, कानपुर, अमृतसर आदि स्थानो की यात्रा करते हुए यह डलहौजी गये। डलहौजी की पर्वतीय छटा को देखकर रवीन्द्रनाथ मुग्ध हो गये। इस यात्रा मे इनके पिता ने इनको शिक्षा-दीक्षा का भी ध्यान रखा। वह इन्हे अग्रेजी, सस्कृत आदि की शिक्षा स्वय देते थे। डलहौजी मे कवि ने मुक्त रूप से पर्वत की घाटियो और चोटियो का भ्रमण किया। यह अवसर इनके जीवन का प्रथम सुखद एव स्वच्छद काल था।

विदेश यात्रा

रवीन्द्रनाथ के मँझले भाई श्री सत्येन्द्रनाथ अहमदाबाद मे जज थे। उनकी पत्नी ज्ञानदानन्दिनी अपने बच्चो के साथ इगलैड मे थी। सन् १८७८ ई० मे सत्येन्द्रनाथ को भी इगलैड जाना था, अत वह रवीन्द्रनाथ को उच्च शिक्षा के लिए अपने साथ लेते गये। इस समय इनकी अवस्था सत्रह साल की थी। छ महीने तक भाई के साथ अहमदाबाद और बबई मे रहने के उपरात वह इगलैड रवाना हो गये। वहाँ ब्राइटन के पब्लिक स्कूल मे यह भर्त्ती हो गये। इस स्कूल मे यह बहुत दिन नही रह सके। इसमे स्कूल का कोई दोष नही था। उन दिनो तारकनाथ पालित लदन मे थे। उन्होने रवीन्द्रनाथ को लदन बुला लिया। लदन मे, एक मकान मे रवीन्द्रनाथ अकेले रहते थे और हारमोनियम पर स्वर-साधना करते थे तथा एक अध्यापक से लेटिन की शिक्षा प्राप्त करते थे। इस शिक्षा से कुछ सीखने का अवसर इन्हे न मिल सका। तत्पश्चात् यह वर्कर नामक एक अध्यापक से शिक्षा लेने लगे, किंतु कुछ समय बाद अपनी भाभी का बुलावा पाकर टौर्की नामक स्थान को चले गये। साराश यह कि विद्यालय की शिक्षा के नाम पर रवीन्द्रनाथ के हाथ कुछ भी नही लगा। हाँ, वहाँ भी यह काव्य-रचना और अग्रेज़ी साहित्य के अध्ययन मे दत्तचित्त रहे। सन् १८८० ई० मे यह पुन स्वदेश

लौट आये। कानून की शिक्षा प्राप्त करने के ध्येय से रवीन्द्रनाथ सन् १८८१ ई० मे पुन इगलैड गये, किंतु वहा जाकर इनका विचार परिवर्तित हो गया और वह फिर भारत चले आये।

गार्हस्थ्य जीवन

अब रवीन्द्रनाथ का विवाह हो गया और इनके पिता ने जमीदारी की देखभाल तथा व्यवस्था का भार इन्हे सापा। यद्यपि रवीन्द्रनाथ बडे जमीदार के पुत्र थे, फिर भी अपनी प्रजा के साथ उनका व्यवहार बडा सुन्दर था। किसानो के कष्टो को दूर करने के लिए वह उपाय सोचा करते थे। उनका कहना था कि 'इन असहाय, दुखी और सरल किसानो तथा मज़दूरो को अपना भाई समझने मे मुझे सुख प्राप्त होता है।' प्रजा का कष्ट निवारण करते हुए इन्होने ज़मीदारी की उन्नति और सुव्यवस्था की। जमीदारी के कार्यो मे व्यस्त होते हुए भी यह काव्य-रचना और साहित्य-साधन मे लगे रहे। समय के साथ-साथ इनकी कल्पना प्रौढ होती गयी और इनकी रचनाएँ साहित्य के सम्मुख उपस्थित होती रही। जमीदारी के कार्यो मे यह कई वर्षो तक लगे रहे। इसी बीच इनकी पत्नी, पुत्री और सबसे छोटे पुत्र का देहात हो गया। यद्यपि इन दु खद घटनाओ का कवि के जीवन पर बडा प्रभाव पडा, तथापि इन्होने अपने को सयमित रखा और अपने को परोप-कार आदि के कार्यो मे व्यस्त रख कर शोक को विस्मृत करने का प्रयत्न किया।

इन दिनो की अपनी अनुभूतियो की चर्चा करते हुए कवि ने लिखा है, 'इतने मे न जाने कहाँ से इस मृत्यु ने आकर अत्यन्त प्रत्यक्ष जीवन के एक प्रात मे क्षणभर मे दरार कर दी, और तब सहसा मै कैसा हक्का-बक्का-सा हो गया। सोचने लगा, यह क्या! यह कैसा गोरखधधा!' 'फिर भी, इस दु सह दु ख के भीतर से मेरे मन मे एक आकस्मिक आनन्द की हवा बहने लगी। इससे मुझे बडा आश्चर्य होता। जीवन बिल्कुल अविचलित निश्चित नही, इस दु ख के सवाद से भी मन का भार हलका हो गया।'

शन्तिनिकेतन की स्थापना

बोलपुर के समीप रवीन्द्रनाथ के पिता ने थोडी जमीन खरीदी थी और वही एक छोटा-सा मकान भी बनवाया था। यह स्थान उन्हे बडा प्रिय था। इस मकान का नाम-करण उन्होने 'शातिनिकेतन' किया था। सन् १९०१ ई० मे कवि ने यहाँ एक स्कूल खोला और स्वय भी इसमें शिक्षक का कार्य करने लगे। अपने शिक्षा-काल मे उन्हे विद्या-लयो की शिक्षा का जो कटु अनुभव हुआ था और शिक्षा के विषय मे उनकी जो धारणा बन गई थी उसी आधार पर उन्होने इस स्कूल मे शिक्षा की योजना कार्यान्वित की। इन्होने बालकों को पूर्ण स्वतत्रता देकर यहाँ शिक्षा के क्षेत्र मे एक नवीन प्रयोग आरभ किया। शिक्षा के विभिन्न अगो के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था यहाँ की गयी जिसमे

विभिन्न देशो के अध्यापक आये। उदारता और विभिन्न सस्कृतियो के सगम-स्थल के रूप मे शातिनिकेतन दिन प्रति दिन उन्नति करता गया और 'विश्वभारती' के रूप मे वह आज शिक्षा की अद्वितीय सस्था के रूप मे वर्त्तमान है।

राजनीति के क्षेत्र मे

रवीन्द्रनाथ राजनीतिक व्यक्ति नही थे, सक्रिय राजनीति मे उन्होने विशेष भाग नही लिया, किन्तु देशभक्त थे और देशसेवा करने का उनका अपना ढग था। वह राजनीति के प्रवक्ता नही थे, किन्तु उन्होने अपनी रचनाओ द्वारा देश मे जागरण उत्पन्न किया। आज से कितनी वर्षों पूर्व उन्होने जो गीत लिखा वह आज हमारा राष्ट्रीय गान है। शातिनिकेतन का कार्य करते हुए उन्होने राजनीति मे भी रुचि ली। ग्रामसुधार और हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की ओर उन्होने सदैव ध्यान दिया। वग भग के दिनो मे, जब पूरे बगाल और समस्त देश मे विदेशी शासन के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हो रही थी, तब उन्होने सक्रिय राजनीति मे भी भाग लिया। उन्होने स्वदेशी आदोलन मे भी भाग लिया और देश की जनता को प्रोत्साहित किया। सन् १६१६ ई० मे जब जनरल डायर ने जलियाँवाला बाग मे पजाब के निरीह प्राणियो पर अमानुषिक अत्याचार किया तब इस अत्याचार से रवीन्द्र का हृदय काप उठा। उन्होने अग्रेजी सरकार के इस कुकृत्य के विरोध मे सरकार द्वारा प्रदत्त 'सर' की उपाधि को वापस कर दिया। गाधी जी और गुरुदेव मे मैत्री थी और वे दोनो सत्य एव अहिसा मे विश्वास करते थे, किन्तु खादी के प्रश्न पर वह गाँधी जी से मतैक्य स्थापित न कर सके। खादी के विषय मे किया गया गाधी-रवीन्द्र पत्रव्य-वहार बडा प्रसिद्ध है और उसके पढने से दोनो के विचारो का पूरा ज्ञान होता है।

पुरस्कार और उपाधियाँ

महान् कवि और साहित्यकार के रूप मे रवीन्द्रनाथ की ख्याति देश की सीमाओ का अतिक्रमण करके विदेशो मे धीरे-धीरे फैलने लगी। विश्व के अन्य साहित्यकार उनकी रचनाओ की ओर आकर्षित हुए और अन्य देशो मे उनके प्रशसको की सख्या बढने लगी। शातिनिकेतन का कार्य करते हुए उन्होने 'गीताजलि' और 'साधना' की रचना की। 'गीताजलि' की बँगला रचनाओ को उन्होने अग्रेजी मे अनुवाद किया। सन् १६१२ ई० मे रवीन्द्र पुन इगलैड गये। वहाँ सुप्रसिद्ध चित्रकार राटेन्स्टाइन तथा कवि यीट्स आदि से इनका सपर्क हुआ। उन्होने 'गीताजलि' को पढा और उसके महत्त्व को समझा। सन् १६१३ ई० मे ५० वर्ष की अवस्था मे कवि को 'गीताजलि' पर 'नोबेल पुरस्कार' प्राप्त हुआ। पुरस्कार का सारा धन कवि ने शातिनिकेतन की उन्नति मे लगा दिया। तत्पश्चात् कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इन्हे डी० लिट्० की उपाधि तथा सन् १६१४ ई० में भारत सरकार ने 'सर' की उपाधि से विभूषित किया। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कवि ने सन् १६१६ ई० मे 'सर' की उपाधि लौटा दी।

दिग्‌विजय

रवीन्द्र ने ससार के जितने देशो का भ्रमण किया और उन्होने जो सम्मान प्राप्त किया वह ससार के विरले व्यक्तियो को ही मिला होगा। एक ही बार नही कई बार सारे विश्व का परिभ्रमण किया और विश्व को भारतीय प्रेम और सौहार्द्र का सदेश दिया। सन् १९२० ई० मे वह पुन योरोप और अमेरिका गये। दोनो महाद्वीपो मे इनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगेन मे वहाँ के छात्रो ने इनके सम्मान मे दीपोत्सव मनाया तथा जुलूस निकाला। स्वीडेन मे इनका सम्मान हुआ और जर्मनी की राजधानी बर्लिन मे, विश्वविद्यालय से भाषण देकर जब यह बाहर आये तो लगभग पन्द्रह हजार सुशिक्षित व्यक्ति इनके सम्मान मे बाहर खडे थे, जिन्हे हाल मे खडे होने का सुयोग नही मिल सका था।

योरोप परिभ्रमण के पश्चात् इन्होने एशियाई देशो की यात्रा की। बर्मा, मलाया, जावा आदि देशो की यात्रा करते हुए यह चीन गये। चीन मे कवि का हार्दिक स्वागत हुआ। इसी यात्रा मे वह जापान, बाली और कबोडिया भी गये। उन्होने मध्यपूर्व के देशो की भी यात्रा की और इस प्रकार सारे विश्व मे भारत को प्रतिभा का उज्ज्वल प्रकाश विकीर्ण किया।

सन् १९२८ ई० मे ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालय ने उन्हे 'हिबर्ट व्याख्यानमाला' मे दर्शन के ऊपर व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया। यह स्मरण रखने की बात है कि इसके पूर्व इस व्याख्यानमाला मे किसी अन्य भारतीय को आमन्त्रित नही किया गया था। ऑक्सफर्ड मे व्याख्यान देकर कवि ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया।

सन् १९३० ई० मे कवि ने रूस की यात्रा की। यह वहाँ की व्यवस्था से बडे प्रभावित हुए। रूस के साम्यवादी शासन के विषय मे कवि ने अपने मित्रो को बहुत से पत्र लिखे जो बाद मे सग्रह के रूप मे 'रूस की चिट्ठी' के नाम से प्रकाशित हुए। रवीन्द्र ने वहाँ कई भाषण दिये और अपनी रचनाएँ पढकर सुनायी।

रचनाएँ

रवीन्द्रनाथ प्रतिभा के मूर्त रूप थे। उन्होने अपनी लेखनी से साहित्य के विभिन्न अगो की पुष्टि की और नवीन रचनाओ से साहित्य कोष को सपन्न बनाया। काव्य, नाटक, कहानी, आलोचना, बाल-साहित्य और चित्रकला आदि सभी विषयो पर रचनाएँ की और इन सभी क्षेत्रो मे उन्हे अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई। अपने जीवन के अत तक कवि कर्म मे व्यस्त रहे। 'सध्यासगीत' 'प्रभात सगीत' 'प्रकृति प्रतिशोध' 'कल्पना' 'सिंधु' 'मानसी' 'सोनारतारी' 'मालिनी' 'गीताजलि' 'लिपिका' और 'मुकुटधर' आदि रवीन्द्र के प्रसिद्ध ग्रथ है।

रवीन्द्र ने वैष्णव भक्तो की भाँति पदो की रचना की जिनमे उन्होने अपने हृदय की समस्त निरीहता, कोमलना, विनय और करुणा को उँडेल दिया है। उन्होने न केवल सुशिक्षित एव साहित्यिक व्यक्तियो के लिए लिखा, वरन् बच्चो के लिए भी बालोपयोगी साहित्य की रचना की क्योकि बालको की शिक्षा की ओर उनका विशेष ध्यान था। रवीन्द्रनाथ ने सगीत और कला मे नई शैली का प्रवर्त्तन किया। इस शैली मे सरलता, सरसता और आधुनिकता है। यद्यपि बाल्यावस्था मे उन्हे चित्रकला की शिक्षा मिली थी, तथापि अपने जीवन मे वह इस ओर विशेष ध्यान नही दे सके थे। एकाएक सत्तर वर्ष की अवस्था मे उन्होने चित्रकला की ओर रुचि प्रदर्शित की। इनके बनाये हुए अनेक चित्र है जिनको देखने से इनकी कला-कुशलता का परिचय मिलता है।

जीवन के अंतिम वर्ष और प्रस्थान

सन् १९३१ ई० मे कवि ने सत्तर वर्ष की अवस्था पूरी की। इस अवसर पर कलकत्ता मे एक विशाल महोत्सव मनाया गया, जिसका कार्यक्रम कई दिनो तक चलता रहा। इसी बीच गाँधीजी गिरफ्तार कर लिये गये। इस सवाद से कवि को बडा कष्ट हुआ और उन्होने उत्सव को बद करा दिया। अग्रेजो के दमन का चक्र तीव्रता के साथ चलने लगा। देश के नेता बदो बनाये जाने लगे। सन् १९३२ ई० मे यरवदा जेल में गाँधीजी ने अनशन प्रारभ कर दिया, जब उनके आमरण अनशन का उन्नीसवाँ दिन हो गया, तो कवि को चिता हुई। वह यरवदा जेल पहुँचे और इक्कीसवे दिन उन्होने अपने सामने गाँधीजी का अनशन तुडवाया। सन् १९४० ई०मे ऑक्सफर्ड विश्वविद्यालय ने कवि को डी० लिट्० की उपाधि दी। इसी वर्ष कवि के मित्र और सहयोगी सी० एफ० ऐण्ड्रूज का देहात हो गया। इनके देहात से कवि शोकातुर हो गये। उसी साल कवि बहुत अस्वस्थ हो गये। वह बीमार रहने लगे और अत मे सात अगस्त सन् १९४१ ई० को उन्होने इस ससार से महाप्रस्थान किया।

जीवन-दर्शन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर मूलत कवि थे। उन्होने कला के कुटीर मे आत्म-प्रकाश का दर्शन किया और इस प्रकाश को अपनी वाणी के माध्यम से सारे विश्व में फैलाया। उन्होने पाश्चात्य जगत् को भारत की आत्मा का सदेश दिया, पूर्व के ज्ञान और आत्मबोध से उन्हे परिचित कराया। इस दृष्टि से वह एशिया की आत्मा के सबसे बडे सदेशवाहक थे। अपने वशगत उत्तराधिकार और वातावरण के प्रभाव से उनकी प्रतिभा का सर्वतोन्मुखी विकास हुआ। साहित्य, दर्शन, कला और सगीत आदि मे उन्होने अपने व्यक्तित्व को प्रस्फुटित किया। इतना ही नही उन्होने अपनी तूलिका की नोक में एकतारे की झकार - भरी और प्रतिभा की इसी पूर्णता के कारण वह 'विश्वकवि' और 'गुरुदेव' के नाम से ससार मे पूज्य हुए।

उनकी कविता मे विचारो की गभीरता है और उससे प्राप्त होने वाला आनद, हमारी ऐंद्रियिक सवेदना को ही जागृत नही करता, वरन् हृदय को भी प्रभावित करता है। वह मानव के सूक्ष्म विचारो के चरम शिखर पर स्थित है और उनमे सौदर्यान्वेषण की जो भावना है वह सत्य के मदिर तक पहुँचाने मे सक्षम है। रवीन्द्रनाथ के विचार मे, लक्ष्य की दृष्टि से, काव्य और दर्शन एक ही मजिल की ओर यात्रा करने वाले दो पथिक है। उनका लक्ष्य एक है, केवल मार्ग भिन्न है। यद्यपि रवीन्द्रनाथ काव्य और दर्शन दोनो का लक्ष्य एक मानते है, तथापि, यदि हम उनके काव्य मे तर्कसगत और सुव्यवस्थित अध्यात्मदर्शन की खोज करे, तो निराश होना पडेगा, क्योकि उनका दर्शन कवि-कल्पना है, हृदय की वेदना है, अध्यात्म के सिद्धातो का तर्कयुक्त निरूपण नही। सभवत इसी लिए डा० राधाकृष्णन् ने उनके सबध मे कहा है कि 'रवीन्द्र मे दर्शन-पद्धति की अपेक्षा दार्शनिक वातावरण अधिक है।'

रवीन्द्रनाथ ने स्वय दर्शन-विषयक अपनी मौलिकता का दावा नही किया है। 'बगभाषेर लेखक' मे उन्होने स्वीकार किया है कि 'द्वैत और अद्वैत के विवाद मे मैं केवल मौन रह सकता हूँ।' उनके इस कथन से सामान्य जन सभवत यह समझें कि केवल व्यक्तिपूजा की भावना से ही प्रेरित होकर उनके प्रशसको ने उन्हे 'गुरुदेव' कहा है, किंतु ऐसा विचार सत्य के निकट नही है। तथ्य यह है कि रवीन्द्रनाथ के विश्वास आत्मानुभव पर आधारित है। जिस सत्य का उन्होने साक्षात्कार किया, वह पोथी पढ कर नही प्राप्त किया गया है, दर्शनशास्त्र के अध्ययन द्वारा अधिगत सत्य नही है, वरन् सहज या प्रातिभ ज्ञान द्वारा साक्षात्कृत है। अपने सहज ज्ञान के द्वारा ही उन्होने सत्य का बोध प्राप्त किया। अत कवि होने के नाते स्वभावत उन्होने इस बौद्धिक द्वद्व मे पडना उचित नही समझा। किंतु इसका यह अर्थ नही है कि वह द्वैत और अद्वैत सबधी विचारो से पूर्णतया तटस्थ रहे। उन्होने अपने चित्रो और काव्य के माध्यम से सत्य की जो अभिव्यक्ति की तथा उनकी कृतियो एव भाषणो मे जो दशन-विषयक प्रभूत विचार बिखरे पडे है उनके आधार पर आस्तिक दर्शन की रूप-रेखा निश्चित की जा सकती है।

समन्वयवादी दृष्टिकोण

रवीन्द्रनाथ ने सत्य की उपलब्धि के लिए आत्मानुभव को ही साधन माना और उसी का अनुगमन किया, अत उन्होने सत्य के साक्षात्कार मे सहायक उन पद्धतियो का प्रतिवाद किया जो मनुष्य के भावात्मक पक्ष की सर्वथा उपेक्षा करती है। उनके विचार में अनुभव स्वय एक महान समन्वयकारी प्रक्रिया है। उसके प्रतिकूल कोरी तर्कवादिता मुख्यत विश्लेषण-प्रधान है। उन्होने ब्रह्मसमाज, उपनिषद्, वैष्णव विचारधारा, बौद्ध और ईसाई धर्म के नाना पक्षो और प्रभावो को आत्मसात् किया। इन विरोधी विचारधाराओ के बीच उन्होने शाति-स्थापन या समन्वय का कार्य किया। उन्होने किसी एक विचारधारा का पक्ष नही लिया क्योकि उनके विचार मे 'विरोधी शक्तियो के बीच सगति

की स्थापना मे ही सृष्टि है' और 'सबध मे ही सत्य का मौलिक रूप से निवास है।' इसी समन्वयी दृष्टि से उन्होने ज्ञान के सभी अगो को ग्रहण किया और इसी समन्वय की भावना को अपनी रचनाओ मे व्यक्त किया।

इस प्रकार दर्शन के क्षेत्र मे उन्होने प्रकृतिवाद तथा विश्ववाद, मानववाद तथा प्रपत्ति और अतस्थ एव परस्थ के छोरो को निकट लाने का प्रयत्न किया है। रवीन्द्रनाथ ने जीवन के आनद मे विश्वास रखते हुए भी अपने नीतिशास्त्र मे 'सुखवाद' का विरोध किया है क्योकि उन्होने 'आनद' को 'सुख' से श्रेष्ठ माना है। उन्होने व्यष्टि और समष्टि स्वतत्रता और नियतिवाद तथा तपस्या एव अहसबधी आदर्शो मे सतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके सौदर्य-सिद्धात मे प्रमाण (External Harmony) और लावण्य (Internal Harmony) को उचित स्थान प्राप्त है। उन्होने इसी औचित्य को ध्यान मे रखते हुए अपनी रचनाओ मे मानव और देवता दोनो की अभिव्यक्ति की है, अपनी कला द्वारा रोमाटिक तथा यथार्थवादी, दोनो आदर्शो की तुष्टि की है। सच्चे दार्शनिक की भाँति उन्होने स्वीकार किया है कि सत्य को ग्रहण करना कठिन है, उसकी व्याख्या करना और भी कठिन है तथा किसी सिद्धात से उसकी तुलना करना सबसे कठिन कार्य है।

अद्वैत: ब्रह्म

रवीन्द्रनाथ प्रेम और मृत्यु मे अतर नही मानते है, इसीलिए उन्होने अपनी रचनाओ द्वारा इन दोनो की अभिन्नता को प्रमाणित किया है। प्रेम और मृत्यु की अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए उन्होने कहा है कि जिस प्रकार सच्चे प्रेम मे प्रेमी मनुष्य का सपूर्ण व्यक्तित्व प्रियतम में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार अहकार की मृत्यु से भी मनुष्य का व्यक्तित्व विश्वात्मा मे लय हो जाता है। व्यक्तित्व का लय हो जाना दोनो दशाओ मे अनिवार्य है, अत तात्विक दृष्टि से दोनो मे कोई अतर नही है, वरन् दोनो लगभग अभिन्न है। जिस प्रकार प्रेम के क्षेत्र मे किये जाने वाले त्याग मे मधुरता होती है, उसी प्रकार 'अह' की मृत्यु भी 'परमपुरुष' के प्रति भक्ति बन जाती है। उनके ये विचार वैष्णव विचारधारा के सर्वथा अनुकूल है, अत रवीन्द्रनाथ के धर्म को 'वैष्णव अद्वैत' कह सकते है क्योकि वह अपने 'परमपुरुष' को 'अद्वैतम्' कहते है।

शकर ने जिस निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया है उसके प्रतिकूल रवीन्द्रनाथ ने कोई तर्कसगत युक्तियुक्त प्रमाण नही दिया है। वह इतना अवश्य कहते है कि मनुष्य निर्गुण ब्रह्म की ओर तभी आकर्षित हो सकता है जब उसका मानवीकरण हो जाता है, दूसरे शब्दो में वह निर्गुण ब्रह्म को ही 'परमपुरुष' कहते है जो ब्रह्म का मानवीकृत रूप (Humanised form) है। उनके विचार मे बहुत कम व्यक्ति ऐसे है जो योग-साधना में रुचि लें, योग-मार्ग का अवलब लेकर ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करे, अत साधारण जनो के लिए ईश्वर का मानवीरूप अधिक ग्राह्य है। उन्होने परमपुरुष को स्वय-

सिद्ध माना है, उसकी सत्ता को सिद्ध करने के लिए वह किसी प्रकार के प्रमाण देने के पक्ष मे नही है और न प्राचीन तथा परपरागत प्रमाणो को उपस्थित करते है। उच्च कोटि की आस्तिकता मे अनुभव को प्रमाण से कही श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है, विशेषत ईश्वर के सबध मे। रवीन्द्रनाथ का भी यही विचार है कि ब्रह्म के विषय मे अथवा उसके अस्तित्व के सबध मे किसी प्रमाण की आवश्यकता नही है। जिस प्रकार हम प्रकाश के अस्तित्व का अनुभव करते है, उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता की भी अनुभूति करनी चाहिए। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि रवीन्द्रनाथ जब ब्रह्म की कल्पना 'परमपुरुष' या 'विश्वात्मा' के रूप मे करते है, उसे व्यक्तित्व प्रदान करते है या उसका मानवीकरण करते है तो उसका अर्थ यह कदापि नही है कि ब्रह्म मनुष्य के रूप मे है। वह उसे मानव की कोटि मे नही लाते है, वरन् उसे उच्च एव श्रेष्ठ 'उत्स' मानते है जिसके लिए मनुष्य प्रयत्न तो करता है, किंतु उसे प्राप्त नही कर पाता।

आत्मा का स्वरूप

उपनिषद् ब्रह्म के स्वरूप को तीन भागो मे विभक्त करते है—'सत्य' 'ज्ञान' और 'अनत'। इसी आधार पर रवीन्द्रनाथ मानवात्मा के भी तीन रूप निश्चित करते है—'मै हूँ', 'मैं जानता हूँ', और 'मै व्यक्त करता हूँ'। 'मनुष्य की यही तीन दिशाएँ है, और इन तीनो को लेकर एक अखड सत्य ह'। उनके विचार मे सत्य के यही तीनो भाव मनुष्य को विविध प्रकार के क्रिया-कलापो की प्रेरणा प्रदान करते है। इन तीनो की प्रेरणाओ पर विचार करने से ज्ञात होता है कि 'मै हूँ' अथवा मुझे अपने अस्तित्व की रक्षा करनी है, इस भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य अपने जीवन-यापन के साधनो को जुटाता है, व्यवसाय, नौकरी या अन्य कार्य करता है जिनसे उसकी 'बने रहने' की आवश्यकताओ की पूर्त्ति होती है। मनुष्य की आत्मा का दूसरा रूप या भाव है—'मै जानता हूँ'। यही भाव मनुष्य को जिज्ञासु बनाता है जिससे मनुष्य ज्ञान-विज्ञान की ओर उन्मुख होता है। इस जिज्ञासा का उपयोग केवल अपने अस्तित्व की रक्षा के साधनो के जानने के लिए ही नही होना चाहिए, वरन् उस परम सत्य को जानने, अपनी ज्ञानमयी प्रकृति के साथ एकाकार होने के लिए भी करना चाहिए। तीसरा भाव है—'मै व्यक्त करता हूँ'। इसे रवीन्द्रनाथ ने ब्रह्म के अनतस्वरूप के अतर्गत माना है। इस प्रकार हम देखते है कि उन्होने ब्रह्म के तीनो रूपो के साथ मानवात्मा के भावो को सयुक्त करके देखा है और इसीलिए इन्हे इतना महत्त्वपूर्ण माना है।

रवीन्द्रनाथ कहते है कि जब केवल अपने अस्तित्व-रक्षा अथवा 'बने रहने' की भावना की ही प्रबलता मनुष्य मे होती है तब वह सकीर्णता, और स्वार्थपरता की ओर अग्रसर होता है। जब वह अपने और अपने वश को बनाये रखने का ही प्रयत्न करता है, तब वह 'अह' में पूर्णतया आबद्ध होता है। किंतु जब वह अपने ही भाँति अन्य व्यक्तियो की रक्षा का

अनुभव करने लगता है तब उसका आत्म-विस्तार होता है, उसमे 'अह' की सकीर्णता नष्ट होती है। दूसरो को भी आत्म-रूप मे देखना ही मानवात्मा की महानता है, यही उसका गौरव है। अन्य व्यक्तियो से अपने एकत्व-बोध के लिए मनुष्य अपने को नाना प्रकार से 'व्यक्त' करता है।

एक सच्चे अद्वैतवादी की भाँति रवीन्द्रनाथ का विश्वास है कि 'परमपुरुष' ही एकमात्र सत्य है। सीमित (Finite) पदार्थ या व्यक्ति की कोई पृथक् सत्ता नही होती है। जीव का आदर्श है विश्व-आत्मा मे अपने निजत्व को पूर्णतया लय कर देना। 'मानव धर्म' मे उन्होने कहा है कि "धर्म हमारे निजत्व की, 'विश्वमानव' (Universal Person), जो स्वय मे मानव भी है, (मेविलयन द्वारा) मुक्ति है।" जब सीमाबद्ध जीव अपने निजत्व को असीम मे लय कर देता है तभी वह माया से मुक्ति प्राप्त करता है। यह माया अविद्या से उत्पन्न होती है। इससे छूट कर ही जीव सत्य, शिव और अद्वैतम् मे लीन होकर मोक्ष प्राप्त करता है। रवीन्द्रनाथ के विचार मे वस्तुओ का सत्य ज्ञान एकता के परम सिद्धात के सबध मे ही जाना जा सकता है। 'क्रिएटिव यूनिटी' मे उन्होने लिखा है, "इस ससार का सत्य क्या है? ससार का सत्य उसके अनेक जड पदार्थों मे नही है, वरन् उनके माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली एकता मे है। हमारा वस्तुओ का समस्त ज्ञान उन्हे विश्व के सबध मे जानना है—उसके सबध मे जो कि परम सत्य है।" किंतु रवीन्द्रनाथ के विचार मे वह परम सत्य सबद्ध-पूर्णता (coherence) के परे है क्योकि एक अद्वैतवादी की भाँति वह उसकी श्रेष्ठता को सबद्ध-पूर्णता से भी ऊपर स्वीकार करते है।

तथ्य और सत्य

रवीन्द्रनाथ ने तथ्य और सत्य के अतर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ज्ञान के जिस राज्य मे हमारा मन विचरण करता है, उसका रूप द्विपक्षीय है। उसका एक पक्ष तथ्य है और दूसरा सत्य। जो कुछ जैसा है, वैसा ही होना तथ्य है और जो वस्तु तथ्य का आधार है, जिस पर तथ्य अवलबित है वह सत्य है। "मेरा व्यक्ति-रूप है अपने आप मे आबद्ध 'मैं'। यह जो तथ्य है, यह है अधकारवासी। यह स्वय अपने को प्रकट नही कर सकता। इसका परिचय जब भी कोई पूछेगा तो एक बडे सत्य के माध्यम से, जिस पर यह आधारित है, इसका परिचय देना पडेगा। पूछने पर कहना पडेगा, 'मै भारतीय हूँ।' किंतु 'भारतीय' क्या है? वह तो एक अविच्छिन्न वस्तु है, उसे न छुआ जा सकता है, न पकडा जा सकता है। किंतु इस व्यापक सत्य के द्वारा ही तथ्य का परिचय होता है। तथ्य खडित होता है—स्वतत्र होता है, सत्य मे ही वह अपने वृहत् ऐक्य को प्रकाशित करता है। मै व्यक्तिगत 'मैं'—तथ्य मे 'मै मनुष्य हूँ' इस तथ्य को जब प्रकट करता हूँ, तभी 'विराट एक' के प्रकाश मे मै नित्यता से उद्भासित हो जाता हूँ। तथ्य मे सत्य का प्रकाश ही वास्तव मे प्रकाश है।" ‡ रवीन्द्र के विचार मे सत्य और शोभन का ग्रहण केवल बाहरी दिशा

‡'साहित्य के पथ पर' पृष्ठ ३९-४०

से करने से मन तृप्ति नही होती है । सत्य से प्रेम हुए बिना उसे ग्रहण नही किया जा सकता । वैसे तो सत्य से दूर चले जाने पर भी उसके पास लौटा जा सकता है, किंतु सत्य को यदि कृत्रिम शासन की विवशता व अधरूप मान लिया जाय तो फिर उसके पास लौटने का रास्ता ही बन्द हो जाता है ।

जगत् और माया

रवीन्द्रनाथ के विचार मे सत्ता के कई स्तर है । उनके अनुसार इस दृश्य ससार मे मनुष्य सर्वश्रेष्ठ सत्ता है क्योकि वह 'परमपुरुष' के अत्यन्त निकट है । उन्होने जिसे परमपुरुष कहा है वह वास्तव मे ब्रह्म (परम सत्य) का मानवीकृत रूप है । यहाँ यह पूछा जा सकता है कि जब मानव 'परमपुरुष' के अत्यत निकट है, तो उसकी अनुभूति सीमित क्यो है ? रवीन्द्रनाथ ने माया या अविद्या को इसका कारण बताया है । यद्यपि वह माया को स्वीकार करते है, फिर भी उनके विचार शकराचार्य से भिन्न है । शकराचार्य के विचार मे माया न सत् है और न असत् है, यह अनिर्वचनीय है । रवीन्द्रनाथ माया को दोनो मानते है अर्थात् माया 'सत्' और 'असत्' दोनो है । वह उसे एक तात्विक सत्ता के रूप मे मानते है । रवीन्द्रनाथ वल्लभाचार्य और उनके सप्रदाय की माया-सबधी मान्यता से भी थोडा मतभेद रखते है । वल्लभ के अनुसार मनुष्य का ब्रह्म से पृथकता का अनुभव ही माया अथवा अविद्या है । यह पृथकत्व की भावना केवल एक विवर्त्त है । किंतु रवीन्द्रनाथ के लिए माया का अस्तित्व है भी और नही भी है । उनके विचार मे माया की सत्ता धुएँ के समान है, जो अग्नि को आवृत भी कर लेता है और उसका पूर्वाभास भी देता है । इस प्रकार रवीन्द्रनाथ की माया का सिद्धात शकर के सिद्धात से भिन्न होते हुए वल्लभाचार्य के विचारो से कुछ साम्य रखता है ।

रवीन्द्रनाथ ने यद्यपि आध्यात्मिकता पर बल दिया है, तथापि इसका अर्थ यह नही है कि वह ससार की वास्तविकता से अन्यमनस्क है । उनके विचार मे यह ससार न तो बधन है और न विभ्रम ही है । यह आत्मविकास का अवसर प्रदान करने वाला तथा आत्मबोध का साधन है । यही वह मार्ग है जिसका निर्देश उपनिषद् के ऋषियो ने गीता मे किया है । वह जीवन को आनदमय मानते है । उनका कथन है कि जब स्वय ब्रह्म ने ही सृष्टि-रचना के बधन को स्वीकार किया है, तब क्या हम इस सासारिक बधन को स्वीकार नही करेंगे ? यदि हमने मास और चर्ममय शरीर धारण किया है, तो हमें इसके लिए कोई शिकायत नही होनी चाहिए । मानवीय सबध आध्यात्मिक जीवन के स्रोत है । ईश्वर 'आसमानी सुल्तान' नही है, वह सर्वव्यापी है । प्रत्येक वस्तु मे हम उसका दर्शन करते है ।

ब्रह्म और जगत्

ब्रह्म और जगत् के सबध मे विचार करते हुए रवीन्द्रनाथ इस नानारूपात्मक जगत् मे 'एकता' की अभिव्यक्ति का दर्शन करते है । उनके मत मे यह एकता ही अपने को ससार

के विविध रूपो मे व्यक्त कर रही है। यही विश्व मे सगति की स्थापना करती है। जैसे सगीत के एक ही स्वर को कई लयो मे गाया जाता है, किंतु लय का स्वर से पृथक् कोई अस्तित्व नही होता, उसी प्रकार इस नानारूपात्मक ससार का महत्त्व तभी तक है जब तक उसकी विविधता के भीतर 'एकता' की स्थिति है। उनके मत मे विश्व के तथाकथित नियम 'विविधता मे एकता' के प्रतिबिंब है और 'परम एकता ही सारे नियमो का नियम है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उस दशा मे जब कि एक बार मनुष्य अपने निजत्व को 'परमपुरुष' मे लय कर देता है, तो उसके कर्म स्वातत्र्य पर विश्व के नियमो का कोई प्रभाव नही पडता। रवीन्द्रनाथ की दृष्टि मे ऐसा होना सभव है। उनके विचार मे कोई भी व्यक्ति अह का विसर्जन करके प्रेम के माध्यम से ब्रह्म मे लीन हो सकता है। इससे भी बढकर वह इस बात पर सदैव बल देते है कि केवल प्रम द्वारा ही परम सत्य का साक्षात्कार और परम एकता की प्राप्ति की जा सकती है। इस प्रकार प्रेम हमे नियमो के बन्धन से परे होने मे सहायता देता है। 'साधना' मे उन्होने कहा है—"जिन्होने यह जान लिया है कि आनद की अभिव्यक्ति नियमो के माध्यम से होती है, उन्होने ही नियमो से परे होना सीख लिया है।"† उनके अनुसार स्वाधीनता का अर्थ नियमो से मुक्ति नही है वरन् नियमो को अपने मे आत्मसात् कर लेना है। इसी को वह जीवन का सर्वश्रेष्ठ प्रयोजन व सर्वश्रेष्ठ धर्म मानते है। हम अपने अनिर्दिष्ट की पूर्ति तभी करते है जब अनेकता से एकता के आनद की ओर और नियमो के बधन से प्रेम को ओर अग्रसर होकर अपनी सीमाबद्धता को असीम के साथ जोड दें। रवीन्द्रनाथ के विचार मे 'धर्म' 'रिलीजन' से अधिक गभीर और अर्थगर्भित शब्द है। धर्म ही सभी वस्तुओ की अत-प्रकृति, सारतत्व और निहित सत्य है। धर्म जीवन का अतिम उद्देश्य है जो हम सबके भीतर गतिशील है। जब हम कोई अनुचित कार्य करते है तो कहते है कि हमसे धर्म-प्रतिकूल कार्य हो गया, तात्पर्य यह है कि अपनी वास्तविक प्रकृति के प्रति झूठा कार्य हुआ। अत कहा जा सकता है कि 'धर्म' हमारे अनिर्दिष्ट का लक्ष्य है। इस अर्थ मे 'परम-पुरुष' ही सीमाबद्ध मनुष्य का धर्म है।

परमपुरुष की अनुभूति का साधन : प्रेम

रवीन्द्रनाथ ने भक्ति-योग द्वारा परम-पुरुष की अनुभूति पर बल दिया है। उनके अनुसार बहुत कम व्यक्ति है जो योग-साधन द्वारा ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करें। साधारण व्यक्तियो के लिए ब्रह्म का मानवीकृत रूप ही ग्राह्य है, अत वे प्रेम या भक्ति द्वारा ही ईश्वर तक शीघ्र पहुँच सकते है। इसके अतिरिक्त भी रवीन्द्रनाथ ने प्रेम को ज्ञान से ऊंचा स्थान दिया है और उसे ब्रह्म की अनुभूति का श्रेष्ठ साधन या मार्ग माना है। 'साधना' मे

† Tagore : 'Sadhna', p. 119

उन्होने लिखा है 'कि बुद्धि हमे ज्ञेय वस्तुओ से पृथक् करती है, किंतु प्रेम अपनी विलीनता के द्वारा लक्ष्य को पहचानता है और उससे एकता स्थापित करता है।' प्रेम मे विभिन्न अस्तित्व के अतर्विरोध नष्ट हो जाते है। प्रेम मे द्वैत और अद्वैत मे विरोध नही रहता। चेतना के उच्चतम रूप को प्रेम मे लीन करके ही हम 'ब्रह्मविहार' की प्राप्ति कर सकते है। 'ब्रह्मविहार' को स्पष्ट करते हुए उन्होने लिखा है कि पुत्र के प्रति माता का जो प्रेम होता है उसी अपरिमेय प्रेम से विश्व को अपना समझकर देखना ही 'ब्रह्मविहार' है।

उनके विचार मे प्रेम ज्ञान की सिद्धि है क्योकि ज्ञान यदि सत्य है तो उसे 'एकता' का ग्रहण करना आवश्यक है। बुद्धि का कार्य विश्लेषण है और प्रेम का सश्लेषण या समन्वय। बुद्धि विषय और विषयी मे भेद करके चलती है, वह दोनो के भेद को भूलती ही नही है और जब तक यह द्वैत की भावना वर्त्तमान रहती है तब तक विषय मे विषयी का पर्यवसान नही हो सकता। अत विषय और विषयी के भेद को तिरोहित करने के लिए बुद्धि के स्थान पर अत ज्ञान का सहारा लेना होगा। अत ज्ञान इस भेद को दूर कर के एकता का आभास प्रदान करता है। ज्ञान के दृष्टिकोण से एकता ग्रहण करने को अत ज्ञान कहते है और उसी को मानव-अनुभव के दृष्टिकोण से प्रेम। रवीन्द्रनाथ के दर्शन का लक्ष्य मानव रूप मे 'परमपुरुष' की प्रतीति है, अत वह उसे प्रेम ही कहते है।

इसमे कोई सदेह नही, कि रवीन्द्रनाथ रहस्यवादी है, क्योकि कल्पना की श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति से बचने का प्रयास वह नही करते, परतु फिर भी वह नश्वर जगत् के प्रति उदासीन नही है।(उनकी देन यही है कि वह व्यावहारिक जगत् मे सक्रिय रुचि और अद्वैत की भावना, दोनो मे सगति स्थापित करते है। उनके विचार मे वैराग्य और ज्ञानमार्ग ही केवल परम सत्य के साक्षात्कार के साधन नही है,। उनका कहना है कि ससार और उसके अनुभवो का त्याग करने के लिए कहना वैसा ही है जैसे शरीर को छोड कर कूद पडना। हम वैराग्य मार्ग का अनुसरण करके ससार मे अतर्निहित एकता का अनुभव नही कर सकते है। उन्होन चेतावनी दी है कि इस प्रकार के कार्य हमे द्वैत की ओर ले जायेगे। उनके विचार मे केवल प्रेम—जो सक्रिय रूप मे एकता की प्रतीति कराता है—द्वारा ही हम जीवन के उद्देश्य की प्राप्ति कर सकते है। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने अपने दर्शन मे अद्वैत और वैष्णव भक्ति का समन्वय किया है। ऐसा प्रयत्न केवल रवीन्द्रनाथ ने ही नही किया है, किन्तु वल्लभाचार्य ने भी किया है। इसे 'वैष्णव-अद्वैत' कह सकते है। रवीन्द्रनाथ और वल्लभाचार्य दोनो के विचार मे अद्वैत तर्क और प्रमाण के परे है, अत दोनो ने ईश्वर को 'परम ऐक्य' माना है और दोनो ने प्रेम को सभी भेदो से परे होने का साधन स्वीकार किया है।

शिक्षा-दर्शन

रवीन्द्रनाथ ने जिस प्रकार जीवन-दर्शन के सबध मे समन्वयकारी अतर्दृष्टि से विचार किया है, उसी प्रकार उन्होने शिक्षा के क्षेत्र मे भी समन्वय को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है। उनके शिक्षा-दर्शन मे आदर्शवाद और प्रकृतिवाद, आदर्शवाद और व्यवहार-वाद, व्यक्तिवाद और समाजवाद, राष्ट्रवाद और अतर्राष्ट्रवाद मे यह समन्वयकारी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से दिखाई पडता है। उन्होने व्यक्ति के जीवन को भी एक समन्वय माना है, अत शिक्षा के सभी उपक्रमो—लक्ष्य, पाठ्यविषय आदि मे यही दृष्टिकोण परिलक्षित है।

जीवन का चरम लक्ष्य

रवीन्द्रनाथ के अनुसार शिक्षा का उद्देश्य है—'मनुष्य को मनुष्य' बनाना। उनके विचार मे, मनुष्य को जो जिस रूप मे देखता है, वह उसी के अनुसार शिक्षा का लक्ष्य निर्धारित करता है और लक्ष्य के अनुरूप ही समस्त शिक्षा का आयोजन करता है। मनुष्य को तीन रूपो मे देखा जा सकता है, (१) वह एक जीव है, (२) वह एक सामाजिक जीव है और (३) वह आत्मा है। भारतीय आदर्शवादी परपरा के अनुसार मनुष्य के प्रथम दो रूपो की सार्थकता तीसरे रूप के अतर्गत रहने मे ही है। मनुष्य का वास्तविक रूप आत्मा है।

जीवन की इन विभिन्न स्थितियो को ध्यान मे रखते हुए उन्होने कहा है कि आहार-सग्रह तथा आत्म-रक्षा की प्रवृत्ति का जहाँ तक प्रश्न है, मनुष्य का जीवन पशु-पक्षियो के समान ही है। किंतु मनुष्य केवल 'जीव' नही है वह 'एक सामाजिक जीव है'। मनुष्य की विशिष्टता इस बात मे है कि वह केवल आहार-सग्रह और अपनी रक्षा करके ही सतोष का अनुभव नही करता, वह समाज के प्रति भी अपने दायित्व को समझता है। वह समाज के अन्य व्यक्तियो के हितार्थ अपने व्यक्तिगत सुखो को तिलाजलि दे सकता है। इसी दृष्टि से मनुष्य पशु-पक्षियो से श्रेष्ठ है। किंतु मनुष्य को केवल 'सामाजिक जीव' कह देने से भी उसके पूर्ण स्वरूप का परिचय नही मिलता। कारण, सामाजिकता तो उसके पूर्ण रूप का एक पक्ष है, एक अग है। मनुष्य का पूर्ण परिचय एँव उसके जीवन की समग्रता का बोध तभी प्राप्त हो सकता है जब हम उसे आत्मा के रूप म देखें। अपने इस रूप मे वह समस्त सृष्टि से तद्रूप होता है। भारतीय ऋषियो के आदेश—'आत्मान विद्धि' अर्थात् आत्मा को जानो—का रवीन्द्रनाथ पूर्णतया समर्थन करते आत्मा की अनुभूति प्राप्त करने को ही, उन्होने मानव-जीवन की चरम सिद्धि

मनुष्य का सामान्य जीवन उसके आदर्श जीवन का अनुगामी होता है। इसी कारण, जहाँ मनुष्य को आहार, निद्रा आदि की मूल प्रवृत्तियाँ उसे सामान्य जीव की भाँति जीवन

व्यतीत करने के लिए प्रेरित करती है, वही सामाजिक जीवन की प्रेरणा उसे उन पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए बाध्य करती है। समाज के लिए इसी व्यक्तिगत भूख, प्यास, स्वार्थ आदि के त्याग करने को 'धर्म' कहते है। अत मनुष्य के 'जीव-धर्म' को सयत करके उसे समाज-धर्म के अनुकूल करना ही सामाजिक जीव की शिक्षा का प्रधान कार्य है'। रवीन्द्रनाथ का कथन है कि भारत मे मानव के सत्य को, उसके वास्तविक स्वरूप को सामाजिकता तक ही सीमित नही माना गया है। यह सत्य समाज-धर्म को पहचानने और उसका अनुसरण करने तक ही सीमित नही है। इस सत्य की प्राप्ति आत्मा की प्राप्ति अथवा आत्मोपलब्धि है। अत जीव-धर्म और समाज-धर्म दोनो को 'आत्म-उपलब्धि के अनुगत करने की साधना' ही शिक्षा है।

पाश्चात्य सभ्यता और लक्ष्य के सबध मे विचार करते हुए रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि पश्चिम ने मनुष्य को किसी स्थान पर लक्ष्य निर्धारित नही करने दिया है। कारण, पाश्चात्य सभ्यता का मूल-मत्र अथवा सारतत्व है 'प्रगति' (Progress)। 'प्रगति' का अर्थ है निरतर चलते रहना, लक्ष्य तक पहुँचना नही, 'शिकार के पीछे दौडते रहना, शिकार पाना नही।'† अत जीवन के प्रत्येक कार्य—धनार्जन, ज्ञानार्जन आदि मे वहाँ के लोगो का उद्देश्य है निरतर अग्रसर होना, उनके कार्यो का कोई अत नही है क्योकि उनका कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नही है। उनके यहाँ जीवन के दो ही भाग देखने मे आते है—एक शिक्षा ग्रहण करने का और दूसरा ससार मे कार्य करने का। इस प्रकार कार्य करते-करते, बिना किसी लक्ष्य की पूर्ति के ही वहाँ लोगो की जीवन-यात्रा सहसा समाप्त हो जाती है। किंतु भारत का जीवन-दर्शन इससे सर्वथा भिन्न है। हमारे जीवन का एक लक्ष्य है और उस लक्ष्य तक पहुँचने मे ही जीवन की सार्थकता मानी गयी है। हमारे जीवन का परम लक्ष्य है 'आत्मोपलब्धि'—आत्मा की प्राप्ति, और इसकी प्राप्ति के लिए जीवन को चार भागो मे विभाजित किया गया है। प्रथम दो भाग, पाश्चात्य जगत् की तरह शिक्षा ग्रहण करने और ससार मे कार्यरत रहने के है और अतिम दो धीरे-धीरे ससार के बधनो को शिथिल करने और ब्रह्म के साक्षात्कार करने के लिए है। मनुष्य और मनुष्य के लक्ष्य के प्रति ऐसा दृष्टिकोण होने के कारण ही भारतवर्ष अपने धर्म-मार्ग से कभी विपथ नही हुआ है, अपनी आस्था पर अडिग रहा है और सनातन सत्य के प्रति अपना अटल विश्वास बनाये रख सका है। हमारे देश मे 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन' के मत्र का सतत स्मरण होता रहा है और ब्रह्मानद को जान कर मनुष्य किसी से भयभीत नही रहा। इसी 'ब्रह्म के आनद,' 'एक' के आनद को भारत ने जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना है और रवीन्द्रनाथ के अनुसार यही शिक्षा का भी चरम लक्ष्य है।

---

† 'Not the game but the chase

व्यक्तिवाद का आदर्श

रवीन्द्रनाथ मूलत व्यक्तिवादी है और उनके विचार मे प्रत्येक मनुष्य को अपने विचारो के अनुसार, अपने ढंग से जीवन को बनाने का अधिकार और स्वतत्रता है। किंतु उनके इस व्यक्तिवाद का स्वरूप मूलत भारतीय है, जिसके कारण पाश्चात्य देशो के व्यक्तिवाद की तुलना मे इसमें एक विशेषता पायी जाती है। उनके व्यक्तिवाद मे मानव-एकता ही नहीं वरन् समग्र सृष्टि—मानव एव प्रकृति—की एकता को विस्तृत स्थान प्राप्त है। उनके विचार मे जगत् की विविधता के बीच इस मौलिक एकता का कारण है हममें से प्रत्येक मे सर्वातर्यामी ब्रह्म की स्थिति। ब्रह्म का अश होते हुए भी प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से भिन्न एव अद्वितीय है। प्रत्येक व्यक्ति के माध्यम से ब्रह्म अपनी अद्वितीय परतु आशिक अभिव्यक्ति करता है। प्रत्येक मे ब्रह्म की इसी अभिव्यक्ति के कारण व्यक्ति मानव-एकता का बोध करता है। प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के माध्यम से, पृथक्-पृथक् ढग से, हम ब्रह्म की पूर्ण अनुभूति का प्रयत्न करते है। पुन प्रकृति मे भी ब्रह्म की अभिव्यक्ति के कारण, हम मानव-एकता के साथ-साथ, मानव और प्रकृति के बीच भी एकता का अनुभव करते है। इसी एकता के कारण, रवीन्द्रनाथ, वैयक्तिकता के विकास पर अनपेक्षित बल नही देते क्योकि अनपेक्षित बल व्यक्ति के अहकार को विकृत कर देता है और उसके व्यक्तित्व के विकास मे बाधा पहुँचाता है। व्यक्ति का व्यक्तित्व तभी पूर्ण होगा जब वह इसी मौलिक एकता का अनुभव करेगा। इसी अनुभव के आधार पर व्यक्ति वास्तविक स्वतत्रता का बोध करेगा, अपने सत्य रूप का बोध करेगा। 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' हमारे देश मे आरभ से ही साधना का विषय रहा है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' से व्यक्ति की भौतिक स्वतत्रता का तात्पर्य नही, वरन् उसकी आत्मा की स्वतत्रता अथवा आत्मा की मुक्ति से है। 'व्यक्ति-स्वातन्त्र्य' व्यक्ति समाज के नियम-सयम के बधन मे रहकर ही प्राप्त करेगा। अत व्यक्ति का समाज के साथ यथार्थ सबध जानने के लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य को उसके सत्य रूप मे देखा जाय। कारण, मनुष्य को समाज के प्रयोजनवादी दृष्टिकोण से देखने पर उसका वास्तविक व्यक्तित्व हमारी दृष्टि से ओझल हो जायगा। उदाहरण के लिए, यदि हम आम को केवल खटाई की दृष्टि से देखे तो उसे कच्चा तोडकर, उसके स्वाभाविक विकास मे बाधा पहुँचायेगे और उसका पूरा रूप नही देख पायेगे, यदि वृक्ष को केवल ईधन की दृष्टि से देखें तो उसकी सपूर्ण सुदरता के बोध से वचित रहेगे, इसी प्रकार क्षणिक प्रयोजनो एव आवश्यकताओ के आधार पर हम व्यक्ति को केवल सैनिक, वणिक, नागरिक, देशभक्त आदि के रूप मे ही देख सकेगे और इन्ही रूपो मे उसकी सार्थकता को आँकेगे। मनुष्य को इस एकागी दृष्टि से देखने मे भी किंचित् हित है परतु यदि हम अपनी दृष्टि एकागी ही रखेंगे तो उससे अत मे अधिक अहित की ही सभावना है क्योकि हम व्यक्ति का समग्र, पूर्ण एव सत्य-रूप विकसित होते न देख

पायेंगे। इसी एकागी दृष्टि से बचने के लिए हमारे देश मे मनुष्य को सत्य-रूप मे देखने पर बल दिया गया है क्योकि उसकी आत्मा सब प्रकार के प्रयोजनो से बडी है। रवीन्द्र-नाथ ने चाणक्य के निम्नाकित विचार का समर्थन किया है —

त्यजेदेक कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत् ।
ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवी त्यजेत् ॥

अर्थात् मनुष्य की आत्मा कुल, ग्राम, जनपद और पृथ्वी से भी बडी है। रवीन्द्रनाथ के विचार मे "मनुष्य की आत्मा को समस्त देशिक और क्षणिक प्रयोजनो से पृथक् करके विशुद्ध और वृहत् रूप मे देखना होगा, तभी संसार के समस्त प्रयोजनो के साथ उसके सत्य सबध और जीवन के क्षेत्र मे उसके यथार्थ स्थान का निर्णय करना सभव हो सकता है।"† मनुष्य की आत्मा विशाल है, व्यापक है और उसकी मर्यादा की कही सीमा नही है अत उसकी समाप्ति ब्रह्म मे ही है।

रवीन्द्रनाथ कहते है कि भारतवर्ष आरम्भ से ही जानता था कि मनुष्य का अतिम लक्ष्य समाज नही है। समाज का निर्माण इसलिए हुआ है कि वह मनुष्य को मुक्ति के मार्ग मे अग्रसर कराने का प्रयत्न करे। रवीन्द्रनाथ के विचार मे मनुष्य ने जो सभी प्रकार के सामाजिक सगठन बनाए है, उनसे यह व्यक्त होता है कि एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ आध्यात्मिक सबध है। इस आध्यात्मिक सबध के कारण दूसरे मनुष्यो की कल्याण-कामना से प्रेरित होकर मनुष्य सामाजिक सगठनो का निर्माण करता है। उन्होने स्वीकार किया है कि समाज और सामाजिक कर्तव्य मे ही मनुष्य के व्यक्तित्व की पूर्ति है। उनके व्यक्तिवाद में एकता की भावना निहित है, अत वह सामाजिक दलो का निर्माण, मनुष्य के आध्यात्मिक महत्त्व के आधार पर करने के पक्ष मे है। वह केवल सामाजिक प्रगति के लिए समाज-सेवा को महत्त्व नही देते, वरन् व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्थान के लिए उसे महत्त्वपूर्ण मानते है। अत व्यक्ति और समाज मे विरोध नही है। 'व्यक्ति-स्वातत्र्य' की प्राप्ति के लिए समाज एक अनि-वार्य माध्यम है।

रवीन्द्रनाथ सब मनुष्यो मे ब्रह्म की अभिव्यक्ति के कारण व्यक्ति को दो रूपो मे देखते है—प्रथम, वह समाज का एक अग है। उसका अस्तित्व समाज से परे नही है। सब मनुष्यो से आत्मीयता स्थापित करके ही वह ब्रह्म को पाने की चेष्टा कर सकता है। द्वितीय, क्योकि प्रत्येक व्यक्ति के माध्यम से ब्रह्म अपनी आशिक परन्तु अद्वितीय अभि-व्यक्ति करता है, अत प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियो से भिन्न है और स्वय मे पूर्ण है। रवीन्द्रनाथ अपनी शिक्षा-पद्धति मे व्यक्ति के इन दोनो रूपो मे से किसी पक्ष की उपेक्षा नही करते। प्रथम पक्ष को, वह जीवन के अतिम लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक

†'रवीन्द्र साहित्य,' भाग २५, पृष्ठ ८८

और द्वितीय पक्ष को शिक्षण-पद्धति मे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते है । प्रत्येक बालक मे अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ होती है जिन्हे अध्यापक को ढूँढना और विकसित करना है। कारण, इन वैयक्तिक विशेषताओ और क्षमताओ के हनन से बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास न हो सकेगा । यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ सबके लिए समान शिक्षा के सिद्धात के विरोधी है । वह व्यक्तिगत प्रभेदो का बलिदान कर के बाह्य रूप से शिक्षा मे समरूपता लाने के पक्ष मे नही है ।

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद

रवीन्द्रनाथ ने जिस प्रकार व्यक्ति और समाज के बीच के विरोध को दूर किया है उसी प्रकार राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच के विरोध को, 'अनेकता मे एकता' के आदर्शवादी सिद्धात के आधार पर दूर करने की चेष्टा की है। उन्ही के शब्दो मे "यद्यपि मानव-जातियो मे प्राकृतिक भेद है, जिनकी रक्षा और सम्मान करना चाहिए, तथापि इन भेदो के होते हुए भी हमारी शिक्षा का उद्देश्य मानव-एकता का बोध तथा विरोधो के बीच सत्य की खोज होना चाहिए ।"† रवीन्द्रनाथ अन्तर्राष्ट्रवाद की भावना को सही दिशा मे विकसित करना चाहते थे । मानव-जाति की एकता और उसके माध्यम से ब्रह्म की अभिव्यक्ति की भावना मे ही उनके अन्तर्राष्ट्रवाद का मूल स्रोत निहित है । वह उन सभी प्रयत्नो को किसी भी दशा मे स्वीकार नही करना चाहते जो सृष्टि मे अन्तर्निहित, अविभाज्य मौलिक एकता के बोध मे बाधक है । यही कारण है कि उन्होने सामाजिक और राजनीतिक दलबदियो के भेद को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । वह स्वीकार करते है कि मनुष्य इसलिए सामाजिक सगठन करता है क्योकि उसके भीतर दूसरे मनुष्यो से आध्यात्मिक सबध स्थापित करने की आतरिक प्रेरणा है । इसके प्रतिकूल राजनीतिक सगठनो के पीछे सकीर्ण एकाकीपन की भावना होती है । यद्यपि वह सामूहिक सस्कृति के महत्त्व को स्वीकार करते है, भिर भी राष्ट्रवाद के छद्म-रूप मे राजनीतिक गुटबदी को नही मानते । इसीलिए उन्होने योरोप के सकुचित राष्ट्र-वाद का विरोध किया और अतर्राष्ट्रीयता मे अपना विश्वास प्रकट किया । यह स्पष्ट है कि उनके अतर्राष्ट्रवाद का आधार आर्थिक व राजनीतिक नही है वरन् मौलिक रूप से आध्यात्मिक और मानवतावादी है । मानव-बधुत्व मे उनका दृढ विश्वास था । अत वह अत सास्कृतिक एव अतर्जातीय सपर्क को बढाना चाहते थे और इस प्रकार वर्त्तमान युग के चरम लक्ष्य—मानव-जाति की एकता—की पूर्ति करना चाहते थे । इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर उन्होने 'विश्व-भारती' की स्थापना की ।

अतर्राष्ट्रीयता के समर्थक होने के कारण, वह उसकी प्राप्ति के लिए किसी देश की राष्ट्रीयता का बलिदान नही चाहते थे । अतर्राष्ट्रीयता की भावना को आध्यात्मिक

---

† Tagore Thoughts on Education, 'The Visva-Bharti Quarterly, Vol XIII, 1947, p 7

आधार पर विकसित करने के कारण, वह प्रत्येक राष्ट्र के उत्थान एव विकास मे ही वास्तविक अतर्राष्ट्रीय उद्देश्य को प्राप्ति मानते है। इस सबध मे उनके विचार एक पत्र मे मिलते है, जिसे उन्होने शान्तिनिकेतन के एक सह-अध्यापक को लिखा था।† इस पत्र मे उनका कहना है कि विद्यार्थियो मे अपनी मातृभूमि के प्रति प्रेम और सम्मान के भाव विकसित होने चाहिए। उनमे मातृभूमि के प्रति भक्ति और पूजा का भाव इष्ट है। जिस प्रकार माता-पिता मे दिव्यता को भावना निहित होती है उसी प्रकार मातृभूमि मे दिव्यता का भाव निहित है। यही मातृभूमि हमारे पूर्वजो की जन्मभूमि और शिक्षा का का केन्द्र है। अत वह भी उतनो ही पूजनीय है जितने माता-पिता। विद्यार्थियो को कभी भी सकुचित दृष्टिकोण से दूसरे देशों की तुलना मे मातृभूमि के प्रति घृणा, उपहास, उपेक्षा और अनादर करना नही सीखना चाहिए क्योकि राष्ट्रीय उत्तराधिकार और उसकी विशेषताओ की उपेक्षा करने से स्वतत्रता की प्राप्ति या रक्षा नही हो सकती है। जब हम अपने चरित्र को राष्ट्र की प्रमुख विशेषताओ और महानताओ के अनुकूल पूर्ण बनायेगे तभी सच्चे अर्थों मे विश्वनागरिक के कर्तव्यो का पालन कर सकेंगे। अपनी राष्ट्रीय विशेषताओ की उपेक्षा करके दूसरे राष्ट्रो से मिलना लाभप्रद नही होता। इस प्रकार के आत्मघात और आत्मविनाश के द्वारा हमे कुछ भी उपलब्ध नहीं होगा। अपने निजीपन का विनाश करके हम जो कुछ भी प्राप्त करेंगे, वह नगण्य होगा। अत हमारे लिए यही शुभ है कि हम विस्तृत अर्थों मे, व्यापक दृष्टिकोण से अपने राष्ट्रीय मार्ग का अनुगमन करे। विदेशो का अनुकरण हमारे लिए वरदान नही होगा।

संगतिपूर्ण विकास

समन्वयवादी दृष्टिकोण होने के कारण, रवीन्द्रनाथ ऐसी शिक्षा मे विश्वास करते है जो मनुष्य को पूर्ण बनाए। उपनिषदो की परपरा के अनुसार वह जीवन के दो पक्ष स्वीकार करते है—आतरिक (आध्यात्मिक) तथा बाह्य (सामाजिक)। आध्यात्मिक पक्ष मनुष्य-जीवन के शाश्वत लक्ष्य—आत्मानुभूति अथवा परम-पुरुष से योग-स्थापन की ओर सकेत करता है। उनके अनुसार शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मानव-मन का उत्थान और विस्तार करके 'योग' की प्राप्ति की जा सकती है। योग का तात्पर्य है मन का मानव और प्रकृति के साथ आत्मीयता-पूर्ण सबध-स्थापन। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रथम आवश्यकता यह है कि व्यक्ति का चरित्र निर्मल हो और द्वितीय, वह अपनी साधना मे निरन्तर रत रहे। अत रवीन्द्रनाथ ने स्पष्ट कहा है कि विद्यालयो को बालको के लिए केवल पाठ पढने के स्थल नही होने चाहिए। (उनका काम आत्मा का निर्देश तथा आत्मिक प्रेम की प्रेरणा प्रदान करना भी है। सामाजिक पक्ष मनुष्य के जीवन के समाज-सबधी क्रिया-कलापो एव नियम और बधन तथा वातावरण मे

† विद्या और विद्यालय का आदर्श, 'शिक्षा', जूलाई, १९५९, पृष्ठ १३०

उसकी व्यावहारिक कुशलता की ओर सकेत करता है। शिक्षा द्वारा इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यकता इस बात की है कि विद्यालय बालको को विभिन्न प्रकार की क्रियाओ के लिए अवसर प्रदान करे ताकि इन क्रियाओ के माध्यम से वे अपनी क्रियात्मक शक्तियो को व्यावहारिक रूप दे सके। इसके अतिरिक्त बालको को विद्यालय मे अपनी सृजनात्मक एव रचनात्मक क्षमताओ के विकसित होने के लिए भी सुविधाएँ मिलनी चाहिए। कारण, इन शक्तियो एव क्षमताओ की निरतर गतिशीलता से चरित्र-निर्माण मे सहायता मिलती है तथा उसमे सचित दोष और विनाश की ओर ले जाने वाले तत्व स्वय नष्ट हो जाते है। सामाजिक पक्ष की शिक्षा के सबध मे रवीन्द्रनाथ ने पाश्चात्य शिक्षादर्श की व्यावहारिकता को भारतीय शिक्षण-पद्धति मे स्थान देने का समर्थन किया है और कहा है कि भारतीय शिक्षादर्श को शक्तिशाली एव यथार्थ रूप मे कार्यान्वित करने के लिए पाश्चात्य प्रतिभा का समन्वय करना चाहिए क्योकि उसमे मार्ग को प्रशस्त बनाने की क्षमता तथा व्यावहारिक उद्देश्य की ओर ले चलने की शक्ति है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि भारतीय आदर्शानुसार सामाजिक पक्ष को सदैव आध्यात्मिक पक्ष के अनुगत रहना होगा। भारतवर्ष ने प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के प्रतिदिन के भीतर से, समाज के प्रत्येक सबध के भीतर से उसे मुक्ति का अधिकार देने की चेष्टा की है।'

रवीन्द्रनाथ ने अपनी शिक्षा योजना मे यद्यपि आध्यात्मिक पक्ष पर अधिक बल दिया है, फिर भी उन्होंने सामाजिक पक्ष की उपेक्षा नही की है। सामाजिक पक्ष को उन्होंने आध्यात्मिक पक्ष के उद्देश्य की प्राप्ति मे एक साधन के रूप मे स्वीकार किया है। इस प्रकार उन्होंने ईशोपनिषद् के सत्य को व्यावहारिक रूप दिया है जिसके अनुसार, 'जो लोग केवल अविद्या अर्थात् ससार की ही उपासना करते है वे अन्ध तमस् मे प्रवेश करते है, और उससे भी अधिक अधकार मे वे प्रवेश करते है जो केवलमात्र ब्रह्मविद्या मे ही निरत है।'† 'विद्या और अविद्या दोनो को ही जो एकत्र जानते है वे अविद्या के द्वारा मृत्यु से उत्तीर्ण होकर विद्या के द्वारा अमृत को प्राप्त करते है।'‡ कहने का तात्पर्य है कि जिस प्रकार ससार और सासारिक बधन मनुष्य के अतिम लक्ष्य नही है वरन् उसके अतिम उद्देश्य अमरत्व की प्राप्ति मे केवल साधन मात्र है, उसी प्रकार शिक्षा का सामाजिक पक्ष आध्यात्मिकता की प्राप्ति का साधन-मात्र है। हम पहले भी देख चुके है कि 'समाज मनुष्य का अतिम लक्ष्य नही है, मनुष्य का चिर-अवलम्बन नही है, समाज बना

---

† अन्ध तम. प्रविशन्ति ये अविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया रत ॥

‡ विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभय सह,
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वाविद्यायामृतमश्नुते।

है मनुष्य को मुक्ति के मार्ग मे अग्रसर कराने के लिए।' अत हमे दोनो पक्षो मे सगति स्थापित करके चलना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ के विचार मे जीवन एक समन्वय है। मानव-जीवन मे उसके विभिन्न अगो एव तत्वो मे सगति की स्थापना होनी चाहिए। जीवन के शारीरिक, बौद्धिक तथा सामाजिक पक्षो को आध्यात्मिक पक्ष से अलग नही किया जा सकता। जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन्हे एकरूप होना पडेगा। रवीन्द्रनाथ के अनुसार सत्य एक है। अत शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिए बालक को सत्य की एकता का बोध कराना। परन्तु बालक को सत्य का वह रूप भी जानना आवश्यक है जिस रूप मे वह सामाजिक जगत् मे बालक के जीवन को प्रभावित करता है। सत्य की स्पष्ट रूपरेखा निर्धारित करते हुए उन्होने दो प्रकार के सत्यो को स्वीकार किया है—व्यावहारिक सत्य और परम सत्य। व्यावहारिक सत्य का सबध हमारे व्यावहारिक जीवन तथा प्रयोजनवादी उद्देश्यो से है और वह हमारे सामाजिक जीवन को प्रभावित करता है। परम सत्य व्यावहारिक प्रयोजनो से परे है, प्रेरणाप्रद है, और हमारे जीवन को प्रेरणा प्रदान करता है। इस प्रकार का सत्य भोज्य पदार्थ की भाँति नही है, वरन् हमारी भूख के समान है, जो सारी चीजो को पचा कर हमारे शरीर के अगो का सगतिपूर्ण विकास करती है और शरीर को शक्तिशाली बनाती है। 'धर्म' इसी प्रकार का सत्य है। रवीन्द्रनाथ पाठ्यक्रम मे सत्य के इन दोनो रूपो का समावेश करने के पक्ष मे है। दूसरे शब्दो मे, वह शिक्षा मे मनुष्य के आध्यात्मिक, मानसिक, नैतिक तथा शारीरिक सवर्द्धन करने वाले तत्वो को सम्मिलित करना चाहते है। उन्होने वर्त्तमान शिक्षापद्धति को इसीलिए एकागी माना है कि इसमे केवल बौद्धिक उन्नति की ओर ही ध्यान दिया जाता है। शिक्षा को सर्वतोमुखी बनाने के लिए ही उन्होने आध्यात्मिक और सामाजिक दोनो पक्षो के विकास को आवश्यक माना है। हाथो के प्रशिक्षण के लिए 'हस्तकला' तथा आत्मा के प्रशिक्षण के लिए 'धर्म' को उन्होने अपने आश्रमवासियो के लिए इसी कारण अनिवार्य बनाया।

रवीन्द्रनाथ ने जीवन की विभिन्न अवस्थाओ अथवा आश्रमो मे भी सगति स्थापित करके चलने के लिए आदेश किया है। हमारे जीवन का उद्देश्य है ब्रह्म की प्राप्ति। अत हमारे सपूर्ण जीवन को इसी उद्देश्य के अनुकूल व्यतीत होना चाहिए। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ बल देकर स्पष्ट करते है कि शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान एव विषय-शिक्षा तक ही सीमित नही होनी चाहिए। हमारे देश मे प्राचीन काल मे शिक्षा से तात्पर्य था ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म मे विचरण करना। हमारा सपूर्ण जीवन धर्ममय होना अनिवार्य था और इसीलिए शिक्षा का कार्य था बालक के जीवन को धर्म-व्रत के लिए तैयार करना। निष्कर्ष रूप मे ब्रह्मचर्याश्रम मे बालक को अपनी इच्छा-शक्ति का विश्व की इच्छा-शक्ति के साथ एकीकरण कर लेना चाहिए अन्यथा बालक का ज्ञान, प्रेम और कर्म उसके अहभाव से प्रेरित होगा जिसका परिणाम उचित न होगा। नियम और

सयम का जीवन बालक के लिए भोग और त्याग दोनो को सरल बना देता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम मे उच्च ज्ञान को ग्रहण करके व्यक्ति को गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करना चाहिए। इस द्वितीय आश्रम मे शुभ कर्मो द्वारा उसे अपनी आत्मा को और अधिक बलशाली बनाना चाहिए। इसके उपरात जीवन के तृतीय भाग, वानप्रस्थाश्रम मे प्रवेश करके व्यक्ति को अपने जीवन के सचित ज्ञान एव अनुभव को दूसरो को दान करना चाहिए और अपने आत्म-ज्ञान की वृद्धि करनी चाहिए। चतुर्थ आश्रम सन्यास मे व्यक्ति को ससार के सब बधन छोडकर अकेले उस अद्वैत ब्रह्म से एकाकार होने के लिए प्रस्तुत होना चाहिए। 'मनुष्य के जीवन को इस प्रकार से चलाने से ही उसका आद्यात-सगतिपूर्ण तात्पर्य प्राप्त किया जा सकता है।' यही जीवन-साधना का पथ है। रवीन्द्रनाथ के अनुसार इस पथ पर चलते समय हम जगत के सबधो की उपेक्षा नही कर सकते। उनके भीतर से निकलकर ही हम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकेंगे अन्यथा 'यदि पथ को वैराग्य से छोड दिया जाय, तो अपथ मे तो सात गुना चक्कर खाते फिरना होगा।'

रवीन्द्रनाथ ने जीवन के उपरोक्त चार आश्रमो की तुलना दिन के चार स्वाभाविक अशो—पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न और सायाह्न से की है। मनुष्य जीवन के यह चार विभाग उसके स्वाभावानुकूल ही किये गये है। जिस प्रकार दिन के पूर्वार्द्ध मे धीरे-धीरे प्रकाश और उष्णता की वृद्धि होती है और उत्तरार्द्ध में ह्रास, ठीक उसी प्रकार मानव-जीवन के प्रथम दो आश्रमो मे इन्द्रिय-शक्ति की क्रमश उन्नति होती है और बाद के दो आश्रमो मे अवनति। जीवन का यह स्वाभाविक क्रम, मनुष्य को कर्म और त्याग में सगति स्थापित करके चलने के लिए मार्ग निर्देशन करता है, अर्थात् जीवन के प्रथम अर्द्ध-भाग मे कर्मशील रहना परन्तु उत्तरार्द्ध मे बाहरी उपकरणो का त्याग करके एक अतरात्मा मे निमग्न रहना। जो इन्द्रिय शक्ति घटने पर भी त्याग के लिए प्रस्तुत नही होता उसको सब कुछ विवशात् छोडना पडता है।

धर्म का स्वरूप

भारत के प्राचीन दार्शनिको की भाँति रवीन्द्रनाथ का विश्वास है कि अन्य विषयो की तरह धर्म की शिक्षा नही दी जा सकती है। धर्म को नपे-तुले रूप मे विद्यार्थियो को ग्रहण नही कराया जा सकता है और न उसे शिक्षा-व्यवस्था द्वारा शासित किया जा सकता है। धर्म की भावना उत्पन्न करने या उसकी शिक्षा देने के लिए उपयुक्त वातावरण और धार्मिक जीवन के प्रकाश की अपेक्षा होती है। इसीलिए उन्होने धार्मिक शिक्षा प्रदान करने के लिए भारत की प्राचीन गुरुकुल-व्यवस्था को एकमात्र साधन माना है। उन्होने अनुभव किया कि उपनिषदो मे धार्मिक विचार उत्पन्न करने की अद्भुत शक्ति है क्योकि उनमे सकीर्णता की भावना नही है। उन्होने कहा है, "उपनिषदो ने इस विचित्र जगत्-ससार को ब्रह्म के ही अनत सत्य मे, ब्रह्म केही अनत ज्ञान मे विलीन करके

देखा है। उपनिषदो ने किसी विशेष लोक की कल्पना नही की, किसी विशेष मदिर की रचना नही की, किसी विशेप स्थान मे उनकी विशेष मूर्ति की स्थापना नही की, एकमात्र ब्रह्म की ही परिपूर्ण-रूप से सर्वत्र उपलब्धि करके सर्व-प्रकार की जटिलता और कल्पनाओ के चाञ्चल्य को दूर हटा दिया है। धर्म की विशुद्ध सरलता का ऐसा विराट आदर्श और कहाँ है ?"†

रवीन्द्रनाथ ने धर्म को 'परिपूर्णता और सरलता का आदर्श' माना है। पर आज ससार मे धर्म का प्रचलित रूप अत्यत दुरूह और जटिल हो गया है। धर्म अनेको क्रिया-कर्म, तत्र-मत्र और वादो मे जकड दिया गया है। इसके अतिरिक्त एक-एक धर्म के अतर्गत कई-कई सप्रदाओ की स्थापना हो गयी है। इन सप्रदायो मे उपासना, पूजा, क्रिया-कर्म की अपनी अपनी विधियाँ है, ईश्वर के स्वरूप और उसको प्राप्त करने के पृथक-पृथक मार्ग है जिसके कारण प्राय उनमे परस्पर सघर्ष, द्वेप और विरोध भी चलता रहता है। अत इस प्रकार का धर्म ससार मे शान्ति के स्थान पर अशाति ही फैलाता है। धर्म ने जो आज यह विकृत रूप धारण कर रखा है उसका एक मात्र कारण है कि हमने धर्म को अपने अनुरूप बनाने का प्रयत्न किया है। हमने धर्म को स्वार्थवश व्यवहार-योग्य एव उपयोगी बनाने की चेष्टा की है। इसके प्रतिकूल उत्तम तो यह होगा कि हम अपने को धर्म के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करे। धर्म किसी स्थान विशेष, काल विशेप के अनुसार नही होता है। उसका आदर्श अमर और सनातन है। उसका रूप नही बदलता और अपने इसी रूप मे वह सदैव धारण करने योग्य है। यही कारण है कि उपनिषद् मे कहा गया है —

'यो वै भूमा तत् सुख नाल्पे सुखमस्ति।'

अर्थात्, "जो भूमा है वही सुख है, जो अल्प है उसमे सुख नही। उस 'भूमा' को यदि हम धारणा-योग्य बना लेने के लिए 'अल्प' कर लेते है तो उससे दुख की ही सृष्टि होगी। फिर दुख से रक्षा कैसे होगी ? इसलिए, ससार मे रहकर हमे भूमा की उपलब्धि करनी होगी, सासारिक प्रयोजन के लिए, उस भूमा को खण्डित और जडित करने से काम नही चलेगा" ‡

रवीन्द्रनाथ कहते है कि उपनिषद् के ब्रह्म अगोचर ब्रह्म है। वह विश्वव्यापी है, वह सर्वान्तिर्यामी है। वह 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' है। 'उनके सत्य से ही हम सत्य है और उनके आनन्द से ही हम व्यक्त है।' अत ऐसे ब्रह्म की प्राप्ति के लिए किसी प्रकार के बाह्य आडबरो की आवश्यकता नही है, कोई विशेष मुहूर्त छाँटने की आवश्यकता नही है और न कही दूर जाने की ही आवश्यकता है। जिस प्रकार दिन का प्रकाश देखने के लिए केवल आँख खोलने की आवश्यकता है उसी प्रकार ब्रह्म को पाने के लिए केवल

---

† 'रवीन्द्र साहित्य' भाग २५, पृष्ठ ७

‡ 'रवीन्द्र साहित्य', भाग २५, पृष्ठ ५

हृदय मे तीव्र इच्छा जाग्रत करने की आवश्यकता है। रवीन्द्रनाथ का कथन है जो सहज ढग से प्राप्त किया जा सकता है उसे नाना प्रकार के साधनो द्वारा प्राप्ति की चेष्टा उसे और अधिक दुर्लभ बना देगी।

विदेशियो और उनके अनुगामी भारतीयो का यह आरोप है कि 'प्राचीन हिन्दू-शास्त्रो मे पाप की ओर अधिक ध्यान नही दिया गया है, यही हिन्दू-धर्म की असपूर्णता और निकृष्टता का परिचय है।' किन्तु जिन बातो को लेकर हिन्दू-धर्म को निकृष्ट कहा जाता है उन्ही बातो को रवीन्द्रनाथ उसकी श्रेष्ठता और महानता का आधार मानते है। उनके अनुसार हमारे शास्त्रकार पाप की समस्या से पूर्णतया परिचित थे। वे जानते थे कि जब मनुष्य की आत्मा ब्रह्म मे रम जाती है, चित्त ईश्वर की ओर लग जाता है और उसे ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है तब पाप और सब प्रकार के दोष स्वत नष्ट हो जाते है। हृदय मे ईश्वर-आनन्द का प्रकाश होते ही पाप रूपी अधकार स्वय नष्ट हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि माँ को यह उपदेश दिया जाय कि तुम्हे बच्चे के पालन-पोषण मे साव-धान रहना चाहिए, तुम्हे यह करना चाहिए और यह नही करना चाहिए तो उपदेशो का कही अत नही होगा। माता को बच्चे के प्रति कर्त्तव्य-पालन का उपदेश देने वाली एक सहिता बन जायगी। किन्तु यदि माता को यह ज्ञात है कि बालक को 'प्यार करना' है तो किसी अन्य उपदेश की आवश्यकता नही पडेगी। इसी प्रकार जब अत करण मे ब्रह्म का प्रकाश भर जायगा तब पाप के विषय मे कुछ कहने-सुनने का अवकाश ही नही रह जायेगा। रवीन्द्रनाथ का मत है कि पाश्चात्य धर्मशास्त्रो ने पाप और पाप से मुक्ति की समस्या को उलझनपूर्ण बना दिया और बुद्धिवादी विचारणा ने ईश्वर को खडित एव धर्म को दुर्बल बना दिया है।

रवीन्द्रनाथ के अनुसार वर्त्तमान युग मे धर्म-प्रचारको की दशा भी विचित्र है। ऐसे व्यक्ति जिन्होने कभी जीवन मे धर्म को धारण नही किया, जिन्होने धर्म की अनुभूति नही प्राप्त की, आज धर्म का प्रचार करते है। इस प्रकार के प्रचारक धर्म मे हमे अनुरक्त नही करते वरन् उसे हमारे जीवन से पृथक करते है। विभिन्न धर्म-सप्रदायो ने धर्म को विचित्र रूप दे डाला है। उपासना के लिए मदिर, मसजिद और गिर्जाघरो की व्यवस्था करके धर्म को स्थान विशेष तक सीमित कर दिया है। इसी प्रकार दिन और समय का बधन लगा कर धर्म को सीमित कर दिया गया है। सभी धर्म-सप्रदायो की अपनी-अपनी मान्यतायें है जिन्हे वे लक्ष्मण-रेखा समझते है। अपनी बनायी हुई परिधि के भीतर रहना धर्म और उसके बाहर जाना अधर्म समझते है। धर्म की इसी कृत्रिम सीमा की रक्षा करने के लिए इनमे सघर्ष और उपद्रव होता है। धर्म इसी रेखा की रक्षा का पर्याय बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो धर्म कोई ऐसी पृथक वस्तु है जिसका हमारे जीवन से कोई सबन्ध नही। मनुष्य के दैनिक व्यापारो का उसमे कोई स्थान नही है। इस प्रकार के सीमा-निर्धारण और सकुचित दृष्टिकोण के कारण ही आज मनुष्य के बीच विषमता और

द्रोह उत्पन्न करना धर्म का लक्षण हो गया है ।

रवीन्द्रनाथ इस प्रकार के सीमित एव सकुचित धर्म को सच्चा धर्म नही मानते है । उनका कथन है कि "ससार के समस्त वैषम्यो मे जो एक मात्र ऐक्य है, समस्त विरोधो मे जो शान्ति लाता है और समस्त विच्छेदो मे जो एक-मात्र मिलन का सेतु है, उसी को धर्म कहा जा सकता है ।"† उनके विचार मे धर्म के अतर्गत सपूर्ण मनुष्यता समाविष्ट है और धर्म जीवन के सपूर्ण क्षेत्रो मे समन्वय स्थापित करता है । धर्म की इस समन्वयकारी प्रवृति की उपेक्षा करके जब उसे खडो मे विभक्त किया जाता है, देश-जाति सापेक्ष्य बनाया जाता है, सकुचित एव सीमित बनाया जाता हे तब वह विनाशकारक हो जाता है ।

वह स्पष्टत घोषणा करते है कि भारतवर्ष मे धर्म का यह सकुचित रूप एव सकीर्ण आदर्श नही रहा है । "हमारा धर्म 'रिलीजन' नही है, वह मनुष्यत्व का एकाश नही है, वह राजनीति से तिरष्कृत नही है, वह युद्ध से वहिष्कृत नही है, व्यवसाय से निर्वासित नही है, दैनन्दिन व्यवहार से दूरीकृत नही है । समाज के किसी विशेष-अश मे उसे प्राचीर-बद्ध करके मनुष्य के आराम-आमोद से, काव्य-कला से, ज्ञान-विज्ञान से उसकी सीमा-रक्षा के लिए सर्वदा पहरा नही खडा है । ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ आदि आश्रम इस धर्म को ही जीवन मे, ससार मे, सर्वतोभाव से सार्थक करने के सोपान है । धर्म ससार के आशिक प्रयोजन-साधन के लिए नही है, समग्र ससार ही धर्म-साधन के लिए है । इस तरह धर्म ने गृह मे गृह-धर्म, राज्य मे राजधर्म होकर भारतवर्ष के समग्र समाज को एक अखड तात्पर्य प्रदान किया था"‡ हमारे यहाँ जीवन की सफलताओ—कीर्ति, यश आदि को तभी सार्थक माना जाता था जब वह धर्म के अनुकूल प्राप्त की जाती थी । अत व्यक्ति का सपूर्ण जीवन, उसका प्रत्येक कार्य, धर्ममय होना चाहिए । धर्म जीवन के किसी भी क्षेत्र से परे नही है ।

धर्म-साधन की विधि—रवीन्द्रनाथ के अनुसार धर्म, "हमारे सपूर्ण जीवन का सत्य है । अव्यक्त के साथ हमारे व्यक्तित्व के सबधो की चेतना है, यह हमारे जीवन के गुरुत्वाकर्षण का वास्तविक केंद्र है ।" तथ्य यह है कि धर्म अनुभूति है वह केवल सीखने या जानने की वस्तु नही है । यही कारण है, कि वह धर्म की शिक्षा को अन्य विषयो की भाँति पाठ्यक्रम का विषय नही बनाना चाहते है और न उसे समय-सारणी की सीमा में बाधना चाहते है । धार्मिक शिक्षा के लिए, धार्मिक आलोक की प्राप्ति, सादगी का जीवन तथा उचित वातावरण की आवश्यकता है । जब साधन साध्य के अनुरूप होते है तभी सफलता शीघ्रता से मिलती है । अत ब्रह्म, 'जो अन्तर मे है, जो आत्मा मे है उन्हे अन्तर मे ही, आत्मा में ही' प्राप्त करना चाहिए ।

† 'रवीन्द्र-साहित्य', भाग २५, पृष्ठ ५७

‡ 'रवीन्द्र-साहित्य', भाग २५, पृष्ठ ५८

उनके विचार मे, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए 'सोना पाने की-सी चेष्टा न करके आलोक पाने की-सी चेष्टा करनी चाहिए।' कारण, 'सोना पाने की-सी चेष्टा' अर्थात् नाना प्रकार के बाह्य उपकरण अनेक विरोध, वैमनस्य का कारण बनकर ब्रह्म की प्राप्ति को और अधिक दुःसाध्य बना देते है। इसके विपरीत 'आलोक पाने की-सी चेष्टा' मे जैसे केवल आँख खोलने की आवश्यकता है उसी प्रकार ब्रह्म के पाने के लिए केवल हृदय के उन्मीलन की आवश्यकता है। केवल हृदय मे इच्छा-शक्ति को बलवती करना है। मनुष्य के जीवन मे इच्छा-शक्ति का महत्वपूर्ण स्थान है क्योकि इसी के द्वारा विश्व-शक्ति, अर्थात् ब्रह्म के साथ सामजस्य की स्थापना की जा सकती है और उसके आनद को प्राप्त किया जा सकता है। रवीन्द्रनाथ ने मन को निखिल ब्राह्माड मे प्रसारित करके ब्रह्म की अनुभूति करने के लिए गायत्री मत्र का ध्यान सर्वोत्तम साधन माना है, यह उद्बोधन मत्र 'बाहर के साथ अतर और अतर के साथ अतरतम का योग कराता है, और हमे स्पष्ट रूप से यह आभास देता है कि ब्रह्म ही इस जगत को तथा हमारी बुद्धियो को प्रेरित करता है। ब्रह्म ही परम सत्य है और उसे जानने पर विश्व के सभी रहस्य स्वयमेव प्रकट हो जाते है। रवीन्द्रनाथ कहते है कि ब्रह्म के ध्यान करने की यह वैदिक पद्धति बडी सरल और उदार है। सरल इसलिए है कि बाह्य जगत और अपनी बुद्धि को कही ढूँढने जाने की आवश्यकता नही है और उदार इस कारण है कि इसमे देश, काल, जाति और सप्रदाय तथा व्यक्ति विशेष की प्रकृति की कोई अपेक्षा नही है।

प्राचीन भारत मे इस उद्बोध-मन्त्र के सदृश्य ही प्रार्थना का मन्त्र भी था

असतोमा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतगमय।

अर्थात् मुझे असत्य से सत्य को ओर ले जाओ, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ, मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाओ। परन्तु रवीन्द्रनाथ ने यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि प्रार्थना-मन्त्र को केवल कानो से सुनने और मुख से उच्चारण करने मात्र से सार्थकता नही प्राप्त की जा सकती है। हम सत्य, ज्योति और अमृत को तभी प्राप्त कर सकेंगे जब अपने सपूर्ण जीवन से उसे पाने की चेष्टा करेगे। हम जिसकी इच्छा करेंगे वही हमे प्राप्त होगा। धन, मान-सम्मान की इच्छा हमें अनेकता, वैषम्य और विरोध की ओर ले जायेगी। इसी प्रकार सत्य, आलोक और अमृत की इच्छा हमे 'एक' की ओर ले जायेगी। अत यह सब केवल 'इच्छा' का ही 'धर्म' है।

हमे अपनी 'इच्छा' को यथार्थ रूप से जानना चाहिए। इच्छाशक्ति को आरम्भ से ही उचित दिशा मे, उचित लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नियत्रित करना चाहिए अन्यथा सासारिक कामनाओ का कही अन्त नही। 'इच्छा को नष्ट करना हमारी साधना का विषय नहीं है, इच्छा को विश्व-इच्छा के साथ एक-सुर मे बाँधना ही हमारी सकल शिक्षा का चरम लक्ष्य' है। इच्छाशक्ति को मर्यादित रखने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। यही कारण है कि भारत मे शिक्षा ब्रह्मचर्यव्रत और धर्मव्रत थी। सत्य, अहिंसा,

इन्द्रिय-निग्रह, दान, कर्म आदि को तपस्या कहा गया है। विद्यार्थी इसी प्रकार का तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत करता था। नियम सयम के अभ्यास द्वारा अपनी आत्मा मे और विश्व मे ब्रह्म का साक्षात्कार करता था। रवीन्द्रनाथ का कथन है कि ब्रह्म के प्रति अनुराग का अर्थ यह नही है कि ससार की उपेक्षा की जाय अथवा उससे विरक्त हुआ जाय। वह ससार से विरक्त होने को, उसके प्रति विमुख होने को ब्रह्म के प्रति विरक्त होना मानते है। मनुष्य को यह विचार करना चाहिए कि उसमे धैर्य कितनी मात्रा मे है, वह दूसरो के अपराधों को क्षमा कर सकता है या नही, ईर्ष्या-द्वेष, घृणा, दूसरो की निन्दा, लोभ आदि दुर्गुण उसमे है या नही और वह अपने अहकार को जीत सका है या नही। इस प्रकार जब वह अपने को टटोलेगा, अपने दोषो को झुक-झुक कर देखेगा और आत्म-परिष्कार करेगा तब उसे यह ज्ञात होगा कि ब्रह्म की प्राप्ति की दिशा मे वह कहाँ तक अग्रसर हो सका है, ब्रह्म के सत्य स्वरूप को इस विश्व मे कहाँ तक देख सका है।

ब्रह्मचर्य सादे जीवन का प्रतीक है। सादगी और धार्मिक शिक्षा के लिए उपयुक्त वातावरण का महत्व सर्वाधिक है। इनकी पूर्ति ऐसे वातावरण मे ही सम्भव है जहाँ सत्य के आध्यात्मिक जगत की प्राप्ति मे कृत्रिम आवश्यकताओ का समूह बाधा न उत्पन्न करता हो, जहाँ जीवन मे सरलता और अवकाश हो, जहाँ वायु स्वच्छ हो, प्रकृति पूर्णतया शान्त हो और मनुष्य अनादि जीवन मे पूर्ण आस्था रखते हुए निवास कर सके।

शिक्षा के प्राचीन भारतीय आदर्श

रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन और शिक्षा-दर्शन मे साम्य है। उन्होने भारतीय आदर्शवादी दर्शन के अनुसार जीवन और शिक्षा का अन्तिम लक्ष्य परम सत्य की अनुभूति ही माना है। स्वभावत उन्होंने भारतीय शिक्षादर्शों के उपयोग का समर्थन किया है।

तपोवन आश्रम—रवीन्द्रनाथ भारत की तपोवन शिक्षा-व्यवस्था के प्रबल समर्थक थे। प्राचीन भारत के शिक्षा-प्रयोग मे उन्हे अपने देश की समस्याओ का समाधान प्राप्त हुआ। तपोवन स्थित आश्रमो मे सरल एव जीवन के पूर्ण आदर्शों की शिक्षा दी जाती थी और वहाँ जीवन-विकास के लिए पवित्र तथा अनुकूल वातावरण प्राप्त होता था। उन्होने कहा है कि ऐसे स्थलो मे बालको को शिक्षा देना व्यर्थ है, जो उन्हे सत्य के मार्ग से दूर ले जाते हैं। ऐसे स्थानो मे जहाँ जीवन व्यक्तिगत हित के लिए सघर्ष से भरा हुआ है और व्यक्ति का ध्यान केवल अपने ही स्वार्थो पर केन्द्रित है जहाँ मनुष्य केवल अपने हितो और सुखो के लिए जीवन को कृत्रिम ढग से व्यतीत करता है, वहाँ शिक्षा देने से बालको के मन मे असामयिक इच्छाएँ उत्पन्न होती है। बौद्धिक जीवन के बीजारोपण के समय और विकास की प्राथमिक स्थिति मे कोमल, शात एव आदर्शपूर्ण वातावरण की आवश्यकता होती है, अत बालको को ऐसे क्षेत्रो से दूर रखना चाहिए, जहाँ मनुष्य केवल अपने स्वार्थों तथा क्षुद्र आवश्यकताओ के लिए सघर्ष-रत है। उन्हे ऐसे स्थानो

मे रखना चाहिए जहाँ उनके अनुकूल विकास की सभावनाएँ हो, जहाँ वे स्वतन्त्रता पूर्वक जीवनानुभवो के मार्ग पर शातिपूर्वक चल सके, जीवनानुभवो को सचित कर सके, और जहाँ आध्यात्मिक उत्तराधिकार उनकी प्रतीक्षा करता हो।

शिक्षा मे ग्रामीण आदर्श—रवीन्द्रनाथ प्राचीन भारत की तपोवन शिक्षा-व्यवस्था मे आस्था रखने के साथ ही साथ, भारतीय शिक्षा मे 'ग्रामीण-आदर्श' की पुन स्थापना का समर्थन करते है। ग्राम्य जीवन की विशेषताएँ है—सरलता, धन-धान्य की पूर्णता एव अतिथि-सत्कार, अर्थात् सामाजिक भावना का विकास। इसके विपरीत नगर के जीवन की विशेषताएँ है—कृत्रिमता, शिक्षा की आधुनिक व्यवस्था, व्यापार-वृत्ति फल स्वरूप स्पर्धा के भाव की जागृति, अर्थात् वैयक्तिक भावना का विकास। शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वैयक्तिक और सामाजिक दोनो पक्षो के विकास की अपेक्षा है। इसके अतिरिक्त, वैयक्तिक और सामाजिक, दोनो आदर्शो मे सपूर्ण सामन्जस्य की आवश्यकता है। यदि हम वर्त्तमान परिस्थिति पर ध्यान दे तो यह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि आज गाँवो के स्थान पर नगरो की सख्या बढती जा रही है, अर्थात् वैयक्तिक आदर्श को प्रधानता मिल रही है। 'भारतमाता मुख्यत ग्रामवासिनी है।' पाश्चात्य सभ्यता के फेर मे उसके आदर्शो की उपेक्षा की गयी है। अत हमे पुन 'ग्रामीण आदर्श'—सामाजिक आदर्श की स्थापना करना आवश्यक है। केवल यही नही, 'मानवीय सभ्यता की रक्षा के लिए' भी इस आदर्श को पुन प्रतिष्ठित किया जाना चाहिए।

रवीन्द्रनाथ ने ग्रामो की तुलना स्त्री से की है—"जनपद स्त्रियो के समान है। मानव जाति को रक्षा के लिए उनकी रक्षा करना आवश्यक है। नगरो की अपेक्षा वे प्रकृति के अधिक समीप है, अतएव वे जीवन स्रोत के निकट सम्पर्क मे है।" यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ने 'शातिनिकेतन' की स्थापना एक गाँव के शात वातावरण मे की और अपने आश्रम मे ग्रामीण आदर्श को प्रमुखता दी।

विद्यार्थी और ब्रह्मचर्य—प्राचीन भारतीय आदर्शो और व्यवहारो मे रवीन्द्रनाथ का दृढ विश्वास था, अत उन्होने ब्रह्मचर्य-व्यवस्था की बहुत प्रशसा की है और इसीलिए शिक्षा को ब्रह्मचर्य व्रत और धर्मव्रत कहा है। उन्होने ब्रह्मचर्य का पालन विद्यार्थी के लिए अनिवार्य बताया है। उनके अनुसार विद्यार्थी को सयमी, विलास से पृथक, पवित्र हृदय वाला होना चाहिए। उसमे अपने लक्ष्य के प्रति निष्ठा और गुरु के प्रति भक्ति अपेक्षित है। इन आदर्शों को अपने सम्मुख रखकर ही विद्यार्थी मानवता के साक्षात्कार की दिशा मे अग्रसर हो सकते है। शिक्षा, सासारिक जीवनयापन की तैयारी है और योगसाधन द्वारा 'परमपुरुष' के साथ सम्बन्ध-स्थापन का साधन है। अत विद्यार्थी के लिए विद्या प्राप्ति और जीवन के अतिम लक्ष्य की प्राप्ति, दोनो ही दृष्टि से ब्रह्मचर्य का पालन करना अनिवार्य है।

आदर्श अध्यापक—भारतीय परपरा के अनुसार रवीन्द्रनाथ भी मानते है कि शिक्षा मे अध्यापक का उत्तरदायित्व सबसे अधिक है। इसीलिए उसे आत्मसयमी तथा त्यागी होना चाहिए क्योकि इन्ही गुणो द्वारा वह छात्रो को अपनी ओर आकर्षित कर सकता है। अध्यापक को पूर्वग्रही, असहिष्णु, चचल, निम्नविचार वाला, अहकारी और सकीर्ण स्वभाव का नही होना चाहिए। उसे आलस्य और प्रमाद से दूर रहना चाहिए। यदि अध्यापक विद्यार्थियो पर शुभ प्रभाव डालना चाहता है तो उसे अपना आचरण शुद्ध रखना चाहिए क्योकि सात्विक आचरण द्वारा ही वह छात्रो की भक्ति, स्नेह और सम्मान का पात्र हो सकता है। प्रत्येक दृष्टि से आदर्श अध्यापक ही छात्र के जीवन का पूर्ण विकास कर सकता है, किंतु शिक्षक को बालको पर अपने विचार लादना नही चाहिए। जो अध्यापक बालक के स्वभाव और उसकी प्रवृतियो को नही समझता है, वह शिक्षा देने के लिये पूर्णतया अनुपयुक्त होता है। वह अध्यापक सही रूप मे शिक्षा नही दे सकता जो स्वय भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए निरतर प्रयत्नशील नही रहता है। शिक्षक और छात्र मे सजीव सपर्क होना चाहिए। जब एक मन से दूसरे मन का सपर्क होता है, तभी आनद की उत्पत्ति होती है। यह आनद सृजनात्मक होता है और विद्यालय मे जो शिक्षक प्रति-क्षण आत्म-साक्षात्कार करता है, वही अपनी ज्ञानराशि सरलता पूर्वक छात्र को दे सकता है।

रवीन्द्रनाथ का कहना है कि बालको का ऐसा स्वभाव होता है कि वे अध्यापको द्वारा प्रदान की जाने वाली विद्या को सीखने मे तो बहुत विलम्ब करते है, किन्तु उनके मनोभावो को सीखने मे उन्हे कोई कष्ट नही उठाना पडता है। अत शिक्षण-कार्य मे जो कुछ अन्याय अविचार, अधैर्य, क्रोध और पक्षपात होता है, उसे बालक अन्य ग्रहणीय बातो की अपेक्षा शीघ्र ग्रहण कर लेते है। इसलिए दोषो के सक्रामक रोग से बालको को बचाने के लिए अध्यापको को स्वय अपने चरित्र और व्यवहार के विषय मे विशेप रूप से सतर्क रहना चाहिए।

अध्यापक और दड—रवीन्द्रनाथ बालको को दड देने के सबध मे अध्यापक को सचेत करते है। शिक्षा मे बालको को दड देने की जो परिपाटी चली आ रही है, उन्होने उसका सदैव विरोध किया है। उन्होने स्वय अपने अनुभवो से सीखा था कि विद्यार्थी को दड देना किसी भी दशा मे उचित नही है। बच्चो के स्वतत्र विकास के पक्षपाती होने के कारण वह अपराध के लिए बालको को दड देने के पक्ष मे नही है। उनका कथन है कि अपराध करना बालको का काम है और क्षमा करना शिक्षको का धर्म है। वह लिखते है, 'अब अगर हममे से कोई छात्रो के व्यवहार से क्रुद्ध और भयभीत होकर, विद्यालय के अमगल की आशका से असहिष्णु होकर उन्हे तत्काल दड देने के लिए उद्यत हो जाता है, तो मेरे अपने छात्र-अवस्था के समस्त पाप एक कतार में खडे होकर मेरे मुँह की ओर देखते हुए हँसने लगते है।' 'मै अच्छी तरह समझता हूँ कि लडको के अपराधो को हम

बडो के पैमाने पर नापा करते है और यह भूल जाते है कि छोटे लडके झरने के समान वेग से चलते है । वह जल यदि दोषो का स्पर्श करता है, तो हताश होने का कोई कारण नही क्योकि गतिशीलता मे सभी दोषो का सहज प्रतिकार विद्यमान है । वेग जहाँ रुकता है, वही खतरा है और वहाँ सावधान होना ही चाहिए ।' अत शिक्षक को स्वय अपराध से डरना चाहिए, छात्रो को उतना नही । अध्यापक को उचित है कि वे बालको को उचित मार्ग की ओर प्रेरित करें ।

शिक्षा का माध्यम—रवीन्द्रनाथ ने स्वीकार किया है कि बालको को पूर्ण शिक्षा प्रदान करने के लिए विदेशी भाषा उचित माध्यम नही है। विदेशी भाषा के माध्यम से शिक्षा देना एक बहुत बडा दोष है, जिसके कारण बालक अध्ययन से विरक्त होने लगते है । उनके विचार मे अधिकाश छात्र स्वभावत विदेशी भाषा सीखने मे असमर्थ होते है । भारत मे ऐसे छात्र, अग्रेज़ी के बिना पर्याप्त ज्ञान के ही, किसी प्रकार मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए विवश होते है । ऊँची कक्षाओ मे इसका परिणाम बडा हानिकारक होता है । अग्रेजी शिक्षा का परिणाम यह होता है कि हम अनिवार्यत पश्चिम से प्रेरणा लेने को बाध्य होते है । उनका कहना है कि बालको की शिक्षा उनकी मातृभाषा के माध्यम से होनी चाहिए, ऐसी व्यवस्था होने पर ही उनका पूर्ण विकास हो सकता है । राष्ट्रीय शक्ति का यह कितना भयकर अपव्यय है कि इस देश के हज़ारो विद्यार्थियो को ऊँची कक्षाओ मे उस विदेशी भाषा का व्यवहार करना पडता है, जिसे सीखने की योग्यता उनमे नही है यद्यपि उनमे सीखने की इच्छा है ।

उनके अनुसार 'अनेकता मे एकता' का सिद्धात शिक्षा के माध्यम के विषय मे भी पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है । उनका कहना है कि पहले लैटिन ही सारे योरोप की सघीय भाषा थी, किंतु वास्तव मे वहाँ एक सघीय सस्कृति का विकास तभी सभव हुआ जब वहाँ के देशो ने अपनी-अपनी भाषाओ का विकास कर लिया । यही बात अपने देश के विषय मे भी सत्य है। एक समय था जब हमारे देश मे सस्कृति व विचारो के आदान-प्रदान की भाषा सस्कृत थी, किंतु वास्तव मे विचारो की समृद्धि के लिए राष्ट्रीय भाषा के साथ-साथ सभी प्रातीय भाषाओ का पूर्ण विकास होना चाहिए। इस प्रकार रवीन्द्र-नाथ ने बालको को मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने को आवश्यक माना है। मातृ-भाषा मे शिक्षा पाने पर ही बालक का उचित विकास हो सकता है ।

पाठ्य-विषय

रवीन्द्रनाथ के शिक्षादर्शन के साकेतिक शब्द है—'सपूर्णता,' 'सबद्धता' और 'समन्वय' । वह मनुष्य को पूर्ण बनाने वाली शिक्षा मे विश्वास करते है । उपनिषदो की परपरा के अनुसार जैसा हम पहले भी देख चुके है, वह मानव जीवन के दो पक्ष स्वीकार करते है—आतरिक (आध्यात्मिक) तथा बाह्य (सामाजिक) । इन्ही दोनो पक्षो का विकास शिक्षा का उद्देश्य है । प्रथम पक्ष का विकास मनुष्य को जीवन के परम सत्य, 'एकता',

के साक्षातकार मे सहायक है और द्वितीय पक्ष उसके जीवन के समाज सबधी व्यावहारिक सत्यो के जानने मे। मनुष्य के आतरिक विकास मे सहायक है 'धर्म' की साधना और सामाजिक विकास मे समाज सबधी विषय—कला और विज्ञान। अत वह पाठ्य विषय में दोनो प्रकार से सबधित विषयो का समावेश चाहते है। परतु रवीन्द्रनाथ के विचार मे जीवन एक समन्वय है। मानव जीवन के विभिन्न अगो मे सगति की स्थापना आवश्यक है, जीवन के बौद्धिक और शारीरिक पक्ष से आध्यात्मिकता को दूर नही किया जा सकता। अत सभी सामाजिक विषयो की शिक्षा इस प्रकार दी जानी चाहिए कि वे आध्यात्मिक पक्ष के अतर्गत रहते हुए बालक के आतरिक और सामाजिक विकास मे सहायक हो। दूसरे शब्दो मे, परम सत्य और व्यावहारिक सत्यो मे सगति की आवश्यकता है। यह सगति इस आधार पर सरलता पूर्वक की जा सकती है कि प्रथम प्रकार का सत्य अर्थात् धर्म, अन्य विषयो की भाँति पढाने का विषय नही है, वह सूचना मात्र नही है, वह है प्रेरणा-प्रद सत्य। अत सभी विषयो को इस सत्य से प्रेरणा प्राप्त करते हुए, वालक का बाह्य और आतरिक दोनो प्रकार का विकाम करना चाहिए। रवीन्द्रनाथ वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति को एकागी बताते है। वह बालक की केवल बौद्धिक उन्नति पर ही ध्यान देती है। व्यक्ति के सपूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए सत्य के दोनो रूपो का पाठ्य-विषय मे प्रतिनिधित्व आवश्यक है।

रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन के सबध मे हमने देखा कि उपनिषद् मे ब्रह्म के स्वरूप को तोन भागो मे विभक्त किया गया है—सत्य, ज्ञान और अनन्त। ब्रह्म के इन्ही तीन रूपो के अनुरूप मानव-आत्मा की भी तीन दिशाएँ है—'मैं हूँ', 'मै जानता हुँ', और 'मै व्यक्त करता हूँ'। यह तीनो दिशाएँ मिलकर मानव के पूरे रूप का परिचय देती है। यदि हम मानव-आत्मा की इन दिशाओ को ध्यान मे रखकर पाठ्यक्रम को निर्धारित करे तब भी हम उपर्युक्त निष्कर्ष पर ही पहुँचेगे। 'मै हूँ, यह ब्रह्म के सत्य स्वरूप के अतर्गत है, अत ब्रह्म के इस रूप को जानने के लिए बालको को शारीरिक विज्ञान मनोविज्ञान, चिकित्सा-शास्त्र, समाज-शास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। 'मै जानता हूँ'—यह ब्रह्म के ज्ञान स्वरूप के अतर्गत है, अत ब्रह्म के इस रूप को जानने के लिए, नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, भाषा, इतिहास, भूगोल गणित-शास्त्र नाना-विज्ञान आदि विषयो का अध्ययन करना अनिवार्य है। 'मै व्यक्त करता हूँ', यह ब्रह्म के अनत स्वरूप के अतर्गत है, अत विभिन्न प्रकार के हस्त-कौशल, सगीत और कला ब्रह्म के इस रूप को व्यक्त करने के लिये सहायक साधन है। ब्रह्म के इन तीनो रूपो को लेकर ही 'एक अखड सत्य' होता है, अत बालक के सपूर्ण विकास के लिए उसकी शिक्षा मे इन तीनो पक्षो मे से किसी की भी उपेक्षा नही की जानी चाहिए। पाठ्य-क्रम को इतना ब्यापक होना चाहिए कि बालक अपनी रुचि के अनुसार विषयो का अध्ययन कर सकें। विषयो की सार्थकता बालक के सामाजिक और आध्यात्मिक दोनो प्रकार के विकास में निहित है।

यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ने बहुत पूर्व ही शातिनिकेतन मे 'सपूर्णता' के सिद्धात का शिक्षा मे प्रयोग किया। 'अखड-ज्ञान को ही उन्होने 'बुद्धिमत्ता' कहा। विद्यालयो का उद्देश्य बालको के शारीरिक अगो को केवल शिक्षित बनाना और आकस्मिक समय के लिए प्रस्तुत करना ही नही है वरन् जीवन-शक्ति और विश्व-शक्ति के बीच सगति स्थापित करना है।

शिक्षण-कला के सिद्धांत

रवीन्द्रनाथ का विश्वास है कि अध्यापक और छात्र के बीच सजीव सपर्क होना चाहिए। इसी कारण वह प्रत्येक अध्यापक के लिए बाल्य प्रकृति की भली-भाँति जानकारी अनिवार्य समझते है। प्रचलित शिक्षण-पद्धति से भिन्न, वह बालक का विकास एक स्वतत्र प्राणी की भाँति, स्वतत्र परतु साथ ही आदर्श वातावरण मे चाहते है। इस सबध मे उन्होने कुछ विशेष तथ्यो की ओर शिक्षा-जगत का ध्यान आकर्षित किया है :—

बालक के प्रति सहानुभूति—रवीन्द्रनाथ वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति से बहुत ही असतुष्ट थे क्योकि इसमे न तो बालक की प्रकृति की ओर ध्यान दिया जाता है और न उसके प्राकृतिक परिपार्श्व की ओर। बालक को विद्यालय की चहार दीवारी में सीमित करके उसे जीवन के मुक्त प्रवाह से विलग कर दिया जाता है। परिणामत बालक का जीवन बहुत कुछ अशो मे कृत्रिम बन जाता है जिससे शिक्षा का वास्तविक मूल्य नष्ट हो जाता है। उनके अनुसार "शाला की पद्धति अनुशासन की पद्धति है जो व्यक्ति को नगण्य समझती है। शाला रूपी इस यत्र मे सभी परिणाम एक समान निकालने का दुराग्रह रहता है। शाला एक काल्पनिक ऋजु रेखा पर चलना चाहती है, परन्तु वास्तविक जीवन काल्पनिक सीधी रेखा से भिन्न है।"*

रवीन्द्रनाथ को बालक के प्रति असीम सहानुभूति है। उनके अनुसार बालक मे जन्मजात प्रवृत्तियाँ होती है। वह उनकी अभिव्यक्ति के लिए स्वतत्रता चाहता है। वह प्रकृति से शुद्ध है। उसका अपना व्यक्तित्व है। बालक के व्यक्तित्व और उसकी मनोवृत्तियो की किसी प्रकार अवहेलना नही करनी चाहिए। वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति बालक के मानसिक जगत की इस सजीवता की ओर तनिक भी ध्यान न देकर उसके प्रति अन्याय करती है। इस सजीव तथ्य अर्थात् बालक की प्रकृति के साथ सहानुभूति के स्थान पर शालाओ मे इसका विरोध ही किया जाता है। बालक खुली हवा मे प्रकृति के प्रागण मे स्वच्छद प्राणी की भाति विचरण करके अपना शारीरिक विकास चाहता है। वह प्रकृति की विशाल पुस्तक से ज्ञान ग्रहण करके मानसिक विकास करना चाहता है तथा प्रकृति की पवित्र एव प्रभावशाली शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव करके, उससे एकात्मीयता स्थापित करके, सत्य को पहचान कर अपनी आत्मोन्नति करना चाहता है। परन्तु शालाओ मे पुस्तके पाठ्य-

---

* लक्ष्मी लाल के० ओड़ . रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शिक्षा दर्शन, 'शिक्षा', जुलाई १९५७, पृष्ठ १७

विषय, समय-सारिणी आदि का बधन बालक के प्राकृतिक जीवन-प्रवाह मे बाधाएँ उपस्थित करते है । रवीन्द्रनाथ बालक को उसके इन कृत्रिम बधनो से मुक्त कराना चाहते है । वह बालक का प्राकृतिक एव स्वतत्र विकास चाहते है ।

बालक के प्राकृतिक विकास के लिए, रवीन्द्रनाथ शाला के शुद्ध एव वात्सल्यपूर्ण वातावरण पर बल देते है । आजकल शाला का प्रेम रहित वातावरण और शिक्षको का क्रूर एव असहानुभूतिपूर्ण व्यवहार बालक के अदर अनेक भावना-ग्रथियो को जन्म देता है । बालक शिक्षक के नाम से ही भयभीत हो जाता है और स्कूल से अपना पीछा छुडाना चाहता है । यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ स्कूल के वातावरण को कौटुम्बिक वातावरण मे परिवर्तित करना चाहते है । शिक्षक को माता के सदृश्य बालको के प्रति सहानुभूति और प्रेमपूर्ण व्यवहार करने के लिये सचेत करते है ।

मानव और प्रकृति के बीच प्रत्यक्ष सबध द्वारा शिक्षा—बालक के प्राकृतिक विकास के लिए रवीन्द्रनाथ, प्रकृति और मानव के बीच सक्रिय सबध पर बल देते है । उनके अनुसार यदि जीवन का उद्देश्य आत्मानुभूति है तो उसकी प्राप्ति का साधन ससार को जान लेना मात्र नही है क्योकि ज्ञान से तो केवल हमारी शक्ति बढती है । परम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सपूर्ण सृष्टि से समरस होने की, उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने की आवश्यकता है । मनुष्य और प्रकृति ब्रह्म के ही व्यक्त रूप है । रवीन्द्रनाथ ने अपने शिक्षा-दर्शन मे मानव-जगत से भी अधिक प्राकृतिक जगत के साथ एकात्मीयता स्थापित करने पर महत्व दिया है । इस महत्व का कारण सभवत यह भी है कि मनुष्य की अपेक्षा प्रकृति के विभिन्न रूपो द्वारा ब्रह्म की अभिव्यक्ति अधिक स्पष्ट रूप मे परिलक्षित होती है । अत मनुष्य का प्रकृति के साथ निकटता और घनिष्ठता का अनुभव प्रत्यक्ष सबध की स्थापना द्वारा होना चाहिए । बालक को उसकी पवित्र तथा प्रभावशाली शक्ति का अनुभव करना चाहिए ।

प्रकृति के प्रभावो और उसकी शक्ति मे विश्वास रखने के कारण रवीन्द्रनाथ बालक को प्राकृतिक वातावरण मे शिक्षा देने के पक्षपाती है । वह बालक को प्रकृति के सपर्क मे इसलिए और लाना चाहते है क्योकि इससे उसे यथार्थ जगत का बोध सफलता पूर्वक हो जाता है । प्रकृति-प्रदत्त ज्ञान के लिए बालक को कोई मूल्य भी नही चुकाना पडता । उदाहरण के लिये पृथ्वी पर नगे पैर घूमने से उसके रहस्य—ऊँचाई, नीचाई, मृदुता, ककरीलापन आदि गुण सहज ही प्राप्त हो जाते है । प्रकृति के सपर्क मे रहने से बालक मे कठिनाई सहन करने की क्षमता भी स्वभावत आ जाती है । प्राकृतिक जीवन व्यतीत करना, सादगी का जीवन व्यतीत करना है । विद्याध्ययन काल मे विद्यार्थियो को सीधा और सरल जीवन व्यतीत करना चाहिए । रवीन्द्रनाथ के अनुसार, अमीरी की अपेक्षा गरीबी ज्यादा अच्छी शिक्षक है । अमीरी यथार्थ जगत का बोध नही करा पाती । प्रकृति से प्रत्यक्ष सबध-स्थापन के साथ-साथ रवीन्द्रनाथ बालक को, प्रारभिक ज्ञान मानव के प्रत्यक्ष सबध

द्वारा भी देने के पक्ष मे है । इसीलिए वह आश्रम के पवित्र, एकातमय प्राकृतिक एव सामाजिक वातावरण जैसे नदी या उसका किनारा, सूर्योदय एव सूर्य्यास्त, अध्यापक, मित्र आदि के बीच बालक को शिक्षा प्रदान करने के पक्षपाती है । प्रकृति के शुभ ससर्ग मे, पाठशाला की आत्मीयता एव पारिवारिक वातावरण मे बालक का जो सावेदनिक, सावेगिक, एव बौद्धिक विकास होता है वह बालक के हर प्रकार के विकास मे शैक्षिक दृष्टिकोण से अत्यत महत्वपूर्ण होता है । रवीन्द्रनाथ के प्रकृति सबधी विचार रूसो से किसी सीमा तक मिलते जुलते है । दोनो आरभ मे पुस्तकीय ज्ञान के विरोधी है । दोनो राबिनसनक्रूसो के प्रायद्वीप का वातावरण शिक्षा के लिए उपयुक्त समझते है ।

प्राकृतिक और सामाजिक शक्तियों मे सतुलन—रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन का अध्ययन करते समय हम देख चुके है कि उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी है । बालक की प्रकृति के सबध मे उनके विचारो मे यही दृष्टिकोण दिखाई पडता है । वह कहते है कि आरभ मे बालक के सारे कार्य 'स्व' की भावना से प्रेरित होते है । 'स्व' से यहाँ तात्पर्य है आत्म-प्रेम अथवा अपने जीवन से प्रेम । बालक आरभ मे जो भी ज्ञान ग्रहण करता है वह इसी स्व-सबधी कार्यो के सपादन द्वारा । उसके उपरात ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह जीवन भी त्याग सकता है और अतत जब उसकी बुद्धि परिपक्व हो जाती है तब पूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये वह समाज मे तत्पर होता है । रवीन्द्रनाथ के इन विचारो की तुलना रूसो के अभावात्मक सिद्धात से की जा सकती है जिसमे १५ वर्ष की आयु तक बालक के आचरण का आधार आत्म-प्रेम ही रहा है । १५ वर्ष के उपरात बालक अन्यो से प्रेम करना सीखता है । रवीन्द्रनाथ और रूसो मे अतर यह है कि रवीन्द्रनाथ की नैतिकता का आधार सामाजिक न होकर आध्यात्मिक है । सपूर्ण सृष्टि मे एक ही परम-पुरुष की अभिव्यक्ति है । परम-पुरुष की अनुभूति एकात मे सभव नही वरन् सपूर्ण सृष्टि—मानव और प्रकृति, जहाँ जरा भी जीवन की ज्योति झलकती हो—समरस होने मे ही प्राप्त हो सकती है । रवीन्द्रनाथ के अनुसार 'स्व' के दो पक्ष है—पहला निजी और दूसर सामाजिक । पहले पक्ष मे स्वार्थ की भावना निहित है और दूसरे मे परार्थ की । पहला, व्यक्ति को भौतिकता की ओर खीचता है और दूसरा अध्यात्म की ओर । अत दोनो मे सतुलन स्थापन की आवश्यकता है । इस सतुलन को रवीन्द्रनाथ ने 'स्व' की तुलना दीपक से करके स्पष्ट किया है । यदि दीपक अपना तेल अपने पास जमा रखना चाहे और अपना प्रकाश अपने ही पास सीमित रखना चाहे तो स्वय भी अधेरे मे रहेगा और दूसरो को भी अधेरे मे रखेगा । परन्तु यदि दीपक अपने प्रकाश का प्रसार दूसरो के लिए करता है तो स्वय भी प्रकाशित होता है और इस प्रकार अपने वास्तविक लक्ष्य (आत्मानुभूति) की पूर्ति करता है । ठीक इसी प्रकार व्यक्ति समाज के कार्यों मे भाग लेकर, समाज सेवा द्वारा अपनी भी उन्नति कर सकता है और अपने अतिम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकता है ।

अत शिक्षा मे भी रवीन्द्रनाथ मनुष्य की 'प्राकृनिक' और 'सभ्य' या 'सामाजिक' शक्तियो के बीच सतुलन स्थापित करने पर बल देते है । उनके अनुसार आधुनिक शिक्षण-कला मे ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि वह बालको की समाज-विरोधी प्रवृत्तियो को दूर करें, तभी समाज की शक्ति अक्षुण्ण रह सकेगी । पाश्चात्य जगत की ओर लक्ष्य करते हुए रवीन्द्रनाथ का कथन है कि रूसो के समय से ही, योरोप मे छोटे बालको पर प्रकृति के महत्वपूर्ण प्रभाव को स्वीकार किया गया किंतु जीवन मे औद्योगीकरण और यत्रीकरण के बढते हुए प्रभाव के कारण इस धारणा को व्यावहारिक रूप देना असभव हो गया । बालको का जीवन प्रकृति से दूर हटता गया और स्वस्थ सवेगात्मक जीवन, कठिन नियमो और अनुशासनो मे बधता गया । इसका परिणाम यह हुआ कि आरभ मे ही बालक का व्यक्तिगत स्वभाव और आत्म-विश्वास समाप्त हो गया । कठोर नियत्रण मे शिक्षित बालको की मूलशक्तियाँ, आत्म-प्रकाशन की भावना से प्रेरित होकर आगे चलकर निरतर दुर्बलो को पीडित करने के रूप मे व्यक्त होती रही और वहाँ का जीवन अविकसित ही रह गया । इस भयकर परिस्थिति से बचने के लिए और अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए रवीन्द्र नाथ का मतव्य ह कि हमे मूल शक्ति के विचार से जगली और मानसिक दृष्टि से सभ्य बनने की आवश्यकता है । हमारे भीतर प्रकृति के बीच प्राकृतिक और समाज के बीच मानव बने रहने की योग्यता होनी चाहिए । 'मानव मे असभ्यता और सभ्यता को उसी अनुपात मे होना चाहिए, जितना पृथ्वी पर स्थल और जल है, जिसमे पहले का महत्व अधिक है ।'† अत प्राकृतिक एव सामाजिक शक्तियो मे इस प्रकार का सतुलन व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो दृष्टिकोण से हितकर होगा ।

यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ने प्रकृति का महान समर्थक होते हुए भी, शिक्षक, पाठशाला या पुस्तको की पूर्णतया उपेक्षा नही की है । वह प्राकृतिक साधनो के माध्यम से, प्रत्यक्ष वस्नु तथा मनुष्यो के सपर्क द्वारा, बालको को प्रारभिक ज्ञान अवश्य देना चाहते है, पर इसके उपरात उन्होने पुस्तकीय ज्ञान को ही आवश्यक माना है । उनकी शिक्षा मे शास्त्रीय साहित्य एव सस्कृति को प्रमुख स्थान प्राप्त है । उनका अटूट विश्वास है कि बालक का पूर्ण विकास मानवसमाज के पूर्वार्जित अनुभवो पर निर्भर है यद्यपि वह विज्ञान का ज्ञानका बालक के लिए आवश्यक समझते है तथापि व्यक्ति और समाज दोनो का हित ध्यान मे रखने के कारण ही वह उसकी शिक्षा साधन के रूप मे देना चाहते है साध्य के रूप मे नही । वह विज्ञान का ज्ञान वैयक्तिक अनुभव के आधार पर देना चाहते है परतु विज्ञान के विद्यार्थी को भावना से शून्य व्यक्ति के रूप मे नही देखना चाहते है ।

स्वतंत्रता—रवीन्द्रनाथ के शिक्षण-कला सबधी सिद्धात एक दूसरे से सह सबधित है और उन सब को एक सूत्र मे बाँधने वाला केन्द्रीय तथ्य है उनका बालक के 'प्राकृतिक विकास' मे विश्वास । अत स्वभावत रवीन्द्रनाथ बालको को स्वतत्रता प्रदान करने के

† The Visva-Bharati Quarterly, May- Oct, 1947, p. 33

समर्थक है। उन्होने स्वय अपने आश्रम मे बालको को स्वतत्र और आनन्दित रखने के सिद्धात को व्यावहारिक रूप दिया। वह बालको की स्वतत्रता पर तनिक भी प्रतिबध लगाना नही चाहते थे। उनके विचार मे बालको को धूल मे खेलने की स्वतत्रता मिलनी चाहिए। खुली हवा से बढ कर स्वास्थ्यप्रद और आकाश से बढकर प्रेरणादायक अन्य कोई वस्तु नही है। सभी प्रकार की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए स्वतत्रता आवश्यक है। वह बालक को कक्षा के बधन मे भी नही बाधना चाहते क्योकि अधिक मात्रा मे किये जाने वाले नियमित कार्य, बालक के विकास मे बाधा उपस्थित करते है। इसीलिए उनके आश्रम मे, नित्य के पाठ-अध्ययन के अतिरिक्त बालक अपने मन के अनुसार अपनी रुचि के कामो और खेलो को चुनते है। उनका पढना-लिखना पुस्तको और अभ्याम-पुस्तिकाओ तक ही सीमित नही है। बालक कहानी कहते है, सुनते है और स्वतत्रता पूर्वक अन्य कार्यो मे भाग लेते है। आश्रम का वातावरण स्वतत्रता की भावना से ओतप्रोत रहता है। बालको पर किसी प्रकार का बाहरी अनुशासन नही लादा जाता है, इसका परिणाम यह होता है कि उनमे बिना सिखलाये अपने आप उत्तर-दायित्व की भावना जाग्रत हो जाती है। बालक आश्रम को आत्मीयता की दृष्टि से देखते है।

रवीन्द्रनाथ का विचार है कि बालको को किसी विशेष स्वभाव के अपनाने के लिए बाध्य नही करना चाहिए। प्रकृति ने बालको को शक्ति का सर्वोत्तम दान दिया है। हमारे सभ्य परिवारो मे, बालको की इस शक्ति और शिष्टाचार के नियमो मे बराबर सघर्ष चला करता है। अत सकुचित सामाजिक व्यवहारो को उन पर लादनी नही चाहिए। रवीन्द्रनाथ पद्धतियो की अपेक्षा मनुष्य की आत्मा मे अधिक विश्वास करते है। उनका कहना है कि शिक्षा का प्रयोजन मन की मुक्ति है और मन की यह मुक्ति स्वतत्रता के मार्ग पर चल कर ही प्राप्त की जा सकती है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि यद्यपि वह स्वतत्रता मे विश्वास करते है, तथापि यह स्वतत्रता स्वच्छदता नही है क्योकि स्वच्छदता के अर्थ मे स्वतत्रता निस्तत्व है। पूर्ण स्वतत्रता की प्राप्ति सामाजिक सबधो की पूर्ण सगति मे ही की जा सकती है, जिनका अनुभव हम ससार मे करते है।

उनका कहना है कि प्राचीन भारत मे स्वतत्रता का जो आदर्श रहा है, वह योरोपीय स्वतत्रता के आदर्श से भिन्न है। योरोप मे स्वतत्रता का अर्थ भौतिक स्तर पर स्वतत्र होने—खाने, पीने, मौज उडाने की स्वतंत्रता—से माना जाता है। इस प्रकार की स्वतत्रता को बनाए रखने के लिए भी नाना प्रकार के साधनो की आवश्यकता पडती है। किन्तु भारतवर्ष में स्वाधीनता को इस रूप मे कभी भी स्वीकार नही किया गया है। कारण, यहाँ 'इच्छा' और 'कर्म' के बधन से भी स्वतत्र होने का प्रयत्न किया गया है। वास्तविक स्वनत्रता की प्राप्ति के लिए निरतर साधना की आवश्यकता है। रवीन्द्रनाथ कहते है, 'स्वाधीन हो गये समझ लेने से स्वाधीन नही हुआ जा सकता नियम अर्थात्

अधीनता के भीतर से बिना निकले स्वाधीन होना सभव नही।' यद्यपि देखने मे यह कथन स्वत विरोधी प्रतीत होता है तथापि उनके विचार मे यह सत्य है कि 'परतत्रता के भीतर से ही स्वतत्रता के आने का पथ है।' तात्पर्य यह कि जितना ही व्यक्ति नियमो का पालन करता है उतनी ही उसकी आत्मा मुक्त होती जाती है।

वास्तविकता यह है कि रवीन्द्रनाथ बालक को शारीरिक स्वतत्रता उसी मात्रा मे देना चाहते है जहाँ तक वह प्राकृतिक वातावरण से शुभ शिक्षा एव प्रेरणा ग्रहण कर सके। पर वह बालक को 'यम' और 'नियम' के पालन से मुक्ति नही देना चाहते। कारण, यम और नियम का बधन बालक की वास्तविक स्वतत्रता—आत्मा की मुक्ति—के लिए अनिवार्य है। वह बालक को समाज के अन्य सदस्यो के प्रति अपने कर्त्तव्य के बधन से छुटकारा नही दिलाना चाहते, क्योकि कर्त्तव्य पालन से स्वय उसकी आत्मोन्नति होगी। हाँ, वह बालक को आज की भौतिक सभ्यता के कृत्रिम बधनो से अवश्य मुक्त रखना चाहते है।

सामाजिक शिक्षा एव स्वशासन—स्वतत्रता को उपर्युक्त रूप मे ग्रहण करते हुए रवीन्द्रनाथ का कहना है कि बालको को सामाजिक व्यवहार के सपर्क मे लाना चाहिए। समाज मे रहकर ही बालको का सम्यक् विकास सभव है। सामाजिक सपर्क मे आने के लिए उन्हे अधिक से अधिक अवसर दिया जाना चाहिए जिससे उनके व्यवहारो मे सामाजिकता आ सके। इस सबध मे रवीन्द्रनाथ के विचारो की तुलना प्रो० फिंडले ने अमेरिका के दार्शनिक ड्यूई से की है। प्रो फिंडले के अनुसार "दोनो का ही पुनीत विश्वास है कि व्यक्ति का विकास समाज के अदर रह कर ही सभव है। शिक्षा एक सामाजिक प्रक्रिया है तथा बालक की शिक्षा का आधार, सामाजिक प्रवृत्तियाँ है, फलत शिकागो की प्रयोग-शाला तथा बोलपुर के शातिनिकेतन मे पारिवारिक भावना का समावेश किया गया है। दोनो स्थानो पर बालक के सम्मुख समाज के जटिल सबधो को अधिक सामान्य रूप मे, लघुरूप मे तथा आदर्शरूप मे प्रस्तुत किया जाता है। दूसरे शब्दो मे दोनो ही शिक्षा-शास्त्रियो के विचार मे शाला एक लघु समाज है।"† दोनो मे यह समानता होते हुए भी ध्यान रहे कि दोनो के जीवन के लक्ष्य भिन्न होने के कारण दोनो के सामाजिक जीवन एव सामाजिक वातावरण का आदर्श भिन्न है। ड्यूई वर्त्तमान मे समाज की भौतिक उन्नति करना चाहते है, पर रवीन्द्रनाथ समाज को केवल साधन मानकर प्रत्येक व्यक्ति की आत्मोन्नति करना चाहते है।

बालको मे सामाजिक प्रवृत्ति के उचित दिशा मे विकास के लिए, रवीन्द्रनाथ का कथन है कि उन्हें सहकारी क्रिया-कलापो मे लगाना चाहिए। सहकारी क्रिया-कलाप न केवल बौद्धिक क्षेत्र मे, वरन् शिक्षा के सभी क्षेत्रो मे प्राप्य होने चाहिए। यहाँ यह ध्यान

---

† लक्ष्मी लाल के० ओड · रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शिक्षा-दर्शन 'शिक्षा', जुलाई, १९५७ पृष्ठ २४

रखना आवश्यक होगा कि इन कार्यो के सपादन मे बालक को 'स्वशासन' का भी अवसर प्राप्त हो। 'स्वशासन' के आधार पर बालक मे स्वावलम्बन, सहयोग, उत्तरदायित्व आदि नैतिक गुणो का विकास होगा। 'स्वशासन', स्वतत्रता एव सामाजिक शिक्षा का आवश्यक अग है और उन्ही के फलस्वरूप प्राप्त होता है। रवीन्द्रनाथ के आश्रम-समाज मे अनेक ऐसे कार्यो मे बालको को भाग लेना होता है जिनसे उनकी सामाजिक दृष्टि से स्वयमेव शिक्षा हो जाती है। दूर-दूर से आये हुए बालक बडे स्नेह और मैत्री भाव से मिलकर रहते है, साथ-साथ भोजन करते है, खेलते है तथा अनेक सामाजिक उत्सव और पर्व मनाते है। भ्रमण, नाट्य-प्रयोग, सगीत और साहित्य प्रदर्शन आदि अनेक सगठन-सबधी कार्यों मे व्यावहारिक रूप से बालक सामाजिक भावना का विकास करते है। अध्यापको और विद्यार्थियो मे परस्पर प्रेम और आदर का भाव विद्यमान है और वे आश्रम के कार्य सचालन मे सहयोग देना अपना कर्त्तव्य समझते है।

क्रिया द्वारा शिक्षा—बालक प्रकृति से क्रियाशील होता है। वह पल भर भी निष्क्रिय नही रह सकता। वह अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियो और मन को सक्रिय रूप से प्रयोग करना चाहता है। अत रूसो, ड्यूई, गाँधी आदि शिक्षा-शास्त्रियो की भाति रवीन्द्रनाथ बालक को वास्तविक क्रिया द्वारा शिक्षा देने के पक्ष मे है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यद्यपि सामान्यत ये सब 'क्रिया' पर बल देते है फिर भी भिन्न जीवनादर्श होने के कारण इन सबकी क्रियाओ एव क्रिया-विधि मे विभिन्नता है।

यदि हम रवीन्द्रनाथ के आश्रम पर दृष्टि डाले तो पता चलता है कि विभिन्न कार्यो द्वारा वहाँ पर बालक अपनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक एव आत्मिक उन्नति करते है। व्यायाम, आवास स्वच्छ रखना आदि कार्य बालक के शारीरिक विकास मे सहायक है। प्रकृति एव मनुष्यो से प्रत्यक्ष सबध द्वारा बालक आरभिक ज्ञान ग्रहण करते है और इस प्रकार उनका मानसिक विकास होता है। बाद मे पुस्तकीय अध्ययन भी इस ओर सहायक होता है। ऋतुपर्व और उत्सव मनाना, अतिथि-सत्कार, बीमारो की सेवा, सहपाठियो, पडोसी ग्रामवासियो की सहायता और सेवा विद्यार्थियो मे नैतिक अथवा सामाजिक गुणो का विकास करते है। शिष्टाचार के नियम, जैसे नमस्कार करना, दूसरो के साथ कैसे व्यवहार करना, भोजन के समय कैसे उठना बैठना आदि, वास्तविक परिस्थितियो मे क्रियाओ द्वारा विद्यार्थियो को सिखाया जाता है। आत्मिक उन्नति के लिए सौन्दर्यबोध आवश्यक है, इस दिशा मे सगीत की शिक्षा, चित्राकन, प्रकृति का निरीक्षण एव सपर्क-स्थापन आदि कार्य बालक को सहायता प्रदान करते है। प्रात वेतालिक तथा दोनो समय समवेत उपासना बालक को 'आत्मीय एकता' का अनुभव कराती है। अत विभिन्न कार्यों द्वारा बालक अपने सपूर्ण व्यक्तित्व का विकास करते है। बालक का यह विकास भारतीय परपरा के सर्वथा अनुकूल है। कारण, जब कि अन्य शिक्षा-शास्त्री 'क्रिया द्वारा सीखने' (Learning by doing) पर बल देते है, भारतीय आदर्श क्रिया द्वारा

पूर्णरूप से जीने और 'जीने द्वारा सीखने' (Learning by living) पर बल देता है। रवीन्द्रनाथ को श्रेय है कि उन्होने अपने आश्रम मे इस सिद्धात को व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

रचनात्मक अभिव्यक्ति—रवीन्द्रनाथ के विचार मे शिक्षा की कोई प्रणाली तब तक पूर्ण नही हो सकती जब तक उसमे बालक की रचनात्मक शक्ति की अभिव्यक्ति के लिए स्थान न हो। उनके अनुसार मनुष्य मे 'दैहिक प्यास' के साथ ही एक और प्यास होती है और वह है अपने को व्यक्त करने की। अपनी इस प्यास की तृप्ति मनुष्य साहित्य सगीत, नृत्य, और चित्रकारी द्वारा करता है। यह प्यास इतनी प्रबल होती है कि इसकी उपेक्षा नही की जा सकती। कारण, यह अतर्वासी 'एक की वेदना है' जो रूप, स्वर, वाणी, नृत्य आदि किसी न किसी रूप मे अपने को व्यक्त करना चाहती है। रवीन्द्रनाथ के जीवन-दर्शन और शिक्षा-दर्शन मे पाठ्य-विषय पर विचार करते हुए हमने देखा कि ब्रह्म के तीन रूपो के अनुसार ही मानव आत्मा के भी तीन रूप है—'मै हूँ,' 'मै जानता हूँ' और 'मै व्यक्त करता हू।' मनुष्य की यह प्यास उसकी आत्मा की 'मै व्यक्त करता हूँ' की दिशा से सबधित है। विभिन्न प्रकार के हस्त-कौशल और कलाओ के माध्यम से अभिव्यक्ति की कुशलता प्राप्त की जा सकती है क्योकि वे हमारी आध्यात्मिक भव्यता एव अत प्रकृति के सहज उद्गार है। अत रवीन्द्रनाथ रचनात्मक अभिव्यक्ति की क्षमता मे वृद्धि करने पर, केवल व्यावहारिक जीवन के विचार से ही नही, वरन् आध्यात्मिक विचार से भी, विशेष बल देते है।

रवीन्द्रनाथ का कथन है कि मनुष्य अपने मन की बहुत-सी बातो को शब्दो मे नही प्रकट कर पाता। अत उसे रेखाओ, रगो, ध्वनियो और गतियो के माध्यम से व्यक्त करने का ढग सीखना चाहिए। इनमे पारगत होकर वह केवल अपनी प्रकृति को ही नही व्यक्त करेगा, वरन् अपने 'अतर्वासी' को व्यक्त करने के प्रयास मे लगे हुए प्रत्येक देश और काल के मनुष्य को समझने की क्षमता भी प्राप्त करेगा। शिक्षा की उपयोगिता केवल तथ्यो को एकत्रित करने मे नही है, वरन् मनुष्य को जानने और स्वय को दूसरो के जानने देने मे है। तथ्य यह है कि प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि 'वह बुद्धि की भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के साथ-साथ किसी सीमा तक व्यक्तित्व की भाषा पर भी अधिकार प्राप्त करे।' रवीन्द्रनाथ 'जीवन' के अभिव्यक्तीकरण सबधी सभी क्रियायो के करने के लिए बालक को स्वतत्रता और प्रोत्साहन देने का समर्थन करते है।

रवीन्द्रनाथ ने रचनात्मक अथवा सृजनात्मक क्रिया और निर्माण-क्रिया मे भेद किया है। दोनो को एक नही माना जा सकता। कारण, दोनो के लक्ष्य मे विभिन्नता है। उन्ही के शब्दो मे, "मनुष्य का सर्वोत्तम परिचय यह है कि मनुष्य स्रष्टा' है। आज की सभ्यता उसे मजदूर बनाती है, मिस्त्री बनाती है और महाजन बनाती है। लोभ दिखाकर 'स्रष्टा' को छोटा बनाती है। मनुष्य निर्माण करता है व्यवसाय के लिए और 'सृष्टि' करता है

आत्मा की प्रेरणा से । व्यवसाय का प्रयोजन जब बहुत ज्यादा बढता हो जाता है, तब आत्मा की वाणी रुक जाती है।" अत आत्मा की प्रेरणा को व्यक्त करना, स्रष्टा बनना विद्यार्थी के लिए आवश्यक है।

कल्पना का मुक्त विकास—स्रष्टा बनने के लिए विद्यार्थी को कल्पना करने की स्वतत्रता मिलनी चाहिए। कारण, प्रत्येक सृजन अथवा आविष्कार के मूल मे कल्पना का अपना आवश्यक स्थान है। आज का मनोविज्ञान भी इसी तथ्य का समर्थक है कि कल्पना-शक्ति का यदि ठीक दिशा मे निर्देशन किया जा सके तो यह शैक्षिक दृष्टिकोण मे बडी ही लाभप्रद हो सकती है। आज का मनोविज्ञान अपने सिद्धातो की पुष्टि प्रयोग, अनुसधान तथा तक के आधार पर करता है। परन्तु रवीन्द्रनाथ ने आत्मानुभूति, चिन्तन तथा बालक के प्राकृतिक विकास के आधार पर इस शक्ति का महत्व पहचाना।

कल्पना करने की स्वतत्रता केवल वयस्को के ही लिए आवश्यक नही है वरन् बालक के लिए भी है। कल्पना के मुक्त प्रवाह द्वारा बालक अपनी उन इच्छाओ की तृप्ति कर लेता है जिनकी पूर्ति वास्तव जगत मे कठिन और कभी-कभी पूर्णतया असभव है। रवीन्द्रनाथ माटेसरी से इस विषय मे सहमत नही है कि कल्पना बालक को यथार्थ जगत से दूर ले जाती है। इसके विपरीत रवीन्द्रनाथ का कथन है कि यथार्थ जगत बडा कठोर है, वह बालक की भावनाओ का ध्यान नही रख सकता है। कल्पना द्वारा बालक क्षण भर मे चन्द्रलोक और परीलोक की सैर कर लेता है। अत कल्पना-जगत के सुख से बालक को वचित कर देना मानो उसके जीवनको नीरस एव निरानद बना देना है। इसलिए रवीन्द्रनाथ, प्लेटो और माटेसरी से भिन्न, छोटे बच्चो को काल्पनिक कहानियाँ सुनाने के पक्ष मे है। कहानियाँ सुनने से बालको मे अनेक नैतिक गुणो का विकास होता है। कहानियाँ सुनते समय बालक जब कहानी के अनेक पात्रो के साथ एकाकार स्थापन करता है तो उसके बहुत से मनोद्वेगो को सतुष्टि प्राप्त होती है और कभी-कभी यदि उसके मन मे भावना ग्रथियाँ है तो उन्हे सुलझाने मे उसे सहायता मिलती है। कहानियो द्वारा ही बालक मे सृजन की भावना जागृत होती है और भविष्य मे वह सृजन के लिए कल्पना करता है।

अचेतन मन और विशुद्ध वातावरण की आवश्यकता—रवीन्द्रनाथ के अनुसार बालक का अचेतन मन चेतन मन की अपेक्षा अधिक क्रियाशील होता है। अपने अचेतन मन के माध्यम से बालक जीवन के अनेक पाठ बिना किसी श्रम या थकान के सीख लेता है। पूर्व पीढियो के सचित अनुभव भी वह इसी माध्यम के द्वारा प्राप्त करता है। ज्ञान की यह अचेतन शक्ति बालक के जीवन के साथ एकरस होती है। इस सबध मे रवीन्द्रनाथ ने बालक के विकास की तुलना एक वृक्ष से की है। जिस प्रकार वृक्ष अपने चारो ओर के वातावरण से अपने पोषक तत्वो को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार

बालक भी अनजाने ही अपने समीपवर्त्ती वातावरण से प्रभावो को ग्रहण करता है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ बालक का विकास विशुद्ध, प्राकृतिक एव सुशिक्षाप्रद वातावरण मे चाहते है। उनके लिए शिक्षा के नियमो और प्रणालियो से भी बढकर महत्त्वपूर्ण वस्तु वातावरण है।

बालक एक विकासशील प्राणी है। अत बालक के स्वस्थ मानसिक एव आत्मिक विकास के लिए उसके चारो ओर प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त, आत्मीय-प्रेम से पूर्ण वातारण का होना आवश्यक है। आत्मीय-प्रेम से पूर्ण वातावरण का तात्पर्य हे जहाँ गुरु और शिष्य परम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एकत्रित हुए हो जहाँ दोनो साथ-साथ रहकर शारीरिक क्षुधा एव आत्मिक क्षुधा की तृप्ति करे।† ऐसा ही आत्मीयता पूर्ण वातावरण, प्रत्येक पाठशाला मे वाछनीय है।

शिक्षण-पद्धति

शिक्षण बालक की प्रकृति के अनुरूप—रवीन्द्रनाथ वर्तमान शिक्षण-पद्धति से असतुष्ट थे। उनके अनुसार बालक की प्रकृति के अनुरूप ही शिक्षण-पद्धति की व्यवस्था होनी चाहिए। बालक को शिक्षित करने के लिए केवल सविचार प्रशिक्षण की ही आवश्यकता नही है। शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्वय पहले बालक को ही अग्रसर होना चाहिए। अध्यापको के विचार मे बालक को शिक्षा देने का सर्वोत्तम साधन मन को एकाग्र करना है, किन्तु प्रकृति के अनुसार शिक्षा देने का सर्वोत्तम साधन मन को वितरित करना है। बालको को चाहिए कि वे तथ्यो को अपने आप सीखे। इससे उनके मस्तिष्क को पूर्ण गतिशीलता और खोज का आनन्द प्राप्त होगा। अचानक सफलता प्राप्त करने पर उन्हे अपनी क्षमता का पता चलेगा। और इस तरह वे सृजनात्मक जीवन के पाठ सीखेगे। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ ने अपनी शिणक्ष-पद्धति मे खेल को एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

खेल और काम—रवीन्द्रनाथ की विशेषता यह है कि यद्यपि उन्होने अपनी शिक्षण-पद्धति मे खेल को महत्त्व दिया है फिर भी खेल और काम को विरोधी न ठहराकर, उन दोनो मे सामजस्य स्थापित किया है। उनके अनुसार बालक मे अन्तर्निहित स्वाभाविक जिज्ञासा और सामाजिक प्रवृत्ति उसे उन क्रियाओ की ओर प्रवृत्त करती है जिन्हे वयस्क 'खेल' कहते है। यह ध्यान मे रखने की बात है कि यद्यपि हम खेल को व्यर्थ का कार्य समझते है, तथापि बालक की चेतना के विकास के लिए वह एक गम्भीर क्रिया है। खेल की इस प्रक्रिया मे दिवास्वप्न, कल्पना, वास्तविकता का निर्माण, वयस्क जिससे परे हैं, आदि क्रियाएँ सम्मिलित है। ये क्रियाएँ सभी बालको के लिए सामान्य है। धीरे-

---

† तुलना कीजिए—ओ सह नाववतु। सहनौभुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

धीरे बालक की प्रवृत्ति खेल-क्रियाओ की ओर से प्रयोजनपूर्ण क्रियाओ की ओर होती जाती है। खेल से प्रयोजनपूर्ण कार्यो की ओर अग्रसर होने के अवस्थान काल मे ही बाह्य अनुशासन से बालक मे आतरिक अनुशासन उत्पन्न होता है। कारण, प्रयोजनपूर्ण कार्य मे बालक अपने कार्य मे निहित उद्देश्य को समझने लगता है और यही उद्देश्य आनरिक अनुशासन की पुष्टि करता है। रवीन्द्रनाथ बालक की कल्पनापूर्ण खेल की प्रवृत्ति से पूर्णतया परिचित थे और यही कारण है कि शातिनिकेतन मे छोटी कक्षाओ के बालक खेल सबधी अनेक क्रियाओ मे मग्न रहते है। खेल की इस शिक्षण-प्रक्रिया मे शिक्षक का कार्य है कि वह खेल को उद्देश्यपूर्ण बनाए। परन्तु कैसे ? बालको को शिक्षा देकर नही, वरन् उनके साथ खेलकर। सफल शिक्षक वही है जो बालक की इस प्रवृत्ति से परिचित है और उसको सद्कार्यों को ओर प्रेरित करता है।

रवीन्द्रनाथ बालक को आरभ मे खेल द्वारा शिक्षा देने के पक्ष मे इसलिए और है कि ज़बरदम्ती और यान्त्रिक ढग से दी हुई शिक्षा बालक के अन्दर आत्महीनता की भावना का विकास करती है। बालक के निर्माण काल मे जब उसकी प्रवृत्तियाँ दबा दी जाती है और इस प्रकार जब उसमे आत्महीनता का भाव उदय हो जाता है तब वही बालक बाद मे चलकर शारीरिक और आर्थिक दोनो दृष्टिकोणो से दुर्बल व्यक्तियो से बदला लेता है। खेल मे बालक की प्रवृत्तियो का पूर्णरूप से अभिव्यक्तीकरण हो जाने पर उसके अदर आत्महीनता की ग्रथि-निर्माण का कोई प्रश्न ही नही उठता और स्वभावत दूसरो को सताने और कष्ट देने की भावना का स्वयमेव निराकरण हो जाता है। खेल से न केवल बालक बल्कि किशोर और प्रौढ भी किसी सीमा तक इस दिशा मे लाभ उठा सकते है। यात्रिक शिक्षा का एक दोष और है। वह बालक को बाहरी सकेतो एव सुझावो (External suggestions) के प्रति ठीक दृष्टिकोण निर्धारित करना नही सिखलाती। अत बालक रेडियो, सिनेमा, समाचार-पत्र आदि द्वारा दिये गये सुझावो को एकदम बिना सोचे समझे ग्रहण कर लेता है। इस दोष से बचने के लिये रवीन्द्रनाथ बालको को आरभ में प्रकृति, मानव और आसपास के ग्रामीण वातावरण के प्रत्यक्ष सपर्क मे रखना चाहते है ताकि इनसे प्रेरणा ग्रहण करके, वे बाह्य सुझावो को समझना सीखे और उनके प्रति प्रतिरोध करने की क्षमता उनमे उत्पन्न हो। उपर्युक्त दोनो प्रकार के दोष पाश्चात्य जगत मे पाये जाते है और पाश्चात्य प्रणाली का अनुसरण करने के कारण हमारी शिक्षण-पद्धति मे भी आ गये है। इनका हमे भरसक निराकरण करना चाहिए।

शिक्षण-प्रक्रिया मे खेल के माध्यम से आरभ मे बालको की मूल प्रवृत्तियाँ और उद्वेग प्रशिक्षित हो जाते है और उनमे कुछ अशो मे सहयोग की भावना जाग्रत हो जाती है। पर कुछ समय बाद खेल की प्रक्रिया मे ही शिक्षक और छात्र के सम्मुख नैतिक और भावात्मक समस्याएँ उपस्थित होती है। रवीन्द्रनाथ कहते है कि साथ-साथ मिलकर रहने की कला केवल कोरे शिक्षा-दर्शन विषयक उपदेश से नही सीखी जा सकती है। खेल से

प्रयोजनपूर्ण कार्यो की ओर अवस्थान के सक्रमण-काल मे जो नैतिक समस्याएँ उपस्थित होती है उन्हे बालक को स्वय सुलझाना चाहिए। शिक्षक का कार्य उन समस्याओ के समाधान मे केवल मार्ग निर्देश करना है। मार्ग निर्देशन की सबसे उत्तम विधि है बालक के कार्य–विशेषकर शारीरिक श्रम सबधी कार्य–मे शिक्षक स्वय भी भाग लें। कारण यह है कि सभी कार्यो के पीछे (जो अब खेल नही है) कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होता है। बालक की नैतिक समस्याओं के समाधन मे यही 'प्रयोजन' सहायता करता है न कि शिक्षक। वास्तविकता यह है कि बालक के दैनिक कार्य उनके सामने नैतिक समस्याओ को ठोस कठिनाई के रूप मे उपस्थित करते है और बालक से समाधान की माँग करते है। इसी समाधान की प्रक्रिया मे बालक व्यावहारिक रूप से जीवन मे नैतिक सिद्धातो का मूल्य जान लेते है।

सविचार प्रशिक्षण—इस प्रकार खेल और काम तथा दिवा-स्वप्न एव प्रयोजनपूर्ण सयोग के द्वारा विकास करके बालक किशोरावस्था मे प्रवेश करता है। इस अवस्था मे बालक को शिक्षा की आवश्यकता है, अत उसका बौद्धिक प्रशिक्षण करके ज्ञान की प्राप्ति करानी चाहिए। विभिन्न विषयो का ज्ञान देते समय मुख्य बात जो ध्यान मे रखनी चाहिए वह यह है कि तथ्य बालको को इस प्रकार दिए जायँ जो 'उनके मन मे आदोलन' खडाकर दे, उनकी विचार शक्ति को उत्तेजित करे और वह उन्हे और अधिक समझने की चेष्टा करे। इस सबध मे रवीन्द्रनाथ ने लिखा है, शब्द का अर्थ समझना ही बडी बात नही है। "शिक्षा का सबसे बड़ा अग 'समझा देना' नहीं, बल्कि 'मन पर आघात करना' है। उस आघात के भीतर जो चीज बज उठती है, किसी बालक से यदि उसकी व्याख्या करने को कहा जाय, तो वह जो कुछ कहेगा वह महज लडकपन जैसी ही कोई चीज होगी। किन्तु जो बात वह मुँह से कहता है उससे उसके मन मे ध्वनित कही ज्यादा होता है। जो लोग विद्यालय की शिक्षकता करके केवल परीक्षा द्वारा ही सपूर्ण फल निर्णय करना चाहते है वे इस चीज की कोई खबर ही नही रखते।'† इस कथन को उन्ही के जीवन के कई अनुभवो से भली-भाँति समझा जा सकता है। 'जीवन स्मृति' मे उन्होने लिखा है कि 'बचपन मे बहुत-सी बाते मेरी समझ मे नही आती थी, किन्तु वे मेरे मन मे आदोलन खडा कर देती थी।' "बचपन मे जब कि मै अग्रेज़ी कुछ नही जानता था तब बहुत-सी तस्वीरो वाली एक किताब 'ओल्ड क्युरिओसिटी शॉप' लेकर मैंने शुरू से आखीर तक पढ डाली थी। उसका मै पन्द्रह-आना हिस्सा नही समझ सका था, अत्यन्त अस्पष्ट छाया-जैसी कोई चीज मन मे बनाकर, नाना रगो के छिन्न सूत्रो मे गाँठ बाँध कर, उसी से मैंने अपने मन मे तसवीरो को गूँथ लिया था। मै किसी परीक्षक के हाथ पडजाता तो एक बडा शून्य पाता, इसमे सदेह नही, किन्तु मेरे लिए वह पढना उतना बडा शून्य नही हुआ।" रवीन्द्र-

†'रवीन्द्र-साहित्य', भाग १८, पृष्ठ ५१

नाथ के अनुसार सब कुछ समझ जाना ही नही वरन तत्वा का आभास पाना ही बालक की ज्ञान-वृद्धि लिये श्रेयस्कर है। यही कारण है कि हमारे देश मे प्राचीन काल मे कथक कहानियो मे बडे-बडे सस्कृत के शब्द उपयोग करते या ऐसी तत्वकथाएँ लिखते जिन्हे श्रोतागण पूर्णरूप से समझ नही पाते थे, केवल उनका आभास पाते थे। इस आभास की प्राप्ति मात्र ही बालक के लिए महत्वपूर्ण है। कारण, 'अन्तरात्मा के अन्त -पुर मे जो काम चल रहा है, बुद्धि के क्षेत्र मे हर वक्त उसका सवाद आकर नही पहुँचता।' रवीन्द्रनाथ का यह सिद्धात आदर्शवादी शिक्षण पद्धति के सर्वथा अनुकूल है क्योकि इसके अनुसार शिक्षक का कार्य बालक को एक सशय (Suspense) की स्थिति मे ला देना मात्र है, बालक के लिए सब कुछ सरल बना देना नही। ज्ञान-प्राप्ति के लिए बालक को स्वत क्रियाशील होना है।

रवीन्द्रनाथ बालक को ससार का पीढियो दर पीढियो द्वारा सभी क्षेत्रो मे अर्जित ज्ञान प्रदान करना अवश्य चाहते है पर इस ज्ञान को देने की विधि मे परिवर्तन चाहते है। शिक्षण प्रक्रिया मे वह वस्तु-पाठ और प्रकृति-अध्ययन (Nature Study) पर बल देते है। वह विज्ञान के ज्ञान को केवल शिक्षक के मौखिक रूप से दिये गए व्याख्यान या केवल लेबोरेटरी मे किये गये कार्य के आधार पर नही देना चाहते, वरन् सजीव प्रकृति के सपर्क एव अध्ययन के रूप मे। वह पाठ द्वारा केवल बौद्धिक प्रशिक्षण तथा खेल द्वारा केवल शारीरिक प्रशिक्षण मे ही विश्वास नही करते वरन् बौद्धिक ज्ञानार्जन का हस्त-कार्यो के साथ समन्वय करना चाहते है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह अपने आश्रम मे तरह-तरह की उपयुक्त योजनाओ (Projects) की खोज, सचालन और पूर्ति के लिए आतुर रहते थे। सार रूप मे सभी प्रकार का ज्ञान बालक की रुचि के आधार पर उसे प्रदान किया जाना चाहिए। बालक की विशेष क्षमता का आदर करना चाहिए। यही कारण है कि उन्होने शातिनिकेतन मे विभिन्न विषयो के ज्ञान के लिए विभिन्न विभागो का आयोजन किया और विद्यार्थी को यह सुविधा प्रदान की कि वह अपनी रुचि अनुसार जिस विभाग मे चाहे उसमे अध्ययन कर सकता है।

रवीन्द्रनाथ वर्तमान शिक्षा पद्धति से सतुष्ट नही है। स्कूलो और कालेजो मे दी गई शिक्षा बालक आजीवन आत्मसात नही कर पाते। जबर्दस्ती लादा हुआ ज्ञान वे शीघ्र ही भूल भी जाते है। तथ्य यह है कि उनकी बुद्धियो को बिल्कुल ही प्रोत्साहित नही किया जाता है। पुस्तके भी जो प्रयोग की जाती है उनका वास्तविक जीवन से अधिक सबध नही होता। आज की शिक्षण-पद्धति की सब से बडी कमी यह है कि अधिकतर बालक तथ्यो एव सिद्धातो को रट लेते है, उन्हे समझते नही, कुछ व्यक्ति यदि किसी विषय का विशेष ज्ञान प्राप्त भी कर लेते हैं तो उनका ध्यान केवल ज्ञान के एक पक्ष तक ही सीमित रहता है, इसके अतिरिक्त यदि कुछ व्यक्ति सब विषयो का ज्ञान ग्रहण भी कर लेते है तो उनका ज्ञान व्यावहारिक नही होता, रवीन्द्रनाथ मन की तीनो शक्तियो का

विकास चाहते है। वह ज्ञान, प्रेम और क्रिया मे सह-सबध स्थापित करना चाहते है। यही कारण है कि रवीन्द्रनाथ खेल द्वारा उद्वेगो के प्रशिक्षित होने और निकट के वातावरण से समायोजित हो जाने तथा विभिन्न विषयो का ज्ञान ग्रहण कर लेने मे ही शिक्षा की समाप्ति नही स्वीकार करते। वह विषयो के ज्ञान के साथ-साथ सगीत कला आदि द्वारा बालक के सवेगो को स्थिर करना चाहते है। इसके उपरात वह बालक को राष्ट्र की आर्थिक और सामाजिक वास्तविक परिस्थियो से व्यावहारिक रूप मे परिचित कराना चाहते है, तत्पश्चात् विदेशी सस्कृतियो और उनके विभिन्न जीवनादर्शो से। इस प्रकार बालक को एक सफल नागरिक एव विश्वनागरिक बनाने की क्षमता उनकी शिक्षा-व्यवस्था मे निहित है।

शिक्षण का केन्द्र सपूर्ण जीवन—शिक्षा के मुख्य तीन अग है—शिक्षक, पाठ्य-विषय तथा शिक्षार्थी। शिक्षा-इतिहास पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि शिक्षण-प्रक्रिया मे किसी न किसी अग को एक समय पर प्रधानता मिलती रही। प्राचीन काल मे हमारे देश मे गुरु तथा उसका आध्यात्मिक अनुभव शिक्षण का केन्द्र माना जाता था और शिक्षा के अन्य अगो को उसी के अनुरूप होना पडता था। फिर ससार भर मे पाठ्य-विषयो को प्रधानता मिली। बालक की रुचि की उपेक्षा करके विषयो का अध्ययन अनिवार्य माना गया। आजकल बालमनोविज्ञान की प्रगति के कारण शिक्षा का केन्द्र बालक, उसकी रुचियाँ और अनुभव माना गया है। रवीन्द्रनाथ इन तीनो मे से किसी भी अग पर बल देने के पक्ष मे नही है। कारण, ऐसा करने से साम्यता नष्ट हो जावेगी। शिक्षण का केन्द्र ऐसा होना चाहिए जिसमे इन तीनो को यथास्थान प्राप्त हो सके। वह केन्द्र है 'जीवन', किसी विशेष बालक का जीवन नही और न मानव जीवन के किसी विशेष पक्ष से सबधित जीवन, वरन् जीवन अपने समग्र रूप मे अर्थात् 'सपूर्ण' जीवन जो अपने श्रेष्ठतम एव उत्कृष्ट रूप में अध्यापक और छात्र को मिलकर जीना है। 'सपूर्ण जीवन' को शिक्षण का केन्द्र मानने से शिक्षा के विभिन्न अगो मे, ज्ञान के विभिन्न पक्षो मे अथवा विभिन्न विषयो मे स्वभावत सह-सबध स्थापित हो जाता है। शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य की प्राप्ति तब तक असभव है जब तक शिक्षा का केन्द्र बालक का 'सपूर्ण जीवन' नही माना जायगा। 'सपूर्ण जीवन' के लिए बालको मे रुचियो के जाग्रत करने मे ही शिक्षा की सफलता एव सार्थकता है। उन सभी ज्ञानो, सभी सूचनाओ एव सामाजिक प्रयोजनो की उपेक्षा की जानी चाहिए जो आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा से सयुक्त नही है। शिक्षक एक कलाकार है। वह बालक के जीवन का निर्माता है, उसे बालक के सपूर्ण जोवन का निर्माण करना चाहिए। पाठशाला को कुछेक कार्यो का स्थल नही होना चाहिए वरन् सपूर्ण जीवन से सबधित कार्यो का। पाठ्यक्रम का लक्ष्य होना चाहिए बालको को व्यक्तिगत और सामूहिक जीवन के अभिव्यक्तीकरण के लिए अवसर प्रदान करना। बालक को कोई भी ऐसा ज्ञान नही ग्रहण करना चाहिए जो

उसके सामूहिक जीवन के रूप मे उसकी कुशलता या प्रसन्नता मे बाधा पहुँचाता हो। अत पाठशालाओ में वातावरण की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। शिक्षण-पद्धति का उद्देश्य होना चाहिए बालको को नित्यप्रति के दैनिक जीवन का कार्यक्रम निर्धारित करने और मिलकर रहने मे सहायना प्रदान करना, ताकि वे सब आनन्दपूर्वक सफल जीवन व्यतीत कर सके।

एकता का सिद्धांत—शिक्षा-दर्शन के क्षेत्र मे रवीन्द्रनाथ की मुख्य देन यह है कि उन्होने सत्य की एकता (Unity of truth) और विचार की एकता (Unity of thought) पर विशेष बल दिया है। उनकी शिक्षा योजना मे सपूर्णता एव एकता के सिद्धान्त निहित है और वास्तव मे उन्होने इन सिद्धातो को शान्तिनिकेतन तथा श्रीनिकेतन मे व्यावहारिक रूप प्रदान किया। उन्होने प्रकृति को बालक के विकास मे एकसूत्रता लाने वाली शक्ति माना है। प्रकृति के कई रूप है, अत उन्होने उन सबको क्रमबद्ध किया है। बालक के लिए प्रकृति पराआत्म (Super-personal) की वृद्धि और विकास का अचेतन सकेत है जिसके सबध मे किसी प्रकार का प्रश्न पूछने की आवश्यकता नही है। वह बालक के स्वप्न और क्रीडा के लिए पृष्ठभूमि के रूप मे सदैव प्रस्तुत रहती है। किशोरो के लिए वही प्रकृति वैज्ञानिक या लयात्मक जिज्ञासा (Lyrical Curiosity) का विषय बन जाती है। हमे प्रकृति के इन दोनो पक्षो पर बालक को शिक्षा देते समय ध्यान देना चाहिए। बाल्यावस्था और किशोरावस्था को पार कर चुकने वाला प्रौढ प्रकृति को मिट्टी के रूप मे देखता है, जिसके ऊपर राष्ट्र और देशवासियो का विकास हुआ है और जो मनुष्य के आर्थिक तथा सास्कृतिक विकास के लिए पृष्ठभूमि के रूप में है। अत प्रकृति वह केन्द्र स्थल है जहाँ मनुष्य की रुचियाँ और आकाक्षाएँ आकर मिलती है। रवीन्द्रनाथ के अनुसार प्रकृति का जो ज्ञान प्रयोगशालाओ में प्राप्त किया जाता है, वह अकेले पर्याप्त नही है, वरन् जब हमारे मन के ज्ञानात्मक और क्रियात्मक पक्ष मे सबद्धता स्थापित हो जाती है, अर्थात् जब हम प्रकृति को केवल जानते ही नही वरन् उसके अनुरूप जीवन व्यतीत करते है, तभी हम विशाल और गहन स्वतत्रता की प्राप्ति करते है। 'यह स्वतत्रता उसी को प्राप्त होती है, जो जगल के वृक्ष की भाँति सघर्ष मे आत्म-सतोष प्राप्त करता है और बाल्यावस्था के धुँधले स्वप्नलोक से क्रमश प्रौढता के स्पष्ट प्रकाश की ओर अग्रसर होता है।'‡ स्वतत्रता स्वच्छदता नही है। वास्तविक स्वतत्रता विश्व को केवल जानने-मात्र मे नही है, वरन् उससे समरस होने मे, उससे एकरस होने मे है। 'प्रेम और क्रिया' के माध्यम से ही पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है।

रवीन्द्रनाथ और फ्रॉबेल—रवीन्द्रनाथ को श्रेय है कि उन्होने फ्रॉबेल की भाँति

‡The *Visva-Bharati Quarterly*, May-Oct, 1947, p 37

शिक्षा के क्षेत्र मे खेल, आनद, स्वतत्रता, आत्म-रचनात्मक अभिव्यक्ति, एकता आदि पारिभाषिक शब्दो को प्रविष्ट किया है और सभी प्रकार के ज्ञान मे समन्वय और सबद्धता स्थापित करने का प्रयत्न किया है। फ्रॉबेल की भाँति उन्होने भी उन स्तरो का वर्णन किया है जिनसे होकर बालक प्रौढता प्राप्त करता है—सर्वप्रथम वातावरण के प्रति बालक के सवेगो की अनुकूलता, तत्पश्चात् बुद्धि की शिक्षा और प्रशिक्षण तथा अत मे अपनी व्यक्तिगत पृथकता को जानते हुए, अपने समाज तथा मानव-समाजो के प्रति अपने उत्तरदायित्वो को समझते हुए मानव-जाति मे सूत्रबद्धता स्थापित करना।

यहाँ हमे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि यद्यपि दोनो का लक्ष्य एक ही है अर्थात् एकता की प्राप्ति, तथापि दोनो की शिक्षण-विधियो मे महान अतर है। फ्रॉबेल जड जगत् से 'उपहार' और 'व्यापार' को ईश्वर के प्रतीक रूप मे स्वीकार करके, उनके सहारे से ईश्वर की एकता का बोध बालक को कराना चाहता है। इससे भिन्न रवीन्द्रनाथ स्पष्ट घोषणा करते है कि 'जो अतर मे है, उन्हे अतर मे ही जानो।' बाह्य उपादान उसकी प्राप्ति को और अधिक दुर्गम बना देते है। वास्तविकता यह है कि फ्रॉबेल के नाना प्रकार के 'उपहार' और 'व्यापार' द्वारा बालक ऐंद्रियिक ज्ञान तो अवश्य किसी मात्रा तक ग्रहण कर लेता है, परन्तु उनके पीछे रहस्य को न समझने के कारण एकता का बोध प्राप्त करने मे असफल रहता है।

फ्रॉबेल, रवीन्द्रनाथ की भाँति ही, वैयक्तिक और जातीय विकास मे विश्वास करता है, पर वह यह बताने मे अक्षम है कि व्यक्ति अपना भावी विकास किस प्रकार करे। इसका कारण यह है कि "फ्रॉबेल ईश्वर को एक अमूर्त्त सिद्धात—एकता के रूप मे स्वीकार करता है, परतु टैगोर ईश्वर को विश्व-पुरुष के रूप मे मानते है, जो कि यथार्थ के अधिक समीप है तथा मानव-मन एव जीवन के सभी अगो को स्पर्श करने वाला है। वे आत्मिक ससार को इस ससार से पृथक् नही मानते, बल्कि इस ससार का ही अतरतम सत्य मानते है।"† अत. रवीन्द्रनाथ ब्रह्म की मानव और प्रकृति मे अभिव्यक्ति मानने के कारण, व्यक्ति के विकास का मार्ग प्रशस्त कर देते है। रवीन्द्रनाथ के अनुसार व्यक्ति का विकास उपदेश द्वारा सभव नही, वरन् एक विशिष्ट वातावरण में जीवन-यापन द्वारा ही सभव है। व्यक्ति का आत्मिक विकास प्राकृतिक सौंदर्य एव परिवारिक भावना से पूर्ण आश्रम मे निवास, नियम-सयम का जीवन, ललित कलाओ के माध्यम से कलात्मक भावनाओ के अभिव्यक्तीकरण, पास-पडोस के मानवीय समाज से सबध और उसकी सेवा, तथा विश्व की विभिन्न सस्कृतियो मे 'अनेकता में एकता' के सिद्धात के आधार पर समन्वय तथा मानवता से प्रेम द्वारा ही

† लक्ष्मी लाल के० ओड : रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शिक्षा-दर्शन, 'शिक्षा', जुलाई, १९५७ पृष्ठ २३

सभव है। निष्कर्ष रूप मे, समस्त सृष्टि से समरस होकर ही व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान सकेगा।

तथ्य यह है कि ब्रह्म के त्रिविध स्वरूप—'सत्य', 'ज्ञान' और 'अनत' के अनुरूप ही मनुष्य की जो तीन दिशाएँ है, 'मै हूँ', 'मै जानता हूँ' और 'मै व्यक्त करता हूँ, उनको केवल मनुष्य के जीवन मे व्यक्तिगत स्तर पर ही क्रियान्वित नही होना चाहिए, वरन् सामाजिक और आध्यात्मिक स्तर पर भी। कारण, व्यक्तिगत स्तर पर कार्य करने से वह व्यक्ति को स्वार्थी बना देती है और व्यक्ति अपने सत्य-रूप से दूर हटता चलता है। यदि व्यक्ति 'ए ता' का बोध प्राप्त करना चाहता है तो उसे अपनी तीनो दिशाओ को ब्रह्म के स्वरूप म समस्वर करना होगा। यह कैसे सभव है? 'मै हूँ' का वास्तविक रूप तभी विकसित होगा जब व्यक्ति समझेगा कि 'औरो की स्थिति मे ही मेरी स्थिति है'। 'मै जानता हूँ' का वास्तविक रूप केवल अपने दैहिक अस्तित्व को बनाये रखने वाले उपादानो को जानना-मात्र नही है, वरन् 'अपनी ज्ञानमय प्रकृति के साथ सगति रखकर ज्ञान-विज्ञान को जानना ही यथार्थ जानना है'। इसी प्रकार 'मै व्यक्त करता हूँ' का वास्तविक रूप तभी प्रदर्शित होगा जब व्यक्ति अपने वास्तविक अस्तित्व अर्थात 'अन्यो की स्थिति मे अपनी स्थिति' की अनुभूति करके, अपनी ज्ञानमय प्रकृति से एकाकार स्थापित करके, इसी ज्ञान को अपने विविध कार्यों मे अभिव्यक्त करता है। वह कार्य है—विभिन्न प्रकार की सेवाएँ और त्याग। व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को जानकर, जब आनन्दमय हो उठता है तो वह अपने भावो को नाना प्रकार की ललित कलाओ के माध्यम से व्यक्त करता है। 'असीमता बोध' ही 'एकता' अथवा 'अद्वैत' की प्राप्ति का साधन है।

जीवन-दर्शन पर आधारित संस्थाएँ

रवीन्द्रनाथ विश्वविद्यालयो को ज्ञान और विद्या के क्रय-विक्रय अथवा यात्रिक प्रसार का केन्द्र नही मानते है। उनके विचार मे विश्वविद्यालय ऐसे स्थल है, जिनके माध्यम से मनुष्य अपनी मानसिक सपत्ति दूसरो को देने मे समर्थ होता है। इसके साथ ही मानवता की सेवा तथा विभिन्न सस्कृतियो, धर्मों और मानव-समूहो के बीच के विभेदो को दूर करने तथा उनमे समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से उन्होने विश्वभारती की स्थापना की कल्पना की। इन्ही आदर्शों को लेकर विश्वभारती की स्थापना के निम्नाकिन उद्देश्य माने गये—

(१) सत्य के विभिन्न पक्षो का साक्षात्कार करने मे मानव-मन का अनेक दृष्टि-कोणो से अध्ययन करना।

(२) अतर्निहित एकता के आधार पर पूर्व की विभिन्न सस्कृतियो का सहिष्णुता-पूर्वक अध्ययन, खोज तथा उनमें घनिष्ठ सबध की स्थापना।

(३) प्राच्य जीवन और विचारो को दृष्टि मे रखते हुए पाश्चात्य विचारधारा से समन्वय-स्थापन ।

(४) पाश्चात्य और प्राच्य विचारो मे सगति स्थापित करके विश्वशाति के लिए मौलिक स्थितियो को सुदृढ बनाना तथा दोनो का आदान-प्रदान करना । इन्ही विचारो से प्रेरित होकर एक सास्कृतिक केन्द्र के रूप मे शातिनिकेतन की स्थापना हुई और वहाँ साहित्य, धर्म, इतिहास, विज्ञान, कला, बौद्ध, हिंदू, जैन, इस्लाम, ईसाई और सिक्ख आदि धर्मों के अध्ययन की व्यवस्था की गयी । इन विभिन्न धर्मों तथा सस्कृतियो के अध्ययन, इनमे सहकारिता और सहचिंतन की भावना का प्रारभ किया गया । जाति, धर्म, वर्ण आदि के भेदो के परे एक परमसत्ता के नाम पर पाश्चात्य और प्राच्य विद्वानो तथा चिंतको को विचार-विनिमय करने का अवसर प्रदान किया गया । रवीन्द्र नाथ ने विश्वभारती मे शिक्षा के लिए एक उचित वातावरण की सृष्टि की, जिसमे छात्रो की क्षमताओ का सम्यक् विकास हो सके ।

भारत सरकार ने विश्वभारती को एक अधिनियम द्वारा विश्वविद्यालय का रूप दे दिया है जिसमे निम्नाकित विभाग शिक्षा, धर्म, सस्कृति और कला के क्षेत्र मे कार्य कर रहे है—

(१) पाठभवन, (२) शिक्षाभवन, (३) कलाभवन, (४) सगीतभवन, (५) विनयभवन, (६) शिल्पभवन, (७) श्रीनिकेतन, (८) हिंदीभवन और (९) चीनाभवन ।

विश्वभारती के अतर्गत शातिनिकेतन और श्रीनिकेतन सास्कृतिक और ग्रामीण विषयो के अध्ययन के मुख्य केन्द्र है । विश्वभारती की मुख्य विशेषता है शिक्षा के लिए उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करना तथा रचनात्मक अभिव्यक्ति एव कार्य-कलापो के लिए अवसर प्रदान करना । यहाँ छोटे बच्चो, बडे बच्चो, युवक छात्रो और शोध-विभाग के छात्रो के लिए अलग-अलग छात्रावास है और महिलाओ के लिए अलग छात्रावास है । यहाँ विद्यार्थियो को खुले मैदानो मे शिक्षा दी जाती है और उनके व्यक्तित्व के विकास पर मुख्य रूप से ध्यान दिया जाता है । यहाँ का पाठ्यक्रम इतना व्यापक बनाया गया है कि उसमे बालक की विभिन्न रुचियो के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की गयी है । बालक के पूर्ण विकास के लिए उसके व्यक्तिगत और सामाजिक विकास, दोनो का पूर्ण ध्यान रखा जाता है । बालको को आसपास के दीन-दुखी लोगो के सपर्क मे आने और उन्हें जीवन के विविध पक्षो का अनुभव प्राप्त करने का अवसर दिया जाता है । इस प्रकार विश्वभारती को भारत मे एक नये जीवन का प्रारभ करने वाली शिक्षा-सस्था के रूप में देखा जा सकता है, जिसकी स्थापना में कविगुरु रवीन्द्रनाथ के शिक्षा-सबधी आदर्श साकार रूप प्राप्त कर सके हैं ।

सहायक-साहित्य

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

1 *Sadhana*
2 *The Religion of Man*
3 *The Creative Unity*
4 *Personality*
5. *Nationalism*
6 *Reminiscences*
7 *Crisis in Civilisation*
8 *A Vision of India's History*
9 *The Centre of Indian Culture*
10 *A Poet s School*, Visva Bharati Bulletin No 9, 1928
11 *Ideals of Education*, Bulletin No 14, 1929
12 *Education for Rural India*, Visva-Bharati, Education-Number, 1947
13 *Art in Education*, Visva-Bharati, Jan , 1941
14 *The Philosophy of Leisure*, Visva-Bharati Bulletin No 14, 1929
15 *Thoughts on Education*, Visva-Bharati Vol XIII 1947
16 *The Place of Music in Education and Culture*, Ibid

अन्य लेखक

1 V S Narvane *Rabindranath Tagore—A Philosophical Study*
2 S Radhakrishnan *Great Indians*
3 Edward Thompson *Rabindranath Tagore, His Life and Works*
4 *Rabindranath and His Ashram School*, Visva Bharati Vol XIII, 1947
5 *Rabindranath's Contribution to Education in India*, Ibid
6 *Rabindranath's Educational Ideals and The West*, Ibid

महात्मा गांधी

जीवन और कार्य

भारतीय सत-परपरा मे सत्य और अहिंसा, धार्मिक जीवन के मेरुदड रहे है और धर्म के दस लक्षणो मे इनकी गणना होती आ रही है। आदर्श और व्यक्तिगत आचरण के रूप मे इनका चरम उत्कर्ष अनेक महापुरुषो के जीवन मे देखा जाता है किंतु जीवन के व्यापक व्यावहारिक क्षेत्र मे इनके प्रयोग का प्रयत्न महात्मा गांधी के जीवन मे ही दृष्टि-गोचर होता है जिन्होंने अपने सपूर्ण जीवन को ही सत्य का प्रयोग माना और अपने समस्त कार्य-कलापो को इनके द्वारा अनुशासित एव नियत्रित किया। सत्य और अहिसा के प्रयोग-कर्त्ता के रूप मे ही उन्होंने हमारे सपूर्ण जीवन को प्रभावित किया। हमारे जीवन का कोई भी क्षेत्र ऐसा नही है, जिस पर उनका प्रभाव न पडा हो। प्रभाव की इसी सम-ग्रता के कारण ही इस शताब्दी का उत्तरार्द्ध हमारे राष्ट्रीय इतिहास मे गाधी-युग के नाम से सदैव स्मरण किया जायेगा। उन्होंने सत्य और अहिसा के द्वारा न केवल राष्ट्र को स्वतत्र कराने का चमत्कारपूर्ण कार्य किया वरन् धर्म, समाज, राजनीति, शिक्षा आदि सभी क्षेत्रो मे नूतन स्पन्दन भरा और दासता से आक्रात राष्ट्र को नवीन आलोक से उद्भासित किया। इस प्रकार राष्ट्र को नई चेतना और नया जीवन प्रदान करने के कारण ही वह 'राष्ट्रपिता' के नाम से सज्ञापित हुए।

बाल्यावस्था और शिक्षा—गाधीजी (मोहनदास करमचद गाधी) का जन्म, काठिया-वाड के पोरबदर नामक स्थान मे, २ अक्टूबर, सन् १८६९ ई० को हुआ था। इनका परिवार समृद्ध था और इनके पिता करमचद गाधी पोरबदर राज्य के दीवान थे। इनकी माता का नाम पुतलीबाई था। करमचद गाधी साधारण पढे-लिखे किंतु एक अनुभवी, निर्भीक तथा राज-काज मे कुशल व्यक्ति थे। गाधीजी की माता साध्वी और निष्ठावान स्त्री थी। धर्म, व्रत और उपवास मे उनका दृढ विश्वास था। गाधीजी ऐसे ही आदर्श माता-पिता की अतिम सतान थे।

गाधीजी की बाल्यावस्था पोरबदर मे ही व्यतीत हुई। वहाँ की एक पाठशाला मे यह आरभिक शिक्षा प्राप्त करने के लिए भर्त्ती किये गये। यह एक साधारण बुद्धि के बालक थे और पढने-लिखने मे इनकी रुचि कम ही थी। जब गाधीजी सात वर्ष के हुए तब इनके पिता दीवान होकर राजकोट चले आये। वहाँ की एक पाठशाला मे गाधी जी का नाम लिखाया गया। गाधीजी सकोची स्वभाव के बालक थे, अत वह अपने सह-

पाठियो के सपर्क से बचने का प्रयत्न करते थे और छुट्टी होते ही पाठशाला से घर चले आते थे। माता-पिता की सेवा मे उनका मन खूब लगता था, अत पाठशाला के समय के उपरान्त ये उनकी सेवा मे लगे रहते थे। इस समय इन्होने 'श्रवणपितृ-भक्ति' नाटक पढा और 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक का अभिनय देखा। इन दोनो का प्रभाव उनकी भावनाओ पर पडा सत्य के प्रति अनुरक्ति का बीजारोपण इसी अवस्था मे इनके मन में हो गया जिसका विक स इनके भावी जीवन मे दृष्टिगोचर होता है।

पाठशाला मे इन्हे किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा नही मिली, किंतु इसकी पूर्ति घर के वातावरण से हो गयी। बचपन मे गाधीजी भूत-प्रेत से डरते थे किन्तु इनके घर की पुरानी नौकरानी रम्भा ने इन्हे बताया कि भूत-प्रेत की एकमात्र औषधि रामनाम का जप है। यद्यपि गाधीजी रामनाम का जप अधिक दिनो तक नही कर सके, फिर भी इसका प्रभाव इनके जीवन के अत तक बना रहा। गाधीजी का परिवार वैष्णव था। वह अपने माता-पिता के साथ हवेली जाते थे। उनके माता-पिता गाधीजी और इनके भाइयो को हवेली, राममदिर और शिवालय ले जाते थे, अत इनके हृदय मे हिंदूधर्म के सभी सप्रदाओ के प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न हुई। इसके अतिरिक्त गाधीजी के पिता के पास जैन, पारसी और मुसलमान सभी धर्मों के अनुयायी मित्र आते थे और अपने-अपने धर्मों की चर्चा किया करते थे। पिता की सेवा करते समय ये इन बातो को सुना करते थे, अत ऐसे वातावरण मे इनके मन मे सभी धर्मो के प्रति समभाव का जागरण हुआ।

इसी समय गाधीजी को अपने पिता की पुस्तको मे 'मनुस्मृति' का अनुवाद मिल गया। इसे पढ कर गाधीजी के मन मे यह विश्वास दृढ हो गया कि यह संसार नीति पर टिका हुआ है। उन्होने यह अनुभव किया कि नीति का समावेश सत्य मे है। इसी समय नीति विषयक एक छप्पय मे उन्होने पढा कि अपकार का बदला अपकार नही, वरन् उपकार ही हो सकता है। इस छप्पय मे मानो उन्हे जीवन का सूत्र प्राप्त हो गया।

तेरह वर्ष की अल्पायु मे ही गाधीजी का विवाह कस्तूरबाई के साथ हुआ। इस समय गाधीजी हाई स्कूल मे पढ रहे थे। अब पढने-लिखने मे उनका मन लगने लगा था और उनकी गणना मद बुद्धि के छात्रो मे नही होती थी। गाधीजी अपने सदाचरण के प्रति सदा सजग रहते थे, फिर भी कुसगति मे पड कर उन्होने एक बार मासाहार और धूम्रपान कर लिया था। उन्होने अपने इस अपराध की सूचना एक पत्र द्वारा पिता को दी और अपने दोष को स्वीकार करते हुए भविष्य मे ऐसा न करने का वचन दिया।

शैक्षिक दृष्टि से गाधीजी के कुछ अनुभव बडे महत्त्वपूर्ण है। जब वह सातवी कक्षा मे पढ रहे थे तब प्रधानाध्यापक ने उच्च कक्षाओ के सभी छात्रो के लिए व्यायाम, क्रिकेट, फुटबॉल आदि खेलो मे भाग लेना अनिवार्य कर दिया था। इसके पूर्व गाधीजी खेल-कूद में कभी भाग नही लेते थे। उनका विचार था कि खेल-कूद से शिक्षा का कोई सबध नही है। किंतु अपने जीवन मे आगे चल कर उन्होने यह अनुभव किया कि शिक्षा मे मानसिक और

शारीरिक दोनो प्रकार की शिक्षाओ का समावेश होना चाहिए। इसी प्रकार का एक और भ्रम उनके मन मे आरभ से ही था। वह शिक्षा मे सुलेख को आवश्यक नही मानते थे। किंतु बाद मे उन्होंने स्वीकार किया कि अक्षरो का सुदर न होना अपूर्ण शिक्षा का लक्षण है। सुलेख न लिख सकने का परिणाम यह भी हो सकता है कि बालक मे आत्म-हीनता की भावना का प्रवेश हो जाय। गाधीजी को सस्कृत पढने मे कठिनाई प्रतीत होती थी। एक दिन वह सस्कृत की कक्षा मे न बैठकर फारसी की कक्षा मे बैठ गये। उनके इस कार्य से संस्कृत के अध्यापक को बडा कष्ट हुआ। अध्यापक ने उनसे उनकी कठिनाइयो के विषय मे पूछा और उन्हे पुन सस्कृत-कक्षा मे बैठने का आदेश दिया। गाधीजी अपने शिक्षक के स्नेह की अवहेलना न कर सके। इस घटना के सबध मे उन्होने लिखा है, 'आज मेरी आत्मा कृष्णाशकर पड्या की कृतज्ञ है क्योकि जितनी सस्कृत मैंने उस समय पढी, यदि उतनी भी न पढा होता तो आज मै सस्कृत शास्त्रो का जो रसा-स्वादन कर पाता हूँ, वह न कर पाता। बल्कि अधिक सस्कृत न पढ सका, इसका पछ-तावा है। आगे चल कर मैंने समझा कि किसी भी हिंदू बाराक को सस्कृत के अध्ययन से वचित नही रहना चाहिए।'

सन् १८८५ ई० मे गाधीजी ने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की और श्यामगदास कॉलेज, भावनगर मे उच्चशिक्षा के लिए प्रविष्ट हुए।

विलायत के लिए प्रस्थान—कॉलेज की शिक्षा मे गाधीजी का मन नही लगता था। विषय कठिन प्रतीत होते थे। इसी समय इनके पिता के मित्र मावजी दवे ने यह परा-मर्श दिया कि मोहनदास को इगलैड जाकर बैरिस्टरी की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। गाधीजी के परिवार के लिए यह सर्वथा नयी बात थी। बडी कठिनाई से इनकी माता और भाई सहमत हो सके। किंतु माता ने इनसे यह प्रतिज्ञा करवायी कि यह मास, मदिरा और स्त्री-सग से दूर रहेगे। भाई और माता की अनुमति तो मिल गयी किंतु इनकी जातीय पचायत ने विदेश-यात्रा को धर्मविरुद्ध बताकर इनके विलायत जाने का विरोध किया। गाधीजी ने इस विरोध की चिंता न की, और अन्त मे ४ सितबर, सन् १८८८ ई० को विलायत के लिए प्रस्थान किया।

गाधीजी निरामिषभोजी थे इसलिए यात्रा करते समय जहाज पर और लदन-निवास-काल मे इन्हे भोजन-सबधी असुविधाएँ उठानी पडी। लदन मे उस समय केवल चार ही निरामिष भोजनालय थे। गाधीजी या तो इन भोजनालयो मे भोजन करते या कभी-कभी स्वय भोजन बना लेते थे। लदन में इन्होने निरामिष भोजन के विषय मे कई पुस्तके पढी जिससे सात्विक आहार की उपयोगिता पर इनका विश्वास दृढ हो गया। उसी समय से भोजन-सबधी प्रयोगो मे इनकी जो रुचि उत्पन्न हुई वह आजीवन बनी रही। गाधीजी ने लदन मे 'अन्नाहारी मडल' की स्थापना की जिसके अध्यक्ष डा० ओल्डफील्ड, उपाध्यक्ष एडविन अर्नाल्ड तथा मत्री स्वय थे।

लदन मे रहते समय गाँधीजी ने एडविन अर्नाल्ड द्वारा किया गया गीता का अनुवाद पढा जिससे गीता की दिव्यता पर उनकी श्रद्धा बढी। गाधीजी ने बैरिस्टरी की तैयारी करते हुई अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तको का अध्ययन भी किया। उनका सपर्क डॉ० एनीबेसेंट तथा अन्य थियोसोफिस्ट लोगो से भी हुआ। इसी समय उन्होने बुद्ध-चरित (Light of Asia) और बाइबिल का अध्ययन किया। इन तीनो पुस्तको ने उनके जीवन और विचारो को अत्यधिक प्रभावित किया। इनके अध्ययन के सारतत्व के रूप मे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'त्याग मे ही धर्म' है। १० जून, सन् १८९१ ई० को बैरिस्टर होकर इन्होने भारत के लिए प्रस्थान किया। गाधीजी जब बबई पहुँचे तब इनके मित्र डा० मेहता ने गुजरात के कवि-दार्शनिक श्री रायचद भाई से इनका परिचय कराया। रायचद भाई सत्य और अहिसा की मूर्ति थे। गाधीजी को उनसे धार्मिक प्रेरणा प्राप्त हुई और आगे भी वह समय-समय पर धर्म-विषयक शकाओ के निवारण के लिए उनसे परामर्श करते रहे।

दक्षिण अफ्रीका की यात्रा—गाधीजी बैरिस्टर तो हो गये, किंतु स्पष्ट ढग से बोलने, निर्भीकता से तर्क करने और न्यायालय मे अपने पक्षको उपस्थित कर सकने का अभ्यास उन्हे नही था। अत. मित्रा की राय से, बबई हाईकोर्ट मे जाकर कुछ दिनो तक अनुभव प्राप्त करने का उन्होने निश्चय किया। बबई पहुँचकर गाधीजी ने कानून का अध्ययन और भोजन का प्रयोग, दोनो को साथ-साथ चलाया। कानून के पेशे मे उन्हे विशेष सफलता नही मिल सकी और वह पाँच छ मास बाद पुन राजकोट चले आये। राजकोट आकर इन्होने अपनी वकालत का कुछ सिलसिला जमाया ही था कि सेठ अब्दुल्ला की फर्म के एक हिस्सेदार ने एक मुकदमे के सबध मे इन्हे दक्षिण अफ्रीका बुलाया। अत अप्रैल सन् १८९३ ई० मे गाधीजी दक्षिण अफ्रीका चले गये।

दक्षिण अफ्रीका मे गाधीजी को अनेक कटु अनुभव प्राप्त हुए। प्रवासी भारतीयो को वहाँ नानाप्रकार से पीडित और अपमानित किया जाता था। रग-भेद के आधार पर ऐसे कानून बनाये गये थे जिनसे विवश होकर प्रवासी भारतीय दक्षिण अफ्रीका छोड दें। उन्हे ट्रेन मे उच्च श्रेणी मे यात्रा करने, सडक की पटरी पर चलने आदि के अनेक अधिकारो से वचित कर दिया गया था। भारतीय होने के कारण स्वय गाधीजी को कई बार अपमानित होना पडा। एक बार यह सेठ अब्दुल्ला के फर्म के मुकदमे के बारे मे डरबन से प्रिटोरिया जा रहे थे। इनके पास प्रथम श्रेणी का टिकट था फिर भी इन्हे ट्रेन से उतार दिया गया, इनका सामान फेक दिया गया और रात भर यह शीत मे ठिठुरते रहे। इस घटना ने इन्हे न केवल भारतीयो वरन् मानवता के प्रति कर्त्तव्य का बोध कराया और इसी दिन से इनकी सक्रिय अहिंसा का प्रारभ हुआ। इन्होने दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो को तत्कालीन परिस्थिति से परिचित कराया और अपने अधिकारो की रक्षा के लिए सचेत किया। इन्होने जाति-धर्म की भेद-भावना को दूर करके समस्त

भारतीयो को सगठित होने के लिए आह्वान किया । गाधीजी के इस प्रयत्न के फलस्वरूप एक मण्डल की स्थापना हुई जिसके द्वारा गाधी जी ने भारतीयो के कष्टो के निवारणार्थ सरकारी अधिकारियो से पत्र-व्यवहार किया । अधिकारियो ने भारतीयो के प्रति सहानुभूति प्रकट की, उनके कष्टो को दूर करने की माँग को न्यायोचित माना और गाधीजी को इस दिशा मे थोडी सफलता भी प्राप्त हुई ।

दक्षिण अफ्रीका मे अन्य कार्यो के साथ-साथ, गाधी जी के धार्मिक विचारो का मथन भी चलता रहा । उनके, मुसलमान व ईसाई मित्र उन्हे अपने धर्म मे लाना चाहते थे । इस स्थिति मे धर्म का वास्तविक रूप जानने के लिए उन्होने बाइबिल और कुरान का अध्ययन किया, मैक्समूलर-कृत 'भारत क्या सिखाता है ?' तथा उपनिषदो के अनुवाद को भी उन्होने पढा । इस सबध मे उन्होने रायचद भाई से पत्रो के द्वारा कई बार विचार विमर्श किया । रामचद भाई के पत्रो से उनके मन मे हिन्दू धर्म के प्रति श्रद्धा बढी, किंतु साथ ही, अन्य धर्मो के प्रति उनके मन मे सहिष्णुता का सचार हुआ । टॉलस्टॉय की पुस्तक 'द किगडम ऑफ गॉड इज विदिन यू' के अध्ययन का भी गाधीजी के ऊपर वशेष प्रभाव पडा । रायचद भाई से अहिंसा और टॉलस्टॉय से प्रेम का पाठ उन्होने पढा । टॉलस्टॉय से हस्तकौशल या व्यवसाय के माध्यम से शिक्षा प्रदान करने का विचार भी ग्रहण किया, जिसे भविष्य मे उन्होने अपनी शिक्षा-योजना का प्रमुख अग बनाया ।

सेठ अब्दुला की फर्म के जिस मुकदमे के सबध मे गाधीजी दक्षिण अफ्रीका गये थे उसका निर्णय हो जाने पर वह भारत वापिस लौटने की तैयारी करने लगे । किंतु इसी समय उन्हे ज्ञात हुआ कि प्रवासी भारतीयो को नेटाल की काउसिल के लिए सदस्य निर्वाचित होने के अधिकार से वचित करने के लिए एक बिल पेश हो रहा है । अत भारतीयो के अधिकारो की रक्षा के लिए उन्हे वहाँ रुकना पडा । असेम्बली मे इस बिल पर जब वाद-विवाद चल रहा था तभी गाधीजी ने बिल के विरोध मे, भारतीयो से हस्ताक्षर करा के एक आवेदन-पत्र भेजा । यद्यपि इस आवेदन-पत्र पर सरकार ने ध्यान नही दिया और वह बिल स्वीकृत भी हो गया फिर भी इस काम से भारतीयो मे नयी जागृति उत्पन्न हुई । यह पहला अवसर था जब प्रवासी भारतीयो ने अपने अधिकारो की रक्षा के लिए सगठित होकर प्रयास किया था । इस बिल के विरोध मे आदोलन जारी रखने के लिए गाधीजी ने सन् १८९४ ई० मे 'नेटाल इडियन काग्रेस' की स्थापना की । इसी वर्ष दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने प्रत्येक गिरमिटिया भारतीय (गिरमिटिया पॉच वर्ष का अनुबध-पत्र लिखकर दक्षिण अफ्रीका मे मजदूरी करने जाता था) पर पच्चीस पौंड वार्षिक कर लगाने के कानून का मसविदा तैयार किया । नेटाल कॉंग्रेस ने गाधीजी के नेतृत्व मे इस कर का विरोध किया जिसके फलस्वरूप सरकार ने पच्चीस पौड के स्थान पर कर को घटा कर तीन पौंड कर दिया । काग्रेस को यह तीन पौंड का कर भी अन्यायपूर्ण प्रतीत हुआ और उसने निश्चय किया किसी न किसी दिन इस कर को भी हटाना है ।

गाधीजी के दक्षिण अफ्रीका मे इस प्रकार समाज-सेवा में तन्मय होने का कारण उनकी आत्म-साक्षात्कार की प्रवृत्ति थी। उन्होने सेवा-धर्म इसीलिए स्वीकार किया था कि 'ईश्वर की पहिचान सेवा से होगी।' प्रवासी भारतीयो को अधिकार दिलाने मे समय लगेगा इस कारण अपने कुटुब को लेने तथा भारत मे दक्षिण अफ्रीका के प्रवासी भारतीयो के पक्ष मे जनमत तैयार करने के विचार से गाधीजी भारत आये। यहाँ आकर उन्होने लोकमान्य तिलक, गोखले आदि भारतीय नेताओ से भेट की और दक्षिण अफ्रीका की स्थिति का परिचय उन्हे दिया। इसी बीच दक्षिण अफ्रीका से एक तार आया जिसके अनुसार गाधीजी अपने कुटुब के साथ सन् १८९७ ई० मे फिर दक्षिण अफ्रीका लौट गये। जहाज से उतरने पर गोरो की उत्तेजित भीड ने उन पर हमला किया और उन्हे अपमानित करने का कोई भी प्रयत्न शेष नही रखा, किंतु गाधीजी धैर्य पर अटल रहे। हमला शात होने पर वह डरबन में उतरे।

बोअर युद्ध, फिनिक्स आश्रम की स्थापना

दक्षिण अफ्रीका मे अहिसात्मक प्रतिकार द्वारा भारतीयो के पक्ष का समर्थन करके गाधीजी अग्रेजो का विरोध अवश्य कर रहे थे किंतु जब-जब अग्रजो पर विपत्ति आयी, उन्होने उनकी सहायता भी की। यह कार्य उनकी अहिसात्मक नीति के सर्वथा अनुकूल था। सन् १८९९ ई० मे जब बोअर युद्ध आरभ हो गया तब गाधीजी ने यथाशक्ति अग्रेजो की सहायता की। उन्होंने रेडक्रॉस सोसाइटी द्वारा आहतो की सेवा-सुश्रूषा की। बोअर युद्ध समाप्त होने के पश्चात् सन् १९०१ ई० मे, नेटाल मे मि० खान और मि० मनसुखलाल नाजर को कांग्रेस का कार्य सौप कर और आवश्यकता पडने पर पुन आने का आश्वासन देकर गाधीजी भारत आये। यहाँ आकर उन्होने देश की स्थिति का अध्ययन किया और बम्बई मे अपनी वकालत शुरू की ही थी कि उन्हे दक्षिण अफीका मे सत्याग्रह-आदोलन को जारी रखने के लिए पुन: वापस लौटना पडा। उन्होने अपने परिवार को भारत मे ही छोड दिया। सन् १९०४ ई० मे गाधीजी ने अहिंसात्मक सघर्ष को तीव्र करने के लिए 'इडियन ओपिनियन' नामक पत्रिका का प्रकाशन आरभ किया। इस पत्रिका के सचालन-प्रकाशन मे व्यय अधिक होता था, अत कम व्यय में उसे सुचारु रूप से सचालन करने के लिए गाधीजी ने डरबन के समीप फिनिक्स आश्रम की स्थापना की। इस आश्रम की स्थापना उन्होने रस्किन की पुस्तक—'अन टू दिस लास्ट'—के आदर्शों पर की, जिसका अध्ययन गांधीजी ने हाल में ही किया था। इस पुस्तक के सबध मे गाधीजी ने लिखा है, 'मेरे जीवन मे यदि किसी पुस्तक ने तत्काल महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन कर डाला तो यह वही पुस्तक है।' बाद मे गाधीजी ने इस पुस्तक का अनुवाद 'सर्वोदय' के नाम से किया। फिनिक्स आश्रम के निवासी पवित्रता, स्वाद-सयम, स्वेच्छा से दीन जीवन व्यतीत करना, शारीरिक परिश्रम, निर्भयता, आत्म-निर्भरता और सहनशीलता आदि गुणो का पालन करते थे। वहाँ रहनेवालो के लगभग तीस बच्चे गाधीजी के आदर्शों पर शिक्षा

प्राप्त करते थे। बालक तीन घटे पढते, दो घटे खेती करते और दो घटे प्रेस का काम करते थे। इसके अतिरिक्त यदि रात मे समय मिलता तो बच्च अपने आप पढते थे। यहाँ साहित्यिक शिक्षा की अपेक्षा चरित्र-निर्माण पर विशेष बल दिया जात था। इस प्रकार फिनिक्स आश्रम मे गाधीजी के शिक्षादर्शो को व्यावहारिक रूप प्राप्त हुआ। सन १९०८ ई० मे सबसे प्रथम गाधीजी ने अपने शैक्षिक विचारो को अपनी पुस्तक 'हिन्द-स्वराज' मे प्रकट किया। उन्होने बताया कि 'साक्षरता शिक्षा का उद्देश्य नही है। मैकॉले द्वारा निर्धारित शिक्षा-पद्धति भारत को बधन मे ही रखेगी। अग्रेजी शिक्षा के माध्यम के रूप मे हानिकारक है। प्रत्येक भारतीय को हिंदी का काम चलाऊ ज्ञान होना चाहिए।' इसके बाद गाँधीजी के शैक्षिक विचारो मे अधिक परिवर्त्तन नही हुआ। गाधीजी इस आश्रम मे अधिक दिनो तक नही रह सके, जिसका उन्हे बाद मे भी दु ख रहा। कारण यह था कि वह अब तक सवैधानिक विधि से भारतीयो को अधिकार दिलाने की चेष्टा कर रहे थे, अत जोहेनेसबर्ग मे जाकर वकालत करने लगे। उन्होने अपने परिवार को भी भारत से यहाँ बुला लिया।

जोहेनेसबर्ग का जीवन—जोहेनेसबर्ग मे गाधीजी ने 'सर्वोदय' के सिद्धातो के अनुकूल अपना जीवन व्यतीत करना आरभ किया। उन्होने स्वय श्रम एव सादगी का जीवन अपनाया और अपने बच्चो को भी इसी अनुशासन मे रखा। उनके बच्चे नौकरो के साथ घरेलू कार्यों मे हाथ बँटाते। अत उनके बच्चो को कभी भी किसी प्रकार के शारीरिक श्रम में सकोच का अनुभव नही होता था। उन्होने अपने बच्चो को स्वेच्छापूर्ण अनुशासन, श्रम की महत्ता, आत्म-साहाय्य और स्वच्छता की शिक्षा दी। वह अपने साथ बच्चो को भी भ्रमण के लिए दफ्तर तक ले जाते थे और रास्ते मे शिक्षाप्रद बाते भी बताते थे। सबसे बडे पुत्र हरिलाल के सिवाय बाकी सब पुत्रो की शिक्षा इसी प्रकार हुई। समयाभाव के कारण गाधीजी अपने बच्चो को साहित्यिक शिक्षा न दे सके जिसका दु ख उन्हे रहा, किंतु संतोष इसी बात का था कि उनके चरित्र-गठन में किसी प्रकार की कमी नही रखी गयी। उन्होने 'आत्मकथा' मे लिखा है कि, "मेरी पक्की धारणा है कि बच्चो को माँ-बाप की सूरत-शक्ल की विरासत जैसे मिलती है वैसे उनके गुण-दोषो की विरासत भी जरूर मिलती है।" बच्चो को अग्रेजी की शिक्षा न देने के विषय मे, गाधीजी और उनके मित्र मि० पोलक मे बहस होती थी। वह उनसे सदैव यही कहा करते थे कि जो माँ-बाप अपने बच्चो से, बचपन से ही अग्रेजी बुलवाने लगते है वे उनका और देश का द्रोह करते है। इससे बालक अपने देश के धार्मिक और सामाजिक विरासत से वचित रहते है और उतने अश मे देश और जगत की सेवा करने के कम योग्य होते है। गाधी जी अपने बच्चो से सदैव गुजराती मे ही बात करते थे। जोहेनेसबर्ग मे रहते हुए, गाधी जी सत्याग्रह आदोलन चलाने के साथ-साथ व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य, प्राकृतिक चिकित्सा आदि पर प्रयोग भी करते रहते थे।

सत्याग्रह, टॉलस्टॉय आश्रम

सन् १९०६ ई० मे दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने 'न्यू एशियाटिक लॉ' बनाया। गाधीजी अब इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके थे कि अफ्रीकी सरकार से वैधानिक विधि द्वारा एशियावासियो के अधिकार दिलाना कठिन है। अत इस कानून का विरोध करने के लिए उन्होने सामूहिक सत्याग्रह आदोलन का सूत्रपात किया। जोहेनेसबर्ग मे हजारो नर-नारी एकत्र हुए और उन्होने अहिंसात्मक प्रतिकार की शपथ ली। अफ्रीका मे रहने वाले चीनी तथा अन्य एशियायी प्रवासियो ने भारतीयो का साथ दिया। यह आदोलन चल ही रहा था कि वहाँ की जुलू नामक आदिमवासी जाति के लोगो ने सरकार के विरुद्ध विद्रोह किया। इस विद्रोह को दबाने मे भी गाधीजी ने सरकार का साथ दिया। समय-समय पर गाधीजी की इन नि स्वार्थ सेवाओ से भी अग्रेजो का हृदय-परिवर्त्तन न हुआ। इस विद्रोह के सिलसिले मे गाधीजी को जोहेनेसबर्ग छोडना पडा। उन्होने अपने परिवार को फिनिक्स आश्रम भेज दिया। सत्याग्रह-आदोलन के कारण गाधीजी और उनके साथियो को कई बार जेल जाना पडा।

सन् १९११ ई० मे गाधीजी ने एक ऐसे आश्रम की स्थापना की आवश्यकता का अनुभव किया जहा सत्याग्रही कैदियो के परिवार रह कर धार्मिक जीवन व्यतीत करें। अपने इस विचार को कार्यरूप मे परिणत करने के लिए उन्होने ट्रासवाल मे एक आश्रम की स्थापाना की और इसका नाम 'टालस्टाय फॉर्म' रखा। यहाँ का जीवन धार्मिकता से ओत-प्रोत था। फार्म पर सभी धर्मो के अनुयायी रहते थे। वे परस्पर एक दूसरे का सम्मान करते हुए जीविकार्जन तथा आत्मोन्नति का उपाय करते थे। गाधीजी ने शीघ्र ही यह भी अनुभव किया कि टॉलस्टॉय फॉर्म के निवासियो के बालको की शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

यह फार्म गाधीजी के शिक्षा-प्रयोग के लिए एक आदर्श प्रयोगशाला बन गया। उन्होने फॉर्म को घर के वातावरण मे परिवर्त्तित कर दिया और चरित्र को सब प्रकार की शिक्षा की नीव माना। उनका विचार था कि यदि चरित्र सुदृढ हो तो शेष सारी बातो को बच्चे स्वय सीख लेते हैं। यहाँ उन्होने बच्चो को साहित्यिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था की। भोजन बनाने से लेकर सफाई करने तक का सारा काम बालक स्वय करते थे। बच्चे बागबानी करते, पेड काटते, गड्ढे खोदते और इस प्रकार उन्हे फिर अतिरिक्त शारीरिक श्रम की आवश्यकता नही पडती थी। गाधीजी ने इसके साथ ही व्यावसायिक प्रशिक्षण की ओर भी ध्यान दिया। भोजन, सफाई, सैडिल बनाने और बढईगीरी आदि का काम बच्चो को सिखाया जाने लगा और इस प्रकार व्यावसायिक एव हस्तकौशल की शिक्षा द्वारा उन्होने बालको को बहुमुखी विकास करने और आत्म-निर्भर होने का मार्ग दिखाया। गाधीजी ने अब तक ज्ञानार्जन के साथ व्याबसायिक प्रशिक्षण को सयुक्त किया था, पर किसी व्यवसाय को शिक्षा का माध्यम बनाने का

प्रयास नही किया था। आश्रम मे विभिन्न धर्म के बालको को एक-सी धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था करने के द्वारा गाधीजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सब धर्मों की शिक्षा का सारतत्व 'नैतिकना के सिद्धात' है जो सब मानव-प्राणियों के लिए समान है। अत यही आश्रम पर उन्हे नैतिक धर्म का आभास प्राप्त हुआ जिसे बाद मे 'नीति-धर्म' की पुस्तक का सन् १९१२ ई० मे रूप मिला। इसके अतिरिक्त वह प्रत्येक बालक के लिए यह भी आवश्यक समझते थे कि वह अपने धर्म की विशिष्ट पूजा-विधि भी जाने। सार्वभौम नैतिक धर्म के सिद्धातो के पालन के साथ-साथ बालक अपने धर्म के सिद्धातो एव कर्मविधि का पालन भी करे। फॉर्म पर अपने शिक्षा प्रयोगो के बहुत पूर्व गाधी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि 'आत्मा की शिक्षा स्वय मे एक महान कार्य है। यह चरित्र-निर्माण मे तथा ईश्वर-प्राप्ति अथवा आत्म-साक्षात्कार मे सहायक है।' गाधीजी के विचार मे जिस प्रकार शारीरिक और मानसिक शिक्षा के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता पडती है उसी प्रकार आत्मा की शिक्षा के लिए भी प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इस आत्मिक प्रशिक्षण मे शिक्षक का स्थान सर्वोपरि है। यही पर उन्होने शिक्षा मे भी अहिंसा के सिद्धात का प्रयोग किया, अत वह शारीरिक दड के पक्ष मे न थे।

सन् १९१३ ई० मे सत्याग्रह आदोलन का प्रसार ट्रासवाल से नेटाल तक हो गया। स्थान-स्थान पर सभाएँ और हडताले हुईं। जनता के इस विरोध के फलस्वरूप भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड हार्डिज ने दक्षिण अफ्रीका की सरकार के पास अपना प्रतिरोधपूर्ण पत्र भेजा। अत मे सन् १९१४ ई० मे दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने 'एशियायी लॉ' को हटाया, तीन पौड का कर भी उठा लिया और सबको स्वतत्र रूप से बसने की सुविधा प्रदान की। दक्षिण अफ्रीका मे गाधीजी के बीस वर्ष के सघर्षमय जीवन व्यतीत करने पर यह 'सत्य' और 'अहिसा' की विजय थी।

भारत-आगमन—सन् १९१४ ई० मे गाधीजी इगलैड होते हुए भारत आये। बबई मे बड समारोह के साथ उनका स्वागत हुआ। बबई से गोखले के साथ वह पूना गये। भारत मे उनके आगमन से पूर्व ही 'फिनिक्स' के कुछ साथी यहाँ आ चुके थे। इन लोगो के साथ सी० एफ० ऐड्रूज भी थे। भारत मे कार्य करने के पूर्व गाधी जी देश की स्थिति का अध्ययन करना चाहते थे, अत फिनिक्स के साथियो को उन्होने ऐंड्रूज़ को सौप दिया और स्वय देश के कई स्थानो के भ्रमण पर निकल पडे। सी० एफ० ऐंड्रूज़ फिनिक्स के साथियो के साथ कुछ दिनो तक तो गुरुकुल कागडी मे रहे किंतु बाद में शातिनिकेतन चले आये जहाँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इन लोगो के प्रति असीम स्नेह प्रदर्शित किया।

फ़िनिक्स-वासियो को शातिनिकेतन में पृथक् आवास दे दिया गया जहाँ वे अपने आदर्शो और दैनिक कार्य-क्रम के अनुसार रहते थे। कुछ समय बाद गाधी जी भी शातिनिकेतन आये। उन्होने शातिनिकेतन के छात्रो को आत्मनिर्भर होने का पाठ पढ़ाया।

फिनिक्स-परिवार के लोग अपना सारा कार्य स्वय करते थे, अत शातिनिकेतन के छात्रो ने भी ऐसा ही प्रयोग आरभ किया। कुछ दिनो तक तो शातिनिकेतन के छात्र भी फिनिक्स-वासियो की भाँति ही अपना सारा कार्य स्वय करते रहे, किंतु उनसे यह क्रम अधिक दिनो तक नही चल सका। रवीन्द्रनाथ ने इस सबध मे यह अवश्य कहा, 'इस प्रयोग मे स्वतत्रता की कुजी है।'

सत्याग्रह-आश्रम, साबरमती—गाधीजी ने दक्षिण अफ्रीका मे ही फिनिक्स के आदर्शो पर भारत मे एक आश्रम स्थापित करने का सकल्प किया था। अत उन्होने २५ मई, सन् १९१५ ई० को अहमदाबाद मे 'सत्याग्रह आश्रम' की स्थापना की। जब अहमदाबाद मे प्लेग का प्रकोप हुआ तब गाधीजी ने वहाँ से आश्रम को हटा लिया और उसे स्थायी रूप से साबरमती ले आये। आरभ मे उनके साथ दक्षिण अफ्रीका के बीस साथी थे। आश्रम मे एक विद्यालय भी खोला गया जिसमे बच्चो को साहित्यिक शिक्षा दी जाती थी और अपढ प्रौढो को भी पढाया जाता था। यहाँ भी शिक्षा के अतिरिक्त व्यावसायिक और हस्तकौशल की शिक्षा सब लोगो को समान रूप से दी जाती थी। सारे कार्य फिनिक्स के आदर्शो पर ही होते थे। आश्रम मे पाठ्यक्रम, विषय, पाठन-विधि आदि पर विचार-विमर्श होता था। यद्यपि आश्रमवासी गाधीजी के शिक्षा-सम्बन्धी सभी विचारो से सहमत नही थे फिर भी विचारो के आदान-प्रदान से गाधीजी के शिक्षा-सबधी विचार दृढ होते चले गये।

गाधीजी भारत के राजनीतिक कार्यो मे क्रमश व्यस्त होते गये। गोखले की मृत्यु के कारण उनके ऊपर राजनीति के सचालन का विशेष उत्तरदायित्व आ पडा, अत उन्होने राजनीति की बागडोर अपने हाथो मे ली। फिर भी, शिक्षा के सबध में वह सदैव सोच-विचार करते रहे। सन् १९२१ ई० मे उन्होने देश के सामने राष्ट्रीय शिक्षा के विषय में अपने विचारो को प्रकट किया जिसमे उन्होने वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति के दोषो को बताया और इस बात पर बल दिया कि शिक्षा को राष्ट्र की आवश्यकताओ तथा आदर्शो के अनुकूल होना चाहिए। उन्होने कहा कि भारत का हित आज विद्यालयो मे 'आत्मनिर्भर शिक्षा' पर अवलबित है। भिन्न-भिन्न समयो पर किये गये प्रयोगो के आधार पर उनके शिक्षा-विषयक विचारो को सन् १९३७ ई० मे वर्धा शिक्षा-योजना का रूप-प्राप्त हुआ।

स्वतन्त्रता संग्राम और गाधीजी—देश की स्वतत्रता के लिए किए गये आरभिक सत्याग्रह-आदोलनो में १९२०-२२ का असहयोग आदोलन और सन् १९३० ई० का नमक कानून-विरोधी आदोलन प्रसिद्ध है। खादी-प्रचार, हिंदू-मुस्लिम एकता, अछूतोद्धार आदि को उन्होने स्वतत्रता-सग्राम का अग बनाया और उन्हे रचनात्मक कार्य की सज्ञा प्रदान की। सन् १९३१ ई० मे सरकार को बाध्य होकर काँग्रेस से सधि करनी पडी जिसके कारण काग्रेस ने आदोलन स्थगित कर दिया और गाधीजी गोलमेज कान्फ्रेंस मे भाग

लेने के लिए लदन गये। लदन सम्मेलन में देश की समस्याओ पर कोई समझौता न हो सका। गाधीजी की इच्छा के विरुद्ध सरकार ने हरिजनो को पृथक् निर्वाचन का मताधिकार दे दिया। गाधीजी ने सरकार के इस कार्य के विरोध मे अनशन किया जिसके फलस्वरूप सरकार ने पृथक् मताधिकार को वापस ले लिया। सन् १६३४ ई० मे काग्रेस के बबई अधिवेशन के पश्चात् गाधीजी काग्रेस से पृथक् हो गये और काग्रेस से बाहर रहकर ही देश की सेवा करने का निर्णय किया। फिर भी, उन्होने काग्रेस के पथ-प्रदर्शन का कार्य सदैव किया।

काग्रेस से पृथक् होकर गाधीजी पूर्णतया अछूतोद्धार और ग्रामोद्योग के विकास मे लग गये। अत्यधिक परिश्रम के कारण उनका स्वास्थ्य गिर गया। सन् ११३५ ई० मे वह वर्धा के निकट सेगॉव मे एक ग्रामवासी की भाँति निवास करने लगे। सेगॉव का नाम बाद मे सेवाग्राम रख दिया गया। सन् १६३६ ई० की फरवरी मे काग्रेस ने असेबली का चुनाव लडा और देश के सात प्रातो मे मत्रिमडलो की स्थापना की। गाधीजी ने इन मत्रिमडलो को सदैव निर्देश दिया। उन्ही के सुझाव पर मद्य-निषेध, बुनियादी शिक्षा, जेल सुधार आदि कार्य हुए। सन् १६३६ ई० मे द्वितीय महायुद्ध के आरभ होने पर अग्रेजी सरकार ने युद्ध मे भारत के सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। अत मत्रिमडलो ने उसके विरोध मे त्याग-पत्र दे दिया और प्रातो का शासन गवर्नरो के अधिकार मे चला गया।

सन् १६४२ ई० मे गाधीजी ने अतिम स्वतत्रता आदोलन का सूत्रपात किया। ८ अगस्त, सन् १६४२ को बबई मे काग्रेस कार्यसमिति की बैठक हुई जिसमे 'भारत छोडो' आदोलन का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। सरकार ने आदोलन का दमन करने का निश्चय किया और ६ अगस्त के प्रात काल गाधीजी तथा कार्यसमिति के अन्य नेताओ को कैद कर लिया। इस गिरफ्तारी से देश मे भयकर उपद्रव शुरू हो गया। गाधीजी महादेव देसाई और कस्तूरबा के साथ आगाखा महल मे बद कर दिये गये। आगा खा महल मे ही गाधी जी के निजी सचिव महादेव देसाई और कुछ दिनो बाद कस्तूरबा का देहात हो गया। इन दोनो की मृत्यु से गाधीजी शोक मे डूब गये। बीमार होने के कारण सन् १६४४ ई० मे गाधीजी छोड दिये गये।

द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने पर सरकार ने भारत को स्वतत्रता देने का आयोजन किया। शिमला काफ्रेस की असफलता के पश्चात् कैबिनेट मिशन भारत आया। सन् १६४६ ई० के आरभ में केबिनेट मिशन के चार नेताओ ने 'भारत छोडने' की बात स्वीकार की। मुस्लिम लीग ने भी काग्रेस के साथ मत्रिमडल बनाना स्वीकार कर लिया, किंतु अत मे वह अपनी बात से हट गयी और जिन्ना ने 'सीधी कार्रवाई' की घोषणा कर दी। देश के विभाजन के आधार पर अग्रेजी सरकार ने १५ अगस्त सन् १६४७ ई० को

देश की स्वतत्रता की घोषणा कर दी। इसके बाद गाधीजी ने हिंदू-मुस्लिम दगो को रोकने के लिए नोग्राखाली की यात्रा की और वहाँ शान्ति स्थापित करके दिल्ली चले आये।

महाप्रयाण—दिल्ली मे शाति स्थापित करने के विचार से गाधीजी प्रतिदिन प्रार्थना-सभा मे प्रवचन करते और लोगो को देश मे शाति स्थापित करने का सदेशा देते। किंतु देश का वातावरण क्षुब्ध हो गया था। साप्रदायिक भावना उफान पर थी। ऐसी दशा में ३० जनवरी सन् १६४८ ई० को सायकाल बिडला मदिर के पीछे के मैदान मे प्रार्थना के लिए जाते समय नाथूराम गोडसे नामक एक युवक ने गोली चला कर, मानवता के पुजारी गाधीजी का पार्थिव जीवन समाप्त कर दिया।

जीवन-दर्शन

गाधीजी के विचारो को एक व्यवस्थित रूप देने मे कठिनाई का अनुभव होता है क्योकि उन्होने दार्शनिक सिद्धातो पर एक तत्वदर्शी की भाँति कभी प्रकाश नही डाला, परतु अपने दैनिक जीवन की व्यावहारिक समस्याओ के सबध मे उनकी ओर इगित किया है। यह क्रम सभवत उन्होने इसलिए अपनाया कि वह केवल सिद्धात की दृष्टि से धर्म और नीति-सबधी दर्शन का प्रतिपादन नही करना चाहते थे। उनका दर्शन व्यावहारिक है और व्यवहार मे ही उसकी उचित अभिव्यक्ति सभव है। इसके अतिरिक्त, दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उनका यह व्यावहारिक दर्शन केवल तात्विक सत्यो के आधार पर निर्धारित नही है, वरन् स्वय उनके व्यावहारिक जीवन मे प्रयोग के आधार पर विकसित हुआ है। अत गाधीजी अपने व्यावहारिक दर्शन को एक धार्मिक या नैतिक सहिता के रूप मे नही, केवल सत्य के सबध मे अपने द्वारा किए हुए प्रयोगो की एक शृ खला के रूप मे ससार के सामने रखना चाहते थे। एक वैज्ञानिक की भाँति वह अपने प्रयोगो के परिणामो को अतिम या सपूर्ण सत्य मानने का दावा नही करते थे। गाधी जी का जीवन ही उनका दर्शन है।

आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने 'अहिसा' का उपदेश किया था। आज उसी शाश्वत सिद्धात का गाधीजी ने न केवल समर्थन किया है और हमे उसकी शिक्षा दी है, वरन् व्यवहार मे भी उसका प्रयोग किया है। अत वह सच्चे अर्थों मे मुक्तिमार्ग के पथिक है। उनकी महानता की प्रथम विशेषता इसी मे है कि उन्होने अपने विचार और व्यवहार मे एकरूपता की स्थापना की। उन्होने अपने प्रत्येक विचार का सूक्ष्म निरीक्षण किया, उसे जाँचा और उसे आत्मसात् किया। उन्होने अपने प्रत्येक विचार को जीवन के साथ सबद्ध किया एव व्यवहार्य बनाया। उनकी महानता की दूसरी विशेषता इस बात मे है कि उन्हे अपनी इच्छा-शक्ति पर नियत्रण तो था ही, वह दूसरो की इच्छा-शक्ति पर भी नियत्रण रखते थे। यही कारण है कि वह मानव-जाति के जन्मजात नेता बन सके।

गाधीजी ने कभी यह दावा नही किया कि उन्हे सत्ता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त है और

न उन्होने कभी ईश्वर के अस्तित्व, सृष्टि, विकास या मूल्यो की प्रामाणिकता-सबधी तात्विक समस्याओ मे ही विशेष रुचि ली। वह एक नि.सग व्यक्ति की भाँति जीवन व्यतीत करना चाहते थे। उन्होने जीवन की शाश्वत समस्याओ का समाधान हिंदू दृष्टि-कोण से किया है। हिंदू धर्मशास्त्रो ने उनमे सत्ता के विषय मे निश्चित विश्वास उत्पन्न किये। यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि उन्होने हिंदू धर्मशास्त्रो—वेद, उपनिषद्, गीता और पुराण—की मान्यताओ को वही तक स्वीकार किया जहाँ तक वे उन्हे तर्कसगत जान पडे। इस दृष्टि से वह रूढिवादी और अरूढिवादी दोनो कहे जा सकते है। उन्होने हिंदू-धर्म और प्राचीन भारतीय दर्शन के अतिरिक्त अन्य धर्मो और दर्शनो की उन बातों को भी स्वीकार किया जिन्हे उन्होने तर्कसगत एव नैतिक समझा।

गाधीजी जन्म से हिंदू थे और उन्होने अपने अध्ययन और अनुभव के आधार पर जीवनपर्यंत हिंदू-धर्म की, उसके विशाल दृष्टिकोण की सराहना की। उनका कहना है कि जितने धर्मो को मै जान सका हूँ उन सब मे यह सबसे अधिक सहिष्णु धर्म है। इसकी अधविश्वास-विहीनता ने मुझे अपनी ओर आकृष्ट किया है और यह अपने अनुयायी को आत्माभिव्यक्ति का पूरा अवसर प्रदान करता है। यह धर्म 'निषेधक धर्म' नही है, यह अपने अनुयायियो को दूसरे धर्मों का सम्मान करने मे ही समर्थ नही बनाता, वरन् अन्य धर्मों की अच्छी बातो की सराहना करने और उन्हे आत्मसात् करने का परामर्श देता है। अहिंसा का महत्त्व सभी धर्मों मे है, किंतु हिंदू धर्म मे इसकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति और कार्यान्वय हुआ है। (मै जैन और बौद्ध धर्मों को हिंदू धर्म से पृथक् नही मानता हूँ।) हिन्दू-धर्म केवल मानव-जीवन की ही एकता मे विश्वास नही करता वरन् प्राणि-मात्र के जीवन की एकता मे आस्था रखता है। हिंदू धर्म मे गो-पूजा का जो विधान है वह मेरे विचार से मानवतावाद के विकास मे एक महत्त्वपूर्ण देन है। एकता मे विश्वास करने का यह एक व्यावहारिक प्रयोग है और इसी कारण यह सभी जीवो के प्रति पवि-त्रता की भावना रखता है। इसी विश्वास का प्रत्यक्ष परिणाम है पुनर्जन्म मे विश्वास। अतत. वर्णाश्रम धर्म की खोज सत्य के प्रति निरतर प्रयत्नशील होने का महान परिणाम है।†

हमने देखा कि यद्यपि गाधीजी के विचारो को दर्शन की दृष्टि से एक क्रमबद्ध रूप देने मे कठिनाई पडती है, फिर भी उनकी शिक्षाओ एव विचारो की हम एक रूपरेखा निर्धारित कर सकते है।

सत्य ही ईश्वर है

गाधीजी ने 'सत्ता' के स्वरूप को 'सत्य' के रूप मे जाना और अनुभव किया। उनके विचार मे 'सत्य' ही 'ईश्वर' है। 'सत्य' शब्द सत् से बना है जिसका अर्थ है अस्तित्व। सत्य के बिना अन्य किसी वस्तु का अस्तित्व ही नही है। इसके अतिरिक्त

† 'Christian Mission', p. 36

'सत्' एव 'सत्य' शब्द ही ईश्वर का सच्चा नाम है। ईश्वर को सच्चिदानद भी कहा गया है जिसका तात्पर्य है कि ईश्वर सत्, चित् और आनद स्वरूप है। सत अथवा सत्य के साथ शुद्ध ज्ञान का होना आवश्यक है, क्योकि जहाँ सत्य नही वहाँ शुद्ध ज्ञान की सभावना भी नही है। अत ईश्वर के नाम के साथ 'चित्' अर्थात् ज्ञान शब्द भी सयुक्त किया गया है। जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनद ही आनद होगा, शोक नही क्योकि सत्य शाश्वत है इसलिए आनद भी शाश्वत होता है। अत ईश्वर का 'सत्य' नाम ही उसका पूरा अर्थ प्रकट करता है। सत्य ही जीवन है। जब हम अपने भीतर सत्य को प्रतिष्ठित करते है तब जीवनी शक्ति और आनद का अनुभव करते है। यह वह शाश्वत तथ्य है जिसे कोई भी हमसे छीन नही सकता। हमे फाँसी पर भी क्यो न चढाया जाय, यदि सत्य हमारे हृदय मे है तो उसमें भी हमे आतरिक आनद का अनुभव होगा।

प्रश्न यह उठता है कि गाधीजी इस निष्कर्ष पर कैसे पहुँचे कि सत्य ही ईश्वर है? वह इस निष्कर्ष पर तर्क द्वारा नही, वरन् तात्कालिक सहजज्ञान द्वारा पहुँचे। गाधीजी बहुत कुछ अशो मे देकार्त्ते की भाँति सत्य का प्रारभिक आधार सहजज्ञान मानते है। पर यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि देकार्ते की भाँति गाधीजी का दृष्टिकोण एक तत्वदर्शी का दृष्टिकोण नही, वरन् धार्मिक और नैतिक है। अपनी धार्मिक आस्था, अत प्रेरणा एव सहजज्ञान द्वारा उन्होने कुछ मुख्य सत्यो का अनुभव किया और चिंतन एव मनन द्वारा उन सत्यो से जीवन-सबधी अनेक निष्कर्ष निकाले, अत अपनी विचारणा मे उन्होने तर्क को स्थान दिया है, किंतु उसे सहजज्ञान का अनुवर्ती माना है। उनका यह सहजज्ञान युक्तियुक्त है, यद्यपि वह बुद्धि द्वारा प्राप्त नही। बुद्धि इस ज्ञान की प्रामाणिकता का खडन नही कर सकती क्योकि वह तो स्वय इसी पर अवलबित है। सहजज्ञान अथवा अत प्रेरणा तथा तर्क मे उचित सबध यह है कि 'अत प्रेरणा वृक्ष है और युक्ति उसका पुष्प।' सत्य की अनुभूति मे गाधीजी ने अत प्रेरणा को एक आवश्यक अग माना है।

एक आदर्शवादी की भाँति गाधीजी का विश्वास है कि सत्य स्थिर और अपरिवर्तनीय है। सत्य एक है, परतु वह अपने को नाना रूपो में व्यक्त करता है। उनका कहना है कि सीमाबद्ध मानव प्राणी सत्य और प्रेम को उसके पूर्ण रूप मे नही जान सकेगा। परतु कोई भी मनुष्य इस सत्य के स्वरूप को स्पष्ट से स्पष्टतर रूप में ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्य की अनुभूति के कई स्तर है, अत गाधीजी के दर्शन मे सत्य तो स्थिर है, परतु उसके ज्ञान का स्वरूप परिवर्त्तनशील है। प्रयोजनवादी दर्शन से भिन्न गाधीजी का सत्य व्यक्तिगत विचारो और धारणाओ के अधीन नही है। सत्य के स्वरूप मे कभी परिवर्त्तन नही होता है।

गाधी जी के विचार में सत्य, परम सत्ता है, जगत् का प्रथम कारण है। वह स्वय में विधान और विधायक दोनो है। सासारिक राजा और उसके विधान पृथक्-

पृथक् होते है, उसके विपरीत ईश्वर और उसके विधान पृथक्-पृथक् नही है। सत्य या ईश्वर विधानो अथवा नियमो की एक पूर्ण व्यवस्थित इकाई है। विधानो मे ईश्वरीयता सलग्न है। ईश्वर को नियमो के रूप मे देखने का अर्थ है कि गाँधीजी ईश्वर को निर्वैयक्तिक या निराकार मानते है। इस सबध मे उनका कहना है कि, "मै इस अर्थ मे सगुण ईश्वर मे विश्वास नही करता जिस रूप मे हम लोग व्यक्ति रूप प्राणी है। मै ईश्वर को 'विश्व-विधान' के रूप मे देखता हूँ। जो भी हो, ईश्वर का उसके पूर्ण रूप मे वर्णन नही किया जा सकता। हम मानव-प्राणी अपने शब्दो मे उसका वर्णन करते है। ईश्वर विधान और विधायक दोनो है, दोनो एक ही है। बौद्ध धर्म मे ईश्वर का वर्णन विधान रूप मे हुआ है। बहुत-से लोगो का कहना है कि बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी है, किंतु मैंने कभी भी ऐसा नही सोचा है।"†

यद्यपि गाँधीजी यह स्वीकार करते है कि ईश्वर का पूर्ण वर्णन नही किया जा सकता है फिर भी उन्होने विभिन्न प्रकार से उसका वर्णन किया है। 'मेरे लिए ईश्वर सत्य और प्रेम है, नीति-शास्त्र और नैतिकता है, ईश्वर अभयत्व है। ईश्वर ज्योति-स्रोत है फिर भी वह इन सबसे ऊपर और परे है। ईश्वर अतरात्मा है। वह उन लोगो के लिए सगुण है जिन्हे उसकी आवश्यकता सगुण रूप मे है। वह उन लोगो के लिए सदेह है जो उसका स्पर्श चाहते है। वह परम शुद्ध सारतत्व है। जो उसमे श्रद्धा रखते है उनके लिए ईश्वर है। वह सभी मनुष्यो के लिए सब कुछ है। वह हमारे भीतर है फिर भी हमसे परे है।' गाधीजी मूर्त्तिपूजा मे भी अश्रद्धा नही रखते। इस प्रकार हम देखते है कि गाधीजी ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनो रूपो मे देखते है किंतु शकराचार्य से भिन्न (जो परमात्मा के लिए ब्रह्म और ईश्वर दो शब्दो का प्रयोग करते है, ब्रह्म का प्रयोग ऊँचे अर्थ मे और ईश्वर का निम्न अर्थ मे) गाधीजी रामानुज की भाँति, ब्रह्म और ईश्वर दोनो के लिए एक ही शब्द "ईश्वर' का प्रयोग करते है।

गाधीजी ने परमसत्ता का बोध सत्य के रूप मे किया। उनका कहना है कि ईश्वर की अनुभूति सत्य अथवा अतरात्मा के माध्यम से होती है। 'जब कभी भी हमारे मुँह से एक सत्य शब्द निकलता है, जब कभी भी हम एक 'सत्' कार्य करते है, जब कभी भी हमारे मन मे सच्चा भाव उत्पन्न होता है तब हम ईश्वर के अस्तित्व का अनुभव करते है।' इस प्रकार देखने से ज्ञात होता है कि सत्य साध्य और साधन दोनो ही है। वास्तविकता यह है कि गाधीजी ने 'सत्य' शब्द का प्रयोग चार अर्थों में किया है—प्रथम दो अर्थ साध्य के रूप मे—(१) सत्य परमसत्ता, ब्रह्म या ईश्वर है, (२) सत्य परमज्ञान है, अत शाश्वत आनद है जैसा कि सच्चिदानद की उपर्युक्त व्याख्या मे हमने देखा, अतिम दो अर्थ साधन के रूप मे—(३) सत्य बोलना, सत्य-चिंतन करना, अर्थात् 'मन और वचन मे सत्यता', (४) न्यायपरायणता अर्थात् 'कर्म मे सत्यता।' कर्म मे सत्यता के

† Gandhi. 'Unseen Power', p 42

अतर्गत सभी नैतिक नियमो का समावेश है और गाधीजी ने इसे 'सत्य का विधान' कहा है। अत गाधीजी धार्मिक और नैतिक दृष्टि से जब भी सत्य की प्राप्ति की चर्चा करते है तो उसमे सत्य के ये चारो अर्थ समाविष्ट रहते है।

अब प्रश्न यह उठता है कि गाधीजी साध्य और साधन दोनो के लिए 'सत्य' शब्द का ही प्रयोग क्यो करते है ? इसका उत्तर यह है कि गाधीजी दोनो को एक ही नाम से इसलिए पुकारते है कि वह दोनो को एक ही मानते है। साध्य और साधन को समान मानना गाधीजी के नैतिक सिद्धातो का केन्द्रीभूत तथ्य है और इस तथ्य का आधार है उनका तत्वज्ञान की दृष्टि से ईश्वर-सबधी विचार। प्रो० धीरेन्द्र मोहनदत्त ने इस विचार को यो स्पष्ट किया है, 'ईश्वर उनके लिए एक सर्वव्यापक सत्ता है, जो मनुष्य और विश्व मे भी अतस्थ है। उनके विचार मे यह विश्व उसी की अभिव्यक्ति और सृष्टि है। परतु एक साधारण सर्वेश्वरवादी से भिन्न, उनका यह भी विश्वास था कि ईश्वर इस विश्व मे अतस्थ और उससे परे भी है। सृष्टि मे उसकी सपूर्ण अभिव्यक्ति उसी प्रकार नही हुई है जिस प्रकार एक कवि की उसकी कविताओ मे।' इस कथन से हम यह निष्कर्ष निकालते है कि सत्य प्रकृति और मनुष्य की वास्तविक प्रकृति मे अभिव्यक्त एव निहित होने के साथ-साथ उससे परे भी है। अत जब मनुष्य सत्य और न्यायपरायणता (जो कि उसकी वास्तविक प्रकृति है) का पालन करता है तो वह सत्य के परस्थ स्वरूप को प्राप्त करने के साथ-साथ अपनी प्रकृति मे निहित अथवा अतस्थ सत्य की अभिव्यक्ति करता है। इस दृष्टि से साधन (अपनी वास्तविक प्रकृति का अभिव्यक्तकिरण) स्वय साध्य बन जाता है। यही कारण है कि गाधीजी साध्य और साधन के लिए एक ही शब्द प्रयोग करते है। अत गाधीजी के दर्शन मे साध्य और साधन मे एकरूपता है। जब साध्य सत्य है तब उसकी प्राप्ति के साधन भी सत्य, शुद्ध और नैतिक होने चाहिए। उन्होने कहा है, 'मेरे दर्शन मे साध्य और साधन एक दूसरे का स्थान ले सकते है।' 'सत्य' शब्द गाधीजी के दर्शन मे अत्यत महत्त्वपूर्ण है। उन्होने ईश्वर के सत्य स्वरूप के अतिरिक्त उसके अन्य दो रूप—शिव और सुदरम् को सत्य के ही उप-सिद्धात माना है। उनके लिए शिव और सुदर सत्य मे ही निहित है। नीति-शास्त्र और सौदर्य-शास्त्र का वास्तविक अस्तित्व 'सत्य' के अतर्गत रहने मे ही है।

सत्य की प्राप्ति का साधन : अहिंसा

सत्य को कैसे प्राप्त किया जाय ? वास्तविकता यह है कि सत्य की प्राप्ति एक अत्यत कठिन कार्य है। जो निरतर सत्य की साधना मे रत रहते है वह भी सत्य का केवल आशिक दर्शन कर पाते है। गाधीजी का विचार है कि 'जब तक हम शरीर-रूपी पिंजडे मे बदी है तब तक पूर्ण सत्य की उपलब्धि असभव है।' सत्य की प्राप्ति मे मुख्य बाधा है, मनुष्य का शरीर के प्रति मोह। मोहवश अपनी इच्छाओ और सवेगो के वशीभूत, फलत कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक से शून्य, वह अपनी

धुधली दृष्टि से 'सत्य' को देखने मे असमर्थ रहता है। शरीरजन्य बुराइयो से बचने के लिए मनुष्य को एक ऐसो शक्ति की आवश्यकता है जो उसे धीरे-धीरे इनके बधन से छुटकारा दिला सके और यह शक्ति है 'अहिंसा'। यह शक्ति कोई बाहरी शक्ति नही है, वरन् मनुष्य के अदर ही है। गाधीजी का कहना है, 'ईश्वर बादलो मे निवास करने वाली शक्ति नही है। ईश्वर वह अगोचर शक्ति है जो हमारे भीतर है और जैसे उँगलियो के नाखून और मास मे सबध है उससे भी अधिक हमारे निकट है। हममे से प्रत्येक के भीतर ईश्वर का निवास है, अत हमे प्रत्येक मानव-प्राणी मे उसके रूप को पहचानना होगा। इसी को विज्ञान की भाषा मे आकर्षण तथा लोकप्रिय भाषा मे प्रेम कहते है। ईश्वर की प्राप्ति प्रत्येक प्राणी मे को जा सकता है चाहे वह मनुष्य हो या अर्द्ध मानव। उसका दर्शन हम प्रत्येक पदार्थ मे कर सकते है चाहे वह स्थूल हो या सूक्ष्म। गाधीजी की यह सर्वेश्वरवाद की प्रवृत्ति उनके वैष्णव मत का प्रत्यक्ष परिणाम है। वासुदेव सर्वमिद—वैष्णव सभी वस्तुओ को वासुदेव रूप मे देखना है। सब प्राणियो मे ईश्वर को देखना अथवा एकता की अनुभूति ही विश्वबधुत्व अथवा 'वसुधैव कुटुम्बक' की भावना को उत्पन्न करती है। यह विश्व-प्रेम अथवा मानव-प्रेम, यह एकात्मीयता ही अहिंसा है। अहिंसा का क्रियात्मक रूप है मानवता की सेवा। 'सपूर्ण मानवता की सेवा मे ही ईश्वर की उपलब्धि है।' सत्य को प्राप्त करने के लिए अहिसा ही एक अद्वितीय साधन है।

मनुष्य को अहिंसा मे अपना विश्वास दृढ करने तथा उसे क्रियात्मक रूप देने के लिए आवश्यक है कि वह इस विश्व मे निहित एकता को पहचाने। गाधीजी अद्वैत मे विश्वास करते है। विश्व की विविधता एकता के सूत्र मे बँधी हुई है और एकता का कारण है सब मे ईश्वर का व्याप्त होना। मनुष्य अपने अज्ञानवश द्वैत का अनुभव करता है। सभी प्राणियो मे एकता व्याप्त है। उनके रूप अनेक है, किन्तु उनका स्रष्टा एक है। उन्होने कहा है 'मै मनुष्य की सत्तात्मक एकता मे विश्वास करता हूँ और यही सब जीवधारियो के विषय मे है।' एकता को यह धारणा हमारे भीतर अहिसा को गतिशील रखेगी। गाधीजी के विचार मे सत्य और अहिंसा एक दूसरे के पूरक है। सत्य का व्यावहारिक रूप ही अहिंसा है।

सत्याग्रह

सत्य का साधक 'अहिंसा' की साधना द्वारा अपने पथ पर आगे बढ सकता है और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से दूसरे लोगो को भी अपने मार्ग पर लाकर उन्हे अपना सहगामी बना सकता है। गाधीजी का अहिंसा की शक्ति मे इतना विश्वास था कि इन्होने इसे केवल व्यक्तिगत सुधार का ही साधन नही माना, वरन् सामाजिक अन्याय के प्रति लडने, राजनीतिक स्वतत्रता प्राप्त करने, नियम-व्यवस्था बनाये रखने तथा बाहरी आक्रमण से अपने देश को बचाने का भी साधन माना है।

किसी भी प्रकार की बुराई के प्रति अहिंसात्मक ढग से प्रतिरोध करना 'सत्याग्रह'

है। सत्याग्रह का शाब्दिक अर्थ है, सत्य के प्रति आग्रह, सत्य जो शाश्वत एव सत् है उसके प्रति आग्रह 'सत्याग्रह' है। 'सत्याग्रह आत्म-शुद्धि की लडाई ह, वह धार्मिक लडाई है।' इसमे प्रेम के आधार पर शत्रु के मन पर विजय प्राप्त करना है, उसे सत्य के प्रति जागरूक करना है, उसे उसके कर्त्तव्य का बोध कराकर उसकी आत्मोन्नति करना है। दूसरे शब्दो मे, पशुबल का प्रतिरोध पशुबल से नही अपितु आत्मबल से करना है। सत्याग्रह का आधार प्रेम है। अत सत्याग्रही अत्याचारी के अत्याचारो से घृणा करता है, स्वय अत्याचारी से नही। वह अन्याय और अत्याचार के निराकरण के लिए स्वय दु ख सहन करता है और विपक्षी को किसी प्रकार की पीडा नही देता। सत्याग्रही अनैतिकता और अधर्म को न स्वय सहन करता है और न दूसरो को करते हुए देख सकता है।

गाँधीजी ने अपने जीवन मे अहिसा के महत्त्व का अनुभव किया था। उनका कहना है कि बुराई हमारे भीतर भी है और बाहर भी। आतरिक बुराइयाँ—भय, क्रोध, वासना, द्वेष, मोह आदि—बाहरी बुराइयो से अधिक घातक है। बाहरी बुराइयो को आतरिक बुराइयो (घृणा, क्रोध, द्वेष) के आधार पर जीतने से मनुष्य का आध्यात्मिक विकास रुक जाता है। व्यक्ति के अन्दर जितनी मात्रा मे आन्तरिक बुराइयाँ घर कर लेती है उसी मात्रा मे वह सत्य से दूर हो जाता है। अत बुराई का प्रतिकार बुराई से नही, वरन् भलाई से ही किया जा सकता है। सर्वप्रथम भारतीय और चीनी दार्शनिको ने यह विचार किया था कि बुराई की औषधि भलाई ही है। वेद और उपनिषद् यह घोषणा करते है कि अतत बुराई पर भलाई की विजय होती है। जब ईसाई धर्म इस बात पर बल देकर कहता है कि उदार प्रेम हिसक मनुष्य को जीत लेता है तब वह प्राच्य ज्ञान के निकट आ जाता है। हिसा की क्रोधाग्नि अहिसा द्वारा ही शात की जा सकती है। आतरिक बुराइयो पर भी नैतिक गुणो द्वारा ही विजय प्राप्त की जा सकती है। नैतिक साहस, प्रेम और मानवता अहिसा को प्रोत्साहन देते है और अहिसा के पथ पर चलकर ही व्यक्ति सत्य के दर्शन कर सकता है। गीता ने सत्याग्रह मे गाधीजी के विश्वास को और गहरा बना दिया।

गाधीजी के दर्शन मे 'सत्याग्रह' शब्द बडा सारगर्भित है। ईश्वर मे दृढ विश्वास के बिना सत्याग्रही सफल नही हो सकता। अहिसा मे उसकी पूर्ण श्रद्धा होनी आवश्यक है, पर अहिसा का पालन करते हुए भी जब तक उसे ईश्वर की कृपा प्राप्त नही होगी तब तक वह किसी कार्य मे सफल नही हो सकता। बिना ईश्वर की अनुकपा के उसमे यह भी साहस नही हो सकता है कि वह बिना क्रोध, भय और प्रतिकार की भावना से मर भी सके। पर क्या बौद्ध या भौतिकवादी, जो ईश्वर मे विश्वास नही करते, वह भी सत्याग्रही हो सकते है? हाँ। यह कैसे सभव है? वास्तविकता यह है कि ईश्वर से गाधीजी का तात्पर्य सदा किसी पूर्ण पुरुष से नही है, वरन् उनका कथन है कि नैतिक

व्यवस्था, आध्यात्मिक व्यवस्था या सत्य चाहे वह अन्य किसी भी रूप मे क्यो न हो, परमसत्ता या ईश्वर ही है। हम यह देख चुके है कि गाधीजी के विचार मे सत्य ही ईश्वर है। आरभ मे गाधोजी कहा करते थे कि ईश्वर सत्य है, किंतु बाद मे वह यह कहने लगे कि सत्य ही ईश्वर है। अपनी इस धारणा मे परिवर्त्तन करके गाधीजी ने सरलतापूवक उन लोगो को भी अपना लिया जो मानवता या अन्य किसी वस्तु को ईश्वर के रूप मे मानते थे और जिसके लिए वे अपना सर्वस्व त्याग करने को भी उद्यत रहते थे।

यहाँ पर सत्याग्रह के सबध मे फैले हुए दो भ्रात विचारो का निराकरण कर लेना आवश्यक है। सत्याग्रह का अर्थ है सभी प्रकार की बुराइयो मे असहयोग। अत यह निषेधात्मक आदर्श नही है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर को गाधीजी के असहयोग आदोलन के विषय मे एक बार इसी प्रकार का भ्रम हो गया था। किंतु गाधोजी ने सदैव कहा कि बुराइयो से असहयोग का अर्थ है अच्छाई के साथ सहयोग। जो सत्याग्रही सामान्य हित के लिए युद्ध कर रहे है उनमे आपस मे सहयोग की भावना अवश्य होनी चाहिए। फिर, एक सत्याग्रही अपने विरोधी के सद्गुणो के साथ सदा सहयोग करता है। अत सत्याग्रह एक विधायक आदर्श है। दूसरे, हमे यह भ्रम नही होना चाहिए कि सत्याग्रह कायरो का अस्त्र है। उन्होने 'यग इडिया' मे 'द डाक्ट्रिन ऑफ द सोर्ड' शीर्षक के अतर्गत लिखा है कि "मेरा विश्वास है कि यदि मुझे कायरता और हिसा दोनो मे से किसी एक को चुनना पडे तो मै हिसा को ही चुनने की राय दूगा, किंतु मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से असख्य-गुना श्रेष्ठ है। क्षमा एक सैनिक का गुण है।"† 'हरिजन' मे उन्होने लिखा था कि "हिसा नपुसकता से कही श्रेयस्कर है। एक हिसक व्यक्ति से अहिंसक बन जाने की आशा रहती है, किन्तु नपुसक व्यक्ति के अहिसक बनने की कोई आशा नही रहती"।‡ उपनिषद् यह घोषणा करते है कि शरीर और मन से शक्तिहीन कायर पुरुष कभी भी आत्मा की प्राप्ति नही कर सकता है। सत्य की उपलब्धि केवल वीर पुरुष कर सकते है। नैतिक दृष्टि से सत्याग्रही वीर होता है।

सत्याग्रह मे कठोर आत्मानुशासन की आवश्यकता होती है। बिना आत्मानुशासन के व्यक्ति अपने को सुसस्कृत नही बना सकता अथवा आत्मसस्कृति नही प्राप्त कर सकता। आत्मसस्कृति से तात्पर्य है नैतिक गुणो—आज्ञापालन, आत्मसम्मान, आत्मावलबन, आत्मत्याग आदि—का अर्जन करना। एक सैनिक के लिए भी नैतिक चरित्र आवश्यक है, किंतु सैनिक और सत्याग्रही मे यह अतर है कि सैनिक को केवल बाह्य अनुशासन की आवश्यकता पडती है, परतु सत्याग्रही को इस बाह्य अनुशासन के अतिरिक्त आत्मानुशासन की अधिक आवश्यकता पडती है। सैनिक बाहरी आज्ञा का पालन करता

† 'Young India', Aug 1, 1920

‡ 'Harijan', 1939

है, परतु सत्याग्रही अपनी अतरात्मा और अपने आदश का पालन करता है। वास्तव मे सबसे प्रेम करने, घृणा और क्रोध न करने और बिना दुर्भावना के पीडा सहने की आदत डालना सरल कार्य नही है। सत्याग्रही के लिए गभीर ध्यानमग्नता, प्रार्थना और जीवन के मूल्यो को आध्यात्मिक रूप देने की आवश्यकना है।

सत्याग्रही अथवा सत्य की आराधना करने वाले को कुछ व्रतो का पालन करना भो अनिवार्य है। गाधीजी को यह व्रत सबधी विचार जैन-धर्म से प्राप्त हुआ। परतु वह जैन-धर्म के व्रतो के यातना-पक्ष को नही मानते है। ये व्रत दो प्रकार के है—मुख्य और सहायक। मुख्य व्रत है—(१) सत्य, (२) अहिसा, (३) ब्रह्मचर्य, (४) स्वाद-सयम, (५) अस्तेय और (६) अपरिग्रह। अब हम इन को विस्तार मे देखेगे। गाधीजी का कहना है कि (१) सत्य को उनके विशाल अर्थ मे लेना चाहिए। सत्य का अर्थ केवल सच बोलना ही नही है। 'विचार मे, वाणी मे और आचार मे सत्य का होना ही सत्य है'।† हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक श्वास अर्थात् सपूर्ण अस्तित्व सत्य से ओतप्रोत रहना चाहिए। सत्य के पालन से अन्य नियमो का पालन सरल हो जाता है। सत्य के बिना किसी अन्य नियम का शुद्ध रूप मे पालन करना असभव है। हम देख चुके है कि सत्य मे सारा ज्ञान समाविष्ट है, अत 'उसमे जो न समाय वह सत्य नही है, ज्ञान नही है।' सत्य हमारे सब कार्य-कलापो की कसौटी है। (२) सत्य की भाँति ही अहिसा का अर्थ भी विशाल रूप मे ग्रहण करना चाहिए। अहिसा का अर्थ केवल इतना ही नही है कि किसी की हिसा न की जाय। बुरे विचारो को मन में लाना, उतावलापन, झूठ बोलना, द्वेष करना, किसी का बुरा चाहना आदि सब हिंसा है। अहिंसा के प्रति निष्ठा रखने वाला व्यक्ति अत्याचार का विरोध करेगा, किंतु अत्याचारी को हानि नही पहुँचायेगा। बिना अहिसा के सत्य की प्राप्ति सभव नही है। (३) ब्रह्मचर्य व्रत की आवश्यकता इसलिए है कि इसके बिना अहिसा की उपलब्धि पूर्ण रूप से नही हो सकती है। गाधीजी जिस प्रकार शरीर को जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति मे बाधक मानते है उसी प्रकार विवाह को भी, क्योकि विवाह जीवन के बधन को बनाये रखता है। किंतु साधारण जनो के लिए वह विवाह को मान्यता देते है। उन्होने विवाह को एक धार्मिक कृत्य माना है। वह सबको विषय-वासना से सावधान करते है। उनका कहना है कि स्त्री-पुरुष मे भोग-सबध तभी होना चाहिए जब वे सतान की कामना रखते हो, विषय-जन्य सुख के लिए सबध नही होना चाहिए। सन्तान-निरोध आधुनिक उपायो के प्रतिकूल उनका कहना है कि इसका सर्वोत्तम और उचित मार्ग है—आत्म-सयम। 'आत्मनिग्रह बनाम आत्मसतुष्टि' (**Self-restraint Vs Self-indulgence**) मे गाधीजी ने यह सिद्ध कर दिया है कि ब्रह्मचर्य से शारीरिक और मानसिक अवस्था को किसी प्रकार की हानि नही होती है। उनके विचार मे ब्रह्मचर्य को

† गांधीजी : 'धर्म-नीति', पृष्ठ ११८

विस्तृत अर्थ मे ग्रहण करना चाहिए। इस दृष्टि से 'सर्वेन्द्रिय-सयम अथवा विषय-मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है'। (४) स्वाद-सयम का नियम ब्रह्मचर्य के पालन मे सहायक है। सत्य के आराधक को अपनी रसना पर नियत्रण रखना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि भोजन केवल शरीर धारण करने मात्र के लिए आवश्यक है। (५) अस्तेय का केवल यही अर्थ नही है किसी की सपत्ति न चुराई जाय। सत्याग्रही को कोई भी ऐसी वस्तु अपने पास नही रखनी चाहिए जिसकी उसे नितात आवश्यकता न हो। उसे मानसिक चोरी—दूसरे के विचारो की चोरी अथवा मन मे किसी की चीज पाने की इच्छा नही करनी चाहिए। (६) अपरिग्रह, अस्तेय से ही सबधित है, जिस प्रकार सयाग्रही को काम से अधिक वस्तुएँ अपने पास नही रखनी चाहिए उसी प्रकार अपने मस्तिष्क मे निरर्थक विचार भी नही रखने चाहिए। अपवित्र, असत्य, अहकारपूर्ण विचार हमारी साधना के मार्ग मे बाधा डालते है और हमे मार्गभ्रष्ट करते है। अत जो विचार ईश्वर से विमुख करते हो उनका परित्याग करना चाहिए।

सहायक व्रत है—'स्वदेशी' तथा 'निर्भयता'। गाधीजी ने स्वदेशी की व्याख्या करते हुए कहा कि स्वदेशी हमारे भीतर वह भावना है जो हमे अपने आस-पास के वातावरण की वस्तुओ का प्रयोग तथा आस-पास रहने वालो की सेवा करने को बाध्य करती है। स्वदेशी सेवाव्रत से दूर वालो की सेवा नही होती, इस आलोचना के उत्तर मे गाधीजी का कहना है, 'स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने मे परदेशी की भी शुद्ध सेवा होती है। यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' इसके अतिरिक्त परदेशी की सेवा के मोह मे, वह तो हो ही नही पाती और पडोसी की सेवा भी नही हो पाती। इस प्रकार स्वदेशी व्रत का व्यावहारिक रूप यह होगा कि धर्म के क्षेत्र मे हमे पूर्वजो के धर्म तक ही सीमित रहना चाहिए। यदि हम देखते है कि हमारा धर्म त्रुटिपूर्ण है तो हमे उसका सुधार करके उसकी सेवा करनी चाहिए। राजनीति के क्षेत्र मे हमे देशी सस्थाओ का उपयोग करना चाहिए और उनके प्रमाणित दोषो को दूर करके उनकी सेवा करनी चाहिए। अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे हमे उन्ही वस्तुओ का उपयोग करना चाहिए जो हमारे पास-पडोसियो ने बनायी है और उन दस्तकारियो मे जो कमी हो उनको दूर करके उनकी सेवा करनी चाहिए। अतिम एव महत्त्वपूर्ण तथ्य 'निर्भयता' है। जो वास्तव मे निर्भय है वह अपनी आत्मशक्ति द्वारा सभी प्रकार के असत्यो से अपनी रक्षा कर सकेगा।

पूर्ण सत्याग्रह का प्रयोग शरीरधारी मनुष्य के लिए सभव नही। यह शरीर भी अहिंसा के आदर्श की प्राप्ति मे एक बाधा है। गाधीजी शरीर के रहते हुए पूर्णमुक्ति अथवा जीवनमुक्ति मे विश्वास नही करते थे क्योकि देहधारी आत्मा को शारीरिक सीमाओ मे किसी एक बिंदु तक अवश्यमेव रहना पडता है। अत जब मनुष्य इस शरीर

के रहते पूर्ण अहिसा का पालन नही कर सकता तो इस जीवन मे पूर्ण सत्यकी उपलब्धि भी सभव नही।

परम उद्देश्य : मुक्ति, साधन : कर्मयोग

हिंदू धर्म और दर्शन मे विश्वास करने के कारण गाधीजी ने जीवन का परम उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति माना है। मुक्ति से गाधीजी का सामान्य तात्पर्य है शरीर से आत्मा की मुक्ति। शरीर से मुक्त होकर आत्मा शाश्वत आनद का अनुभव करती है। गाधीजी मुक्ति के अतिम स्वरूप की चिंता कम करते है और इस जीवन पर विशेष ध्यान देते है कि किस प्रकार इस ससार मे सर्वोत्तम जीवन व्यतीत किया जा सकता है जो मुक्ति-पथ पर अग्रसर कर सके। अत उनकी शिक्षा का केन्द्र नीति-शास्त्र है, न कि दर्शन-शास्त्र। उनके विचार मे प्रत्येक मनुष्य को शुद्ध जीवन व्यतीत करना चाहिए। आत्म-शुद्धि या नैतिक गुणो के अर्जन द्वारा ही सच्चा ज्ञान मिलता है।

हम देख चुके है कि गाधीजी के लिए ईश्वर 'नैतिक विधान' है। 'वह स्वय मे विधान और विधायक दोनो ही हैं।' अत ईश्वरीय नैतिक विधान का पालन ही 'धर्म' है। गाधीवादी दर्शन मे धर्म नैतिकता के बराबर है। पवित्र जीवन या नैतिक जीवन व्यतीत करना ही धर्म का सर्वोत्तम रूप है। भारतीय परपरा के सर्वथा अनुकूल गाधीजी धर्म को सकीर्ण रूप मे नही, वरन् 'सृष्टि के व्यवस्थित नैतिक विधान' के रूप मे ग्रहण करते है। अत प्रत्येक व्यक्ति को अपने आत्मोत्थान के लिए उत्तम नैतिक जीवन व्यतीत करना चाहिए।

उत्तम नैतिक जीवन से गाधीजी का तात्पर्य उस जीवन से नही है जिसे लोक-समाज से पृथक् रहकर तपस्या के साथ बिताया जाता है और जिसे सन्यास की सज्ञा प्रदान की जाती है। गाधीजी की नैतिकता का स्वरूप गीता पर आधारित है। वह गीता के नैतिक सिद्धात के मध्यबिंदु—कर्मफल त्याग एव निष्काम कर्म—मे आस्था रखते है। कर्मफल-का त्याग देहधारी के लिए असभव है। यदि कर्म के द्वारा व्यक्ति मे क्रोध, घृणा, लोभ, मोह और स्वार्थपूर्ण इच्छाएँ उत्पन्न होती है, जो उसके आध्यात्मिक विकास मे बाधक है, तो कर्म के इस दोष से बचने के लिए कर्म-सन्यास की आवश्यकता नही है। इस दोष से मुक्ति का उपाय है फलेच्छा और आसक्ति से मुक्त होकर केवल कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर, लोककल्याणार्थ निष्काम कर्म करना। गाधीजी का कहना है, 'निषिद्ध केवल फलासक्ति है, विहित है अनासक्ति'† 'कर्म मात्र का त्याग गीता के सन्यास को भाता नही। गीता का सन्यासी अतिकर्मी है तथापि अति-अकर्मी है,' ‡ क्योकि वह

---

† गांधीजी · 'गीता माता', पृष्ठ ११२

‡ वही पृष्ठ १११

कर्मफल का त्याग करता है और यही सन्यास का सच्चा रूप है। अत गाधीजी प्रत्येक व्यक्ति के लिए सहयात्री प्राणियो के हित के लिए निष्काम कर्म मे विश्वास करते है। वह व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियो और इच्छाओ के दमन मे विश्वास नही करते, वह केवल उनको रूपातरित करना चाहते है। वह व्यक्ति की मूल प्रेरणाओ एव सवेगो को युक्ति एव अतर्प्रेरणा के अनुसार बनाना चाहते है। गाधीजी एक व्यक्ति को समाज के पुरस्कार या दड, प्रतिष्ठा या निरादर के कारण नैतिक बनाना नही चाहते। उनका कहना है कि मनुष्य के अपने अतस्तल मे जो नैतिक नियम स्थित है उसी के अनुसार उसे आचरण करना चाहिए। मानव-जीवन की पवित्रता और दिव्यता मे विश्वास करने के कारण वह उसके भीतर उठने वाले आतरिक नैतिक नियम की दिव्यता मे विश्वास करते है। अत' मनुष्य को अपनी वास्तविक, दिव्य स्वप्रकृति—दिव्य प्रेरणा—से प्रेरित होकर कम करने चाहिए। यह दिव्य प्रेरणा कर्त्तव्य की प्रेरणा ह। यह व्यक्ति के विवेक को जाग्रत करती है। इस प्रेरणा के द्वारा व्यक्ति अपनी आतरिक बुराइयो का निराकरण करके अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छाओ का उन्नयन एव दिव्यीकरण कर सकेगा। फलस्वरूप लोकहितार्थ कर्म द्वारा, विश्वकल्याण द्वारा अपनी आत्मा को ऊँचा उठाकर अपने इष्टमार्ग का सरलतापूर्वक अनुसरण कर सकेगा।

मनुष्य-जीवन के दो पक्ष

गाधीजी के अनुसार धर्म और नैतिकता से मनुष्य-जोवन का प्रत्येक क्षेत्र व्याप्त होना चाहिए। मनुष्य-जीवन का विभाजन दो पक्षो मे किया जा सकता है—निजी और सामाजिक। निजी पक्ष से तात्पर्य है व्यक्ति का अपना गुप्त जीवन। सामाजिक पक्ष का क्षेत्र विस्तृत होता है। उसमे परिवार, समाज और राज्य भी सम्मिलित होते है। यद्यपि जीवन का इन दो पक्षो मे विभाजन कर दिया गया है फिर भी दोनो अविभाज्य है। व्यक्ति को अपना निजी जीवन अहिंसा के आदर्श के अनुरूप व्यतीत करना चाहिए। उसे उन सभी व्रतो का पालन करना चाहिए जिनका हम पहले वर्णन कर चुके है। इसके अतिरिक्त गाधीजी चाहते हैं कि व्यक्ति एक सादा एव सरल जीवन व्यतीत करे। सरल जीवन व्यतीत करने का विचार गाधीजी ने रस्किन की प्रसिद्ध पुस्तक, 'अन्टु दिस लास्ट' से ग्रहण किया। यही विचार गाधीवादी नीति-शास्त्र का आधार है। सरल व्यक्तियो द्वारा सरल समाज की रचना हो सकती है जिसमे विलास की वस्तुओ के लिए प्रतियोगिता नही होगी। इस प्रकार सभी व्यक्ति शातिपूर्ण और समरस जीवन व्यतीत करेंगे। सरल जीवन-सबधी नीति-शास्त्र मे यह धारणा निहित है कि 'कोई भी व्यक्ति दूसरे के श्रम पर अपना जीवन व्यतीत न करे।' गाधीजी ने वर्ण-धर्म को स्वीकार किया है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका के लिए श्रम करना चाहिए। किन्तु जीविकार्जन के लिए केवल मानसिक श्रम ही पर्याप्त नही है। यह प्रश्न पूछे जाने पर कि क्यो नही

मानसिक श्रम करने वाले शरीरिक श्रम करने वालो के बराबर समझे जायँ, गाधीजी ने उत्तर दिया था, 'बौद्धिक कार्य बडा महत्त्वपूर्ण है और निस्सदेह उसका जीवन मे एक स्थान है, किंतु मै तो सबके लिए शारीरिक श्रम आवश्यक समझता हूँ। किसी भी व्यक्ति को इससे छुटकारा नही मिलना चाहिए। शारीरिक श्रम से मानसिक कार्य की क्षमता भी बढती है।"† गीता के अध्ययन ने गाधीजी का विश्वास कायिक श्रम मे और भी बढा दिया। उसके अनुसार 'यज्ञ किए बिना खाने वाला चोरी का अन्न खाता है, यह कठिन शाप अयज्ञ के लिए है।' गाधीजी का कहना है कि 'यहाँ यज्ञ का अर्थ कायिक श्रम या रोटी-श्रम ही शोभा देता है।'‡ सरल जीवन की दूसरी विशिष्ठता है कि यह एक प्रार्थनापूर्ण जीवन है। प्रत्येक व्यक्ति को हृदय से अत्यत नम्रतापूर्वक ईश्वर की प्रार्थना करनी चाहिए। यह प्रार्थना धन या दूसरे भौतिक पदार्थों के लिए नही करनी चाहिए, वरन् नैतिक शक्ति, सत्य-दर्शन और सच्चरित्रता के लिए करनी चाहिए। सरल जीवन स्वय ही एक प्रार्थना है।

व्यक्ति के जीवन के सामाजिक पक्ष को भी धर्म और नीति के अनुकूल होना चाहिए। अद्वैत मे विश्वास करने के कारण गाधीजी एक ही आत्मा को सब प्राणियो मे व्यक्त देखते है, अत वह समाज-सेवा मे विश्वास करते है। समाज-सेवा का क्षेत्र व्यापक होना चाहिए। उस क्षेत्र मे जीवन के विभिन्न विभाग सम्मिलित होने चाहिए। नैतिक धर्म के सामाजिक पक्ष मे कुछ जटिल समस्याएँ है जिनके निराकरण मे प्रत्येक व्यक्ति को दृढता-पूर्वक प्रयत्नशील रहना है। पहली समस्या है धनी और ग़रीब का सबध। इस समस्या के समाधान के लिए गाधीजी ने दो सूत्रो को सुझाव के रूप मे दिया है—प्रथम, सबकी भलाई मे ही व्यक्ति की भलाई है। द्वितीय, प्रत्येक पेशा सम्मानित है, नाई के कार्य का भी वही महत्त्व है जो वकील के कार्य का। गाधीजी धनी वर्ग को ख़त्म करने के पक्ष मे नही और न वह पूर्ण रूप से गरीब वर्ग के अस्तित्व को ही बनाए रखना चाहते है। खाना और कपडे पर सबका समान अधिकार है चाहे उनके पेशे एक दूसरे से भिन्न क्यो न हो। गाधीजी धनी वर्ग द्वारा धन के अर्जन के विरोधी नही, पर धनी वर्ग को 'तेनत्यक्तेन भुजीथा' के आदेश के पालन का परामर्श देते है। दूसरी समस्या है अस्पृश्यता-निवारण। गाधीजी कहते है कि यह दोष ससार भर मे किसी न किसी रूप मे अवश्य फैला हुआ है, पर भारत मे इसने धर्म का रूप ग्रहण कर लिया है। उनका विचार है, जब कि एक ही आत्मा सब मनुष्यो मे व्याप्त है तो कोई भी अस्पृश्य नही है, अत अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ है 'समस्त ससार के साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना।' तीसरी समस्या है विभिन्न धर्मों के प्रति समभाव रखना। गाधीजी के विचार मे, "सब धर्म ईश्वरदत्त हैं, पर

† N. K Bose : 'Studies in Gandhism' p. 87
‡ गांधीजी : धर्म और नीति', पृष्ठ १५३

मनुष्य-कल्पित होने के कारण मनुष्य द्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण है। ईश्वर-दत्त धर्म अगम्य है। सब अपनी-अपनी दृष्टि मे जब तक वह दृष्टि बनी है तब तक, सच्चे है। पर झूठा होना भी असभव नही है। इसीलिए हमे सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नही आती, बल्कि स्वधर्म-विषयक प्रेम अधा न रहकर ज्ञानमय हो जाता है, अधिक सात्विक, निर्मल बनता है। सब धर्मो के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्य चक्षु खुल सकते है।"†

चौथी समस्या का सबध सामाजिक सभ्यता मे यत्र के स्थान और कार्य से है। गाधीजी ने आधुनिक सभ्यता की इसलिए भर्त्सना की है क्यो कि उसके केन्द्र मे यत्र की प्रतिष्ठा है। अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' मे उन्होने आधुनिक सभ्यता को राक्षसी सभ्यता कहा है क्योकि इसमे मनुष्य यत्रो द्वारा कुचला जाता है। यत्रो ने मनुष्य के अगो को बेकार बना दिया और उसके दीर्घकालीन गुणो का विनाश कर दिया है। किंतु आगे चलकर उनके इस विचार मे कुछ परिवर्तन हुआ। उन्होने कहा कि आदर्श रूप मे तो मै यत्र का पूर्ण रूप से वहिष्कार करूँगा जैसे कि मै इस शरीर रूपी यत्र का भी जो कि पूर्ण सत्य या मुक्ति की प्राप्ति मे बाधक है। परतु शरीर की भाँति यत्र भी रहेगे क्योकि शरीर की भाँति वे भी आवश्यक है। गाधीजी यत्रो का विरोध नही करते, वरन् उसके अमानुषिक व्यवहार का वहिष्कार करते है। वह ऐसे सरल यत्रो के पक्ष मे है जो मनुष्य को उसकी मनुष्यता से दूर नही ले जाते। उनके विचार मे चरखा, सिलाई की मशीन आदि ऐसे ही यत्र है। ऐसे यत्र श्रम की बचत करते है और गाँवो मे रहने वाले बहुत से लोगो को बेकार नही बनाते। गाधीजी अपनी योजना मे ऐसे यत्रो को स्थान देते है। किंतु हानिप्रद और हानिरहित यत्रो मे भेद करना कठिन है। किसी भी यत्र को हानिप्रद या हानिरहित बनाया जा सकता है। यत्रो का हानिप्रद या हानिरहित होना प्रयोगकर्त्ता पर आश्रित है। ऐसी दशा मे सिलाई की मशीन भी शोषण का साधन बन सकती है और उससे हिसा उत्पन्न हो सकती है। यत्र न अच्छा है और न बुरा। इसका नैतिक मूल्य कुछ भी नहीं है। इसका अच्छा या बुरा होना उसके सचालक पर निर्भर है। फिर एक सरल यत्र के उत्पादन के लिए ही जटिल यंत्रो का निर्माण आवश्यक हो जाता है। अत एक बार यत्रो को प्रोत्साहन देने के पश्चात् उनकी हानियो से बचना सरल नही है।

इस प्रकार निजी और सामाजिक जीवन-सबधी सात्विक नियमो का पालन करके व्यक्ति अपना आत्मोत्थान कर सकता है। आत्मोत्थान द्वारा ही विश्वकल्याण सभव है। 'वैयक्तिक साधना सामूहिक विकास का एक आवश्यक अग है।' व्यक्ति को अपने चरम लक्ष्य—मुक्ति की प्राप्ति के लिए इसी साधना-मार्ग का अनुसरण करना अनिवार्य है।

---

† गांधीजी : 'धर्मनीति', पृष्ठ १५६

शिक्षा-दर्शन

गांधीजी का शिक्षा-दर्शन उनके जीवन-दर्शन के अनुरूप ही है। उनका जीवन-दर्शन कर्मयोग का पर्याय है। वह भारतीय परम्परा के सर्वथा अनुकूल जीवन के परम लक्ष्य—मुक्ति—में विश्वास रखते हैं और कर्मयोग की भावना द्वारा उसकी प्राप्ति पर बल देते हैं। योग का अर्थ है ईश्वर से संयुक्त होना। गीता का वचन है—'योग कर्मसु कौशलम्'—कर्म-कौशल से सहज ही ईश्वर की प्राप्ति होती है। गांधीजी के लिए सत्य ही ईश्वर है और अहिंसा कर्मयोग की साधना।

परम लक्ष्य : सत्य का बोध साधन : अहिंसा

गांधीजी ने ईश्वर को सत्य के रूप में ग्रहण किया है। अद्वैत में विश्वास करने के कारण वह ईश्वर की परमएकता में आस्था रखते हैं। उनके विचार में, इस सृष्टि के पीछे, ईश्वर ही परम सत्ता है, संसार भ्रम है, परिवर्तनशील है। परिवर्तनों के बीच परम सत्य अर्थात् ईश्वर ही एकमात्र स्थिरता है। गांधीजी के लिए सत्य के अतिरिक्त कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। 'ईश्वर सत्य है' कहने की अपेक्षा, 'सत्य ही ईश्वर है' कहना वह श्रेयस्कर समझते थे।

प्रश्न यह उठता है कि इस 'सत्य' की प्राप्ति किस प्रकार की जाय? अहिंसा, विश्व-प्रेम अथवा मानव-सेवा द्वारा। ईश्वर की एकता में आस्था रखने के कारण गांधीजी मानवता की एकता में भी विश्वास रखते हैं। 'हमारे शरीर, यदि अनेक हैं तो क्या हुआ, हमारी आत्मा तो एक है। सूर्य की किरणें अनेक हैं, किंतु उनका स्रोत, सूर्य तो एक है।' अतः क्योंकि एक ही आत्मा सब प्राणियों में समान रूप से व्याप्त है, इसलिए 'भेद-भाव मिथ्या है'। यही कारण है कि आत्मोत्थान के प्रयास के लिए उन्होंने मानव-सेवा को आवश्यक साधन माना है। उन्होंने स्वयं कहा है कि 'मेरा धर्म ईश्वर-सेवा है अतः मानवता की सेवा है।' मनुष्य का परम उद्देश्य ईश्वर-बोध है और उसके धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी प्रकार के कार्यकलाप जीवन के परम उद्देश्य, ईश्वर के साक्षात्कार की भावना से निर्देशित होने चाहिए। ईश्वर के साक्षात्कार, उसके दर्शन का मार्ग है मनुष्यमात्र की तात्कालिक सेवा, सम्पूर्ण सृष्टि में उसका दर्शन करना और उसकी बनायी हुई सृष्टि के साथ एकात्मता स्थापित करना। प्रत्येक व्यक्ति को भली भाँति यह समझ लेना चाहिए कि 'मैं संपूर्ण सृष्टि का एक अंग हूँ, मैं शेष मानवता से पृथक् रूप में उसे नहीं प्राप्त कर सकता हूँ।' गांधीजी के लिए 'ईश्वर न हिंदुओं के मंदिर में है, न ईसाइयों के गिरजाघरों में और न मुसलमानों की मस्जिद में। वह मानवता के मंदिर में है।' वास्तव में कोई व्यक्ति उसी अंश में महान है जिस अंश में वह अपने समाज के कल्याण के लिए कार्य करता है। समाज-कल्याण अथवा लोक-कल्याण ही अहिंसा के सिद्धांत

का क्रियात्मक रूप है । यही अहिसा मे निहित प्रेम की भावना का व्यावहारिक प्रदर्शन है । अहिसा द्वारा प्रेरित कर्म ही कर्मयोग की साधना है । अहिसा अथवा प्रेम ही सत्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन है । "अहिंसा और सत्य परस्पर इस प्रकार ओतप्रोत है जैसे एक सिक्के के दोनो रुख या चिकनी चकती के दो पहलू । उसमे किसे उल्टा कहे और किसे सीधा ? फिर भी, अहिसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए । साधन अपने वश की बात है, इसी से अहिंसा को परम धर्म कहा गया है । चिता करते रहने पर साध्य की प्राप्ति एक-न-एक दिन होगी ही ।" ईश्वर को प्राप्त करने के लिए अज्ञानजन्य द्वैत भाव अथवा भेद-भाव का निराकरण करना आवश्यक है । मनुष्य-मात्र मे ईश्वर को स्थित मानकर सबके प्रति समानता का भाव, सबके प्रति एकात्मता का अनुभव करना चाहिए । 'ईश्वर ही सब प्राणियो का आतरिक सत्य है ।'

यद्यपि सत्य साध्य और अहिसा साधन है किंतु साधन को साधने के लिए भी दृढ निश्चय, तपस्या और साधना-पूर्ण जीवन की आवश्यकता है । कहने का तात्पर्य यह है कि ईश्वर का दर्शन प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को सत्य एव अहिसा से सबधित ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय आदि अन्य सभी व्रतो का पालन अनिवार्य है । इनका वर्णन हम 'जीवन-दर्शन' के अतर्गत कर चुके है । ये सब व्रत एक ही महाव्रत 'सत्य' से उत्पन्न होते है । स्पष्ट रूप से समझ लेने के लिए इन्हे निम्नाकित रूप मे प्रस्तुत किया जा सकता है
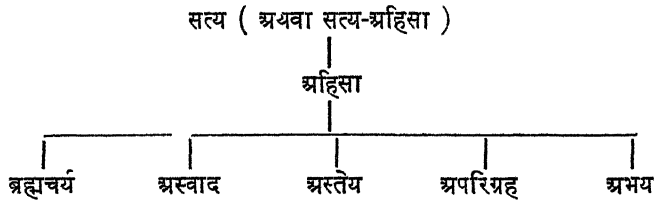
'ईश्वर स्वय निश्चय की, व्रत की सपूर्ण मूर्ति है । उसके नियमो से एक अणु भी इधर-उधर हो जाय तो वह ईश्वर न रह जाय ।' अत मनुष्य को ईश्वर की प्राप्ति के निमित्त स्वय व्रत धारण करना आवश्यक है । उसे व्रत की आवश्यकता के सबध मे लेश-मात्र भी शका नही करनी है । सत्य और अहिसा-सबधी नैतिक नियमो की साधना द्वारा ही व्यक्ति आत्मोत्थान कर सकता है ।

सामूहिक जीवन में सत्य और अहिंसा का प्रयोग

गाधीजी के जीवन-दर्शन पर विचार करते समय हम यह देख चुके है कि वह रूढि-वादी और अरूढिवादी दोनो ही कहे जा सकते है । उनकी आस्था प्रयोग मे थी और वह तर्कसगत होने पर ही किसी विचार को स्वीकार करते थे । यह उनकी अरूढिवादी प्रवृत्ति का परिचायक है । उन्हे रूढिवादी इसलिए कहा जा सकता है कि उन्होने वेद,

उपनिषद्, गीता आदि हिंदू धर्म-ग्रथो के तर्कसगत, शाश्वत सत्यो को स्वीकार किया और जीवन मे उनको व्यवहृत किया। गाधीजी ने स्वय स्वीकार किया है कि वास्तव मे उन्होने किसी नवीन वस्तु की खोज नही की है, वरन् प्राचीन सत्यो को ही आधुनिक युग के अनुरूप रूपातरित किया है, उनकी फिर से व्याख्या की है। उन्होने मुख्यत सामूहिक जीवन मे उनके उपयोग का प्रयास किया है। ये सत्य अब तक वैयक्तिक जीवन के ही निर्देशक थे और सामूहिक या सामाजिक जीवन मे इनके उपयोग की सदैव उपेक्षा की गयी थी। इसी कारण भारतीय दर्शन पर यह आरोप लगाया गया था कि उसका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। गाधीजी को इस बात का श्रेय है कि उन्होने यह प्रमाणित किया कि प्राचीन सत्य व्यक्ति को व्यक्तिवादी नही बनाते, केवल व्यक्तिगत पूर्णता की ओर ले जाने वाले नही है, वरन् व्यक्ति को इस बात का बोध कराते है कि वह परम सत्य की उपलब्धि तभी कर सकता है जब कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति का विकास हो जाय। अहिंसा का व्यवहार केवल वैयक्तिक जीवन मे नही, वरन् सामूहिक जीवन, जातीय अथवा राष्ट्रीय जीवन मे भी किया जा सकता है।

गाधीजी यह नही चाहते थे कि व्यक्ति सत्य का बोध अकेले ही प्राप्त करे। उनका विचार है कि व्यक्ति ईश्वर का बोध समाज के अन्य सदस्यो के साथ करे। अत वह जाति, वश, वर्ण, धन, शक्ति आदि के भेद-भाव से परे एक ऐसे अध्यात्मवादी समाज के निर्माण की कल्पना करते है जिसका प्रथम उद्देश्य मानव-बधुत्व और अतिम उद्देश्य ईश्वर का बोध हो। ऐसे अध्यात्मवादी समाज की स्थापना प्रेम, अहिंसा, सत्य और न्याय के नैतिक सिद्धातो की आधारशिला पर ही हो सकती है। ऐसा समाज शोषण और अन्याय से रहित होगा। वह श्रमजीवियो के वर्गविहीन समाज का निर्माण करना चाहते थे, वह पूँजीवाद और जमीदारी के विरुद्ध थे। उनका विश्वास था कि प्रत्येक व्यक्ति को जीवन के उतने न्यूनतम साधन प्राप्त होने चाहिए जो उत्तम, सुदर और सभ्य जीवन व्यतीत करने के लिए आवश्यक है। ऐसे समाज मे निर्बलो पर बलवानो का कोई प्रभुत्व नही होगा। एक ही परमपिता की सतान होने के नाते सब परस्पर प्रेम करेगे, और परस्पर सहायता करेगे और इस प्रकार सब सत्य की ओर अग्रसर होगे।

प्लेटो की भाति गाधीजी ने भी एक आदर्श राज्य की कल्पना की है। उनके राजनीति-दर्शन मे एक आदर्श समाज का विकास और उसकी स्थापना सम्मिलित है। यह आदर्श समाज एक राज्यरहित प्रजातत्र होगा जिसमे सामाजिक जीवन इतना पूर्ण होगा कि इसमे स्वयमेव आत्मनियमन और आत्मनुशासन होगा। "एक ऐसे राज्य मे प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपना शासक है। वह अपने को इस प्रकार शासित रखता है कि अपने पड़ोसी के लिए बाधक नही होता। अत आदर्श राज्य मे कोई राजनीतिक शक्ति नही होती क्योकि वहाँ कोई राज्य नही होता।" ऐमा आदर्श प्रजातत्र सत्याग्रही ग्राम-समु-

दायो का एक सघ होगा । ऐसे समुदाय मे प्रत्येक व्यक्ति अहिसा मे विश्वास करने वाला होगा । दूसरे शब्दो मे वह 'सर्वोदय-समाज' के भवन का निर्माण करना चाहते थे जिसके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति अपने अतिम लक्ष्य—सत्य—तक पहुँच सके ।

आध्यात्मिक अथवा सर्वोदय-समाज के निर्माण के लिए आवश्यकता इस बात की है कि उस समाज का प्रत्येक व्यक्ति शिक्षित हो । अत गाधीजी भारत के प्रत्येक स्त्री-पुरुष और बालक को शिक्षित देखना चाहते थे । इस देश के लोगो की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सास्कृतिक और आध्यात्मिक क्षेत्र मे व्यापक और महान् स्वतत्रता प्राप्त करने के लिए गाधीजी शिक्षा को आधारभूत तत्व मानते थे ।

शिक्षा से तात्पर्य

शिक्षा मे गाधीजी का तात्पर्य है, बालक के भीतर से सर्वोत्तम को सर्वतोभावेन बाहर निकालना, उसके शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास करना । वह 'साक्षरता' को शिक्षा का न आरभ मानते है और न अत । 'साक्षरता' शिक्षा के साधनो मे एक साधन है जिसके द्वारा स्त्री-पुरुष शिक्षा प्राप्त कर सकते है किंतु साक्षरता पूर्ण शिक्षा नही है । अत गाधीजी शिक्षा के विषयो और साधनो से अधिक जोर बालक के व्यक्तित्व पर देते है । पेस्टॉलॉजी की भाँति गाधीजी भी बालक के सर्वतोमुखी, सगतिपूर्ण विकास मे विश्वास करते है । उनके विचार मे मनुष्य, केवल बुद्धि, शरीर, हृदय और आत्मा नही है, वरन् इन सबके सामजस्यपूर्ण विकास मे ही शिक्षा का सार और उसकी पूर्णता निहित है । शिक्षा की व्याख्या करते हुए गाधीजी ने कहा है, 'शिक्षा को बालक और बालिका के सपूर्ण व्यक्तित्व को विकसित करना चाहिए । कोई भी शिक्षा ठोस नही कही जा सकती है जो बालक और बालिका को एक उपयोगी नागरिक नही बनाती है ।' मनुष्य की पूर्णता उसके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास मे है, अत शिक्षा का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह मनुष्य के शरीर, हृदय, मन और आत्मा का सगतिपूर्ण विकास करे । इस प्रकार हम देखते है कि गाधीजी शिक्षा का अर्थ व्यापक रूप मे ग्रहण करते है जिसके अतर्गत सपूर्ण जीवन समाविष्ट है । इसी तात्पर्य से गाधीजी ने शिक्षा के उद्देश्यो की विस्तृत व्याख्या की है ।

चरम उद्देश्य

देश की आदर्शवादी दार्शनिक परपरा के अनुकूल गाधीजी का विश्वास है कि जीवन और शिक्षा का उच्चतम उद्देश्य आत्मा की प्राप्ति है, "आधुनिक शिक्षा आत्मा की ओर से आँख फेर लेना चाहती है । अत आत्मशक्ति की सभावनाएँ हमारे ध्यान को आकर्षित नही करती । फलस्वरूप हमारी दृष्टि परिवर्तनशील भौतिक शक्तियो पर गडी रहती है ।"† अपनी आत्मकथा मे उन्होने कहा है, "टॉलस्टॉय फार्म के

† Mahatma Gandhi 'To the Students', p 190

बच्चो को शिक्षा देने के बहुत पूर्व मैने अनुभव किया कि आत्मा का प्रशिक्षण अपने आप मे एक चीज है। आत्मा का विकास करना चरित्र-निर्माण करना है और यह व्यक्ति को ईश्वरीय ज्ञान और आत्मबोध की ओर अग्रसर होने मे सहायता पहुँचाता है। मेरा विश्वास था कि बालक के प्रशिक्षण का यह एक सारभूत अग था और आत्म-सस्कार के बिना सभी प्रकार के प्रशिक्षण व्यर्थ और हानिकारक भी हो सकते है।"‡

यद्यपि गाधीजी आत्मबोध को सर्वोच्च लक्ष्य मानते थे तथापि उसकी प्राप्ति के लिए समाज से दूर एकात जगल मे रहना पसद नही करते थे। वह आत्मबोध को पारलौकिकता के साथ जोड देने के विचार से सहमत नही थे। उनका कहना है कि इसी विचार ने ब्राह्मणो और पुरोहितो को अयोग्य बना दिया जिससे वे भारतीय जनता को उन्नति और सस्कृति की ओर अग्रसर नहीं कर सके। गाधीजी उपनिषदो की परपरा के अनुसार, स्वामी दयानद और विवेकानद की ही भाँति समाज मे रहते हुए आत्मबोध प्राप्त करने मे विश्वास करते थे। उनके आत्मबोध के लक्ष्य मे शिक्षा के अन्य सभी उद्देश्य सम्मिलित है। वह वास्तविक शिक्षा उसे कहते है जो मुक्ति प्रदान करे— सा विद्या या विमुक्तये'। इसी को उन्होने गुजरात विद्यापीठ का निर्देश-वाक्य (Motto) बनाया जिसकी स्थापना उनके द्वारा सन् १९२० ई० मे हुई था। इस निर्देश-वाक्य की व्याख्या उन्होने इस प्रकार की है "इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान वही है जो मोक्ष (की ओर ले जाता) है। इस सिद्धात के अनुसार कि महानता मे लघुता सम्मिलित होता है, राष्ट्रीय स्वाधीनता और भौतिक स्वतत्रता, आत्मिक स्वतत्रता मे ही निहित है। अत शिक्षा-सस्थाओ मे जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है उसे इस प्रकार की स्वतत्रता के लिए मार्ग-निर्देश करना चाहिए और उस ओर अग्रसर करना चाहिए।"* एक विद्यार्थी ने गाधीजी से पूछा था कि शिक्षा समाप्त करने के बाद वह क्या करे? गाधी जी ने उसका उत्तर देते हुए कहा था कि "पुरानी उक्ति है कि 'शिक्षा वह है जो मुक्ति प्रदान करती है,' यह आज भी उतनी ही सत्य है जितनी पहले थी। शिक्षा का मतलब केवल आत्मिक ज्ञान नही है और न मुक्ति का तात्पर्य है कि मृत्यु के बाद की मुक्ति। ज्ञान मे वे सभी प्रकार के प्रशिक्षण सम्मिलित है जो मानव-सेवा के लिए लाभप्रद है और मुक्ति का अर्थ है सभी प्रकार की दासता से मुक्ति, यहाँ तक कि इसी जीवन मे।" आत्मा की स्वतत्रता सर्वश्रेष्ठ स्वतत्रता है। अन्य प्रकार की स्वतत्रताएँ (आर्थिक, राजनीतिक, और बौद्धिक) इस सर्वश्रेष्ठ स्वतत्रता की प्राप्ति के लिए आवश्यक है। अत गाधीजी ने शिक्षा-जगत् के समक्ष तात्कालिक उद्देश्यो को रखा है।

---

‡ Gandhi 'Autobiography', P 413

* 'Young India', March 20, 1930

तात्कालिक उद्देश्य

चरित्र निर्माण—आत्मबोध के आदर्श की प्राप्ति मे एक आध्यात्मिक समाज-व्यवस्था की सत्ता पूर्वकल्पित है और क्योकि समाज की पूर्णता लोगो के चरित्र पर आश्रित है, अत गाधीजी चरित्र-निर्माण को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य मानते है। उनका कथन है कि 'सच्ची शिक्षा साहित्यिक प्रशिक्षण मे नही है, वरन् चरित्र-निर्माण है। इमर्सन, रस्किन, मेजिनी और उपनिषदो के अध्ययन से मेरा यह विश्वास दृढ हो गया है।'† गाधीजी ने चरित्र-निर्माण पर इतना अधिक बल दिया है कि यदि उन्हे चरित्र-निर्माण और साहित्यिक प्रशिक्षण दोनो मे एक को चुनना हो तो वह साहित्यिक प्रशिक्षण का त्याग भी कर सकते है। यह पूछे जाने पर कि यदि भारत स्वतत्रता प्राप्त कर लेता है तो आपके विचार मे शिक्षा का लक्ष्य क्या होगा ? उन्होने तत्काल उत्तर दिया, " 'चरित्र-निर्माण'। मै साहस, शक्ति, सद्गुण, महान् उद्देश्य के लिए कार्य करते हुए अपने को भूल जाना आदि गुणो को विकसित करने का प्रयास करूँगा। यह साहित्यिक शिक्षा से अधिक महत्त्वपूर्ण है क्योकि साहित्यिक शिक्षा तो महान लक्ष्य का एक साधन है। इसी कारण जब यह कहा जाता है कि भारत मे साक्षरता का अत्यत शोचनीय अभाव है तो इसका मेरे ऊपर प्रभाव नही पडता और न मुझे यह महसूस करने को बाध्य करता है कि भारत स्वशासन के लिए अयोग्य है।" गाधीजी के लिए व्यक्तिगत चरित्र की पवित्रता, एक ठोस शिक्षा के निर्माण के लिए अनिवार्य है। वह निश्चयपूर्वक कहते है कि 'विद्यार्थियो को अपने भीतर खोजना है और अपने व्यक्तिगत चरित्र का ध्यान रखना है और बिना आरभिक व्यक्तिगत पवित्रता के चरित्र क्या है ?'

'समस्त ज्ञान का उद्देश्य होना चाहिए चरित्र-निर्माण।'‡ 'हमारा सारा अध्ययन, वेदो का पाठ, सस्कृत, लैटिन और ग्रीक का सही ज्ञान और सभी कुछ, यदि ये सब हमारे हृदय को शुद्ध नही बनाते है तो हमारे लिए व्यर्थ है।'†† इस प्रकार गाधीजी औचित्यता और उत्तम जीवन को हमारे चरित्र का सारभूत अग मानते है और चरित्र-निर्माण को शिक्षा का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य स्वीकार करते है।

यद्यपि गाधीजी चरित्र-निर्माण की तुलना मे साहित्यिक प्रशिक्षण को अधिक महत्त्व नही देते फिर भी तथ्य यह है कि इसके पूर्णतया त्याग के पक्ष मे भी नही है।

---

† R M Patel 'Gandhiji in Sadhana'. (Gujrati), p 114

‡ Mahatma Gandhi 'To the Students', p 107

†† Ibid.

जीविकोपार्जन—गाधोजी वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति के इस दोष को भलीभाँति जानते थे कि इसमे बालको का शिक्षा-काल समाप्त होने पर भी उन्हे भोजन, वस्त्र, निवास आदि जीवन की बुनियादी आवश्यकताओ से मुक्त होने का कोई आश्वासन नही है। आज की भाँति बेकारी की समस्या तब भी विद्यमान थी। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि जब तक मनुष्य अपनी आरभिक आवश्यकताओ से मुक्त नही होता तब तक भौतिक, नैतिक और बौद्धिक उन्नति नही कर सकता है, आध्यात्मिक उन्नति की बात तो दूर रही। गाधीजी शिक्षा की ऐसो व्यवस्था चाहते थे जिसके आधार पर आजकल की निरुद्देश्य शिक्षा प्राप्त करने वाले बालको से भिन्न प्रत्येक बालक और बालिका विद्यालय छोडने के पश्चात्, किसी पेशे मे लगकर आत्मनिर्भर हो जाय। वह चाहते थे कि शिक्षा उनके लिए बेकारी के विरुद्ध एक प्रकार का आश्वासन होनी चाहिए। गाधीजी 'वर्णधर्म' मे विश्वास करते थे। उनके विचार मे शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो बालको को जीवन के लिए तैयार कर सके, उनके वातावरण और वशगत पेशो के अनुकूल हो। प्रत्येक बालक मे अपना वशगत व्यवसाय करने की स्वाभाविक क्षमता होती है और उसे अपने पैतृक व्यवसाय को तब तक नही छोडना चाहिए जब तक कि वह अपने भीतर किसी अन्य व्यवसाय के लिए पर्याप्त क्षमता और आकाक्षा का अनुभव न करे। गाधीजी वर्णधर्म को जन्म के आधार पर व्यवसाय का स्वस्थ विभाजन मानते हैं।

सांस्कृतिक विकास—गाधीजी ने सास्कृतिक विकास को शिक्षा का महत्त्वपूर्ण उद्देश्य माना है। भारतीय दार्शनिक परपरा के अनुसार गाधी जी सस्कृति को बौद्धिक कार्य की उपज नही मानते जैसा कि सस्कृति के पाश्चात्य समर्थक। इन समर्थको का विचार है कि बौद्धिक कार्यों मे सलग्न व्यक्ति का मन इस प्रकार प्रशिक्षित हो जाता है कि वह सभी नवीन परिस्थितियो मे उचित व्यवहार करता है। गाधीजी के विचार मे सस्कृति आत्मा का गुण है जो मानव-व्यवहार के सभी क्षेत्रो को व्याप्त कर लेता है। गाधीजी ने कस्तूरबा बालिकाश्रम, नई दिल्ली की बालिकाओ से २२ अप्रैल, सन् १९४६ ई० को जो उपदेश किया था उससे उनके सस्कृति के सबध मे विचारो का अनुमान किया जा सकता है, "मै शिक्षा के सास्कृतिक पक्ष को साहित्यिक पक्ष से अधिक महत्त्व देता हूँ। सस्कृति आधार है, मूल वस्तु है जिसे बालिकाओ को यहाँ से प्राप्त करना चाहिए। तुम्हारे व्यवहार और आचरण के छोटे-से-छोटे कार्यों मे इसका प्रदर्शन होना चाहिए। तुम कैसे बैठती हो, तुम कैसे चलती हो, तुम कैसे वस्त्र पहनती हो ताकि कोई व्यक्ति एक निगाह से देख कर कह सके कि तुम इस सस्था की उपज हो। तुम्हारी बातचीत, दर्शको और अतिथियो के प्रति तुम्हारे व्यवहार और अध्यापिकाओ और अपने से बडो के प्रति तुम्हारे व्यवहार मे एव परस्पर व्यवहार मे तुम्हारी अंत सस्कृति प्रकट होनी चाहिए।" निम्नप्रकृति के सभी प्रतिबधो से मुक्त व्यक्ति अपनी

आत्मा की वास्तविक सस्कृति को प्रदर्शित कर सकता है ।

सगतिपूर्ण विकास—गाधी जी सगतिपूर्ण विकास मे विश्वास करते है और इसीलिए वह बालक के शरीर, मन और आत्मा का पूर्ण विकास चाहते है । वह प्रचलित शिक्षा-पद्धति के दोषो से पूर्णतया परिचित थे । शिक्षा का एक स्पष्ट दोष यह था कि वह बौद्धिक एव असतुलित थी जिसके परिणामस्वरूप बालक की सारी शक्तियाँ तथ्यो के सग्रह मे ही बिखर जाती थी । दूसरा दोष यह था कि वह सवेगो के प्रशिक्षण पर कोई ध्यान नही देती थी । यह सर्वविदित तथ्य है कि सवेग प्रशिक्षण के अभाव मे मनुष्य विकृत होकर पशुओ की कोटि मे पहुँच जाते है । वर्त्तमान शिक्षा मे उन्होने एक दोष यह भी पाया कि वह बालक के शारीरिक विकास को ओर ध्यान नही देती । गाधीजी शक्तिपूर्ण बुद्धि का विकास चाहते थे किंतु हृदय की शिक्षा के साथ । मस्तिष्क और हृदय की शिक्षा के साथ-साथ वह सुदर, स्वस्थ शरीर के विकास को भी कम महत्त्व नही देते थे ।

शरीर, मन और आत्मा इन तीनो के योग से मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण होता है । इन तीनो के बीच एक घनिष्ठ सबध विद्यमान है, अत इनका विकास साथ-साथ होना चाहिए । उच्चतम शिक्षा तभी प्राप्त हो सकती है जब इनमे परस्पर सबध स्थापित हो । इस विषय मे गाधीजी का दृढ निश्चय है कि "जब तक शरीर और मन के विकास के साथ-साथ आत्मा का जागरण नही होगा, तब तक शरीर और मन का जागरण अधूरा ही रहेगा ।" उच्चतम शिक्षा की उपलब्धि के लिए कोई भी शिक्षावेत्ता इन तीनो मे से एक की भी उपेक्षा नही कर सकता है । यह तीनो पृथक्-पृथक्, स्वाधीन रूप मे, एक दूसरे से अलग विकसित नही किये जा सकते । इनका विकास साथ-साथ ही होना चाहिए ।

वैयक्तिक और सामाजिक उद्देश्य—भारत की दार्शनिक परपरा की अद्वैतवादी प्रवृत्ति के अनुसार गाधीजी ने सामाजिक और वैयक्तिक उद्देश्यो मे समन्वय स्थापित किया है । वह अनेकता मे एकता की उपलब्धि करना चाहते है । व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए गाधीजी के मन मे कोई सदेह नही है । वह कहते है कि यदि हम भौतिक या आत्मिक उन्नति चाहते है तो व्यक्तित्व का विकास आवश्यक है । हम जानते है कि प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत विशेषताएँ होती है जो एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से पृथक् करती है, अत सभी व्यक्तियो को एक ही लक्ष्य की ओर मूक पशुओ की भाँति हाँकना व्यर्थ है । जाति, वर्ण, वश का भेद किए बिना गाधीजी प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व के प्रति अत्यधिक सम्मान का भाव रखते है । उनका दृढ विश्वास है कि यदि व्यक्तियो को सच्ची शिक्षा दी गयी है, यदि उन्होने अपने चरित्र का निर्माण कर लिया है तो समाज का सुधार अपने आप हो जायगा । गाधीजी ईसा की भाँति, व्यक्तिगत मानव-आत्मा के महत्त्व को अत्यत सम्मान देते है । गाधीजी के अनुसार मनुष्य-जीवन का उच्चतम उद्देश्य आत्म-

बोध की प्राप्ति है और आत्मबोध की प्राप्ति बिना आत्मत्याग के नही हो सकती, अत आत्मनिग्रह, समाजसेवा स्वत शिक्षा के व्यक्तिगत उद्देश्य मे आ जाते है।

गाधीजी ने स्वय अपने जीवन मे सिद्धात और व्यवहार दोनो के आधार पर यह प्रदर्शित कर दिया कि व्यक्तिगत बोध और समाज-सेवा मे कोई विरोध नही है क्योकि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की प्राप्ति किसी समूह या समाज मे ही करता है। उसका विकास शून्य मे नही होता। यहाँ तक कि उच्च कोटि का त्याग भी समाज मे रहकर ही किया जा सकता है। गाधीजी ने सामाजिक सेवा और वैयक्तिक विकास का समन्वय किया है। उन्होने स्पष्ट रूप से कहा है कि, "मै व्यक्ति स्वातत्र्य को महत्त्व देता हूँ किंतु आपको यह नही भूलना चाहिए कि मनुष्य सारभूत रूप मे सामाजिक प्राणी है। वह अपनी वर्त्तमान स्थिति तक इसलिए उठ पाया है कि उसने सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओ के लिए अपनी वैयक्तिकता को अनुकूल बनाना सीखा है। स्वच्छद व्यक्तिवाद जगल के पशुओ का नियम है। हमने वैयक्तिक स्वतत्रता और सामाजिक नियमन के बीच मध्यस्थ मार्ग अपनाना सीखा है। सपूर्ण समाज के हित के लिए स्वेच्छापूर्वक सामाजिक बधनो को स्वीकार करने मे व्यक्ति और उस समाज जिसका वह एक सदस्य है दोनो का अभ्युदय होता है।"†

गाधीजी की दृष्टि मे वैयक्तिक विकास और समाज-विकास दोनो इस सीमा तक अन्योन्याश्रित है कि एक के बिना दूसरे के बारे मे सोचा ही नही जा सकता। एक राष्ट्र अपनी गतिशील इकाइयो के बिना कभी भी प्रगति नही कर सकता है। इसके विपरीत कोई व्यक्ति भी गतिशील राष्ट्र के बिना प्रगति नही कर सकता जिसका वह एक अग है। गाधीजी और आगे बढकर कहते है कि 'मेरा विश्वास है कि यदि एक व्यक्ति आत्मा की प्राप्ति मे प्रगति करता है तो उसके साथ सारे ससार का लाभ होता है और यदि एक व्यक्ति का पतन होता है तो उसी सीमा तक सारे ससार का पतन होता है'।‡ अत गाधीजी का आदर्श था कि व्यक्ति आध्यात्मिक समाज मे आत्म-पूर्णता प्राप्त करे।

राष्ट्रीयता और अतर्राष्ट्रीयता—गाधीजी शिक्षा के राष्ट्रीय उद्देश्य मे विश्वास करते है, किंतु उनके राष्ट्रवाद का ध्येय यह नही है कि भारत शेष मानवता से अपने को पृथक् रखे। उनके राष्ट्रवाद का उद्देश्य है कि भारत एक दिन विश्व-मानवता में अपने अस्तित्व को लय कर दे। किंतु विश्व-मानवता के साथ एकात्म होने के पूर्व यह आवश्यक है कि वह अपने खोये हुए व्यक्तित्व को प्राप्त कर ले। जिस प्रकार एक डूबा हुआ व्यक्ति

† 'Harijan', May 27, 1939
‡ 'Young India', Dec 4, 1924

दूसरो की सहायता नही कर सकता है उसी प्रकार एक डूबा हुआ राष्ट्र, विनष्ट-व्यक्तित्व राष्ट्र, दूसरे राष्ट्र की सहायता नही कर सकता। दूसरो की रक्षा करने के पूर्व भारत को स्वय अपनी रक्षा करनी होगी। उनके ही शब्दो मे, 'भारतीय राष्ट्रवाद निषेधात्मक नही है, आक्रमणात्मक नही है, सहारात्मक नही है। वह स्वस्थ है, धार्मिक है, अत मानवता-प्रेमी है। इसके पूर्व कि वह मानवता के लिए प्राणोत्सर्ग की कामना करे, उसे जीवित रहना सीखना चाहिए।' गाधीजी की अहिसात्मक नीति के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि वह दीनो का शोषण करने वाली, अग्रेजो या पाश्चात्य जगत् की भौतिक सभ्यता तथा उनकी कार्य-पद्धति से असहयोग करते थे, अग्रेज जाति या पाश्चात्य जगत् से नही। यही कारण है कि वह कहते थे कि 'अपनी अध्यात्मिक सभ्यता एव सस्कृति द्वारा पाश्चात्य जगत् का मार्ग-निर्देश करने के पहले भारत स्वतत्र हो, अपने पैरो पर खडा हो।' स्वदेशी-व्रत का तात्पर्य समझाते हुए उनका कहना है स्वदेश की 'सेवा' का तात्पर्य सकुचित नही, वरन् विशाल है। यह सोचना भूल है कि स्वदेश की सेवा से दूर रहने वालो की सेवा नही हो सकती या उनकी हानि होती है। 'स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने मे विदेशी की भी शुद्ध सेवा होती है—यथा पिडे तथा ब्रह्माण्डे'। इससे भी बढकर, 'जीवमात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जानने और पालने वाला देह का भी त्याग कर सकता है।'†

बालक की आरभिक शिक्षा

गाधीजी अपने समय के प्रचलित इस भ्रम का खडन करते है कि 'पहले पाँच वर्षा मे बच्चे को शिक्षा-प्राप्ति की आवश्यकता नही होती।' उनके अनुसार वास्तविकता यह है कि 'पहले पाँच वर्षो मे बच्चे को जो मिलता है वह फिर कभी मिलता ही नही।' अत बालक के भली भाँति पालन-पोषण के लिए, उसके स्वास्थ्य एव स्वस्थ मानसिक विकास के लिए माता-पिता को शिशुपालन आदि का ज्ञान होना आवश्यक है। बालक को एक आदर्श बालक बनाने के लिए स्वय माता-पिता को अपने चरित्र एव आदर्श का उचित विचार रखना चाहिए क्योकि गाधीजी कहते है, "अपने अनुभव से मै कह सकता हूँ कि बच्चे की शिक्षा माँ के पेट से आरभ होती है। गर्भाधान काल की, माता-पिता की शारीरिक और मानसिक स्थिति का भी प्रभाव बालक पर पडता है। बच्चा गर्भ-काल की माता की प्रकृति, उसके आहार-विहार के अच्छे-बुरे फल की विरासत लेकर जन्मता है। जन्म के अनतर वह माता-पिता का अनुकरण करने लग जाता है। खुद असहाय होने के कारण अपने विकास के लिए माँ-बाप पर अवलबित रहता है।"‡ मानसिक सस्कारो का प्रभाव बडा महत्त्वपूर्ण होता है। अच्छे

---

† गाधीजी : 'धर्म-नीति', पृष्ठ १७०

‡ गाधीजी : 'आत्मकथा', पृष्ठ २५५

सम्कार बालक को उसे अनायास ही अपनी कुप्रवृत्तियो एव दुर्बलताओ पर विजय प्राप्त करने मे सहायता देते है ।

गाधीजी बालक की शिक्षा मे 'घर' को एक अविधिक शिक्षा-सस्था के रूप मे बहुत महत्त्व प्रदान करते है । उन्होने दक्षिण अफ्रीका रहते समय अपने बच्चो को भारत, अपने घर से दूर, पढने के लिए इसी कारण नही भेजा कि 'जो शिक्षा एक अच्छे सुव्यवस्थित घर मे बच्चे अनायास पा जाते है वह छात्रालयो मे नही पा सकते ।' गाधीजी बालको के सरल रहन-सहन मे आस्था रखते है । वह आरभ से ही उनमे शारीरिक श्रम, आत्म-निर्भरता, सेवा की वृत्ति आदि नैतिक गुणो का विकास चाहते है ।

आश्रमवास

गांधीजो यद्यपि बालक को छात्रावास मे रखने के पक्ष मे नही है, तथापि इसका यह अर्थ नही निकालना चाहिए कि वह भारत की प्राचीन गुरुकुल-प्रणाली, जहाँ गुरु और शिष्य एक साथ मिलकर रहते थे, मे आस्था नही रखते । वास्तविकता यह है कि आज के छात्रावासो का वातावरण उतना पवित्र एव आदर्शपूर्ण नही है जितना प्राचीन गुरुकुलो का था । गाधीजी प्रत्येक विद्यार्थी को ब्रह्मचारी मानते है । उनका कहना है, "विद्यार्थी के लिए प्राचीन शब्द ब्रह्मचारी' है क्योकि उसके समस्त अध्ययन और कार्य-कलाप का उद्देश्य ब्रह्म की खोज होता था और उसके सारे जीवन का निर्माण निस्पृहता, सरलता और आत्म-निग्रह की नीव पर होता था जिन्हे प्रत्येक धर्म ने विद्यार्थी के लिए आवश्यक माना है, तुम्हारे सारे कार्यो और खेलो के पीछे आत्मनिग्रही जीवन का उच्च लक्ष्य होना चाहिए, उन्हे तुमको ईश्वर के निकट ले जाना चाहिए ।"† गाधीजी ने गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के ब्रह्मचर्य का आदर्श को आधुनिक विद्यार्थियो के सम्मुख रखा है । फोनिक्स सेटिलमेट, टॉलस्टॉय फार्म और साबरमती आश्रम, इन तीनो को प्राचीन भारतीय आश्रमो की प्रणाली पर आधारित करके, जहाँ उन्होने चरित्र-निर्माण और सेवा के आदर्श को दृढतापूर्वक ध्यान मे रखा, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से गाधीजी ने आश्रमवास अथवा गुरुकुलवास की प्रणाली का समर्थन किया है ।

भोजन और प्राकृतिक उपचार—गाधी जी विद्यार्थी मे शुद्ध मन के निर्माण के लिए सात्विक भोजन पर बल देते है । ब्रह्मचर्य के पालन के लिए स्वादेन्द्रिय पर नियत्रण प्राप्त करना आवश्यक है । सात्विक भोजन, व्रत, उपवास आदि से मानसिक विकार शात हो जाते है । 'जैसा अन्न वैसा मन,' इस कहावत में बहुत तथ्य है । मनुष्य को अपने ऊपर नियत्रण प्राप्त करने की भावना से ही गाधीजी ने 'सात्विक भोजन' के साथ-साथ 'प्राकृतिक उपचार' के सिद्धात पर भी बल दिया है । कोई भी व्यक्ति अपने ही दोषो के कारण बीमार पडता है । पर इस बीमारी के निराकरण के लिए, उन्ही के शब्दो मे,

† 'Young India', July 21, 1927

"क्षण-क्षण मे वैद्य, हकीमो और डाक्टरो के यहाँ दौडने और शरीर मे अनेक जड, छाल, पत्ते और रसायन ठूँसने से मनुष्य अपनी जिन्दगी छोटी कर लेता है। इतना ही नही, अपने मन पर उसका काबू नही रह जाता। इससे वह मनुष्यत्व खो बैठता है और शरीर का गुलाम बन जाता है।"†

प्रार्थना—आत्म-नियत्रण अथवा आत्म-शुद्धि के लिए गाधीजी प्रत्येक विद्यार्थी के लिए प्रार्थना करना आवश्यक समझते है। ध्यान रहे कि यहाँ विद्यार्थी शब्द को केवल सकुचित अर्थ मे नही ग्रहण करना है। प्रत्येक व्यक्ति जो आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर-दर्शन का अभिलाषी है वह विद्यार्थी अथवा शिक्षार्थी है। गाधीजी ने शिक्षा को उसके विस्तृत अर्थ मे उपयोग किया है। इस अर्थ मे व्यक्ति का सपूर्ण जीवन ही शिक्षा-काल है। अत प्रतिदिन प्रार्थना करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य है। इस सबध मे अपने आश्रमवासियो को एक पत्र मे गाधीजी ने लिखा था, "प्रार्थना छूट जाय तो मनुष्य को भारी दु ख होना चाहिए। खाना छूटे, पर प्रार्थना न छूटे। खाना छोडना कितनी ही बार लाभदायक होता है। प्रार्थना का छूट जाना कभी भी लाभदायक हो ही नही सकता।"‡ प्रार्थना करने की विधि के सबध मे भी उन्होने सचेत किया है। प्रार्थना मन लगाकर की जानी चाहिए, अन्यथा प्रार्थना के समय यदि केवल व्यक्ति शरीर से ही उपस्थित है तो वह प्रार्थना मिथ्या है, दम्भ है। ऐसी प्रार्थना करने वाला व्यक्ति दो दोषो का भागी होता है, प्रथम उसने प्रार्थना का परित्याग किया और द्वितीय उसने समाज को धोखा दिया। गाधीजी व्यक्तिगत और सामूहिक, दोनो प्रकार की प्रार्थना मे विश्वास करते है। सामूहिक अथवा सामाजिक प्रार्थना भी व्यक्ति की आत्मशुद्धि और आत्मदर्शन मे सहायक होती है। जो व्यक्ति निश्चित समय की प्रार्थना के अतिरिक्त हर कार्य ईश्वर को साक्षी देकर सपादित करता है वह ईश्वरमय हो जाता है, निष्पाप हो जाता है।

गाधीजी का कथन है कि जब बालक समझने लगे तो माता को चाहिए कि वह तुरत बालक को प्रार्थना करना सिखा दे।

विद्याभ्यास और पाठ्य-विषय

गाधीजी प्रचलित विद्याभ्यास और उसे करने-कराने की रीति को दोषपूर्ण पाते है। इस सबध में आश्रमवासियो को पत्र लिखकर उन्होने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये है, "सच्चा विद्याभ्यास वह है जिसके द्वारा हम आत्मा को, अपने आपको, ईश्वर को, सत्य को पहचाने। इस पहचान के लिए किसी को साहित्य-ज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसी को भौतिक शास्त्र की, किसी को कला की, पर विद्या मात्र का उद्देश्य

---

† गाधीजी : 'आत्मकथा', पृष्ठ ३३६

‡ गाधीजी . 'धर्म-नीति', पृष्ठ २२९-२३०

आत्म-दर्शन होना चाहिए। आश्रम मे यह है। उसकी दृष्टि से हम अनेक उद्योग चला रहे है। ये सारे उद्योग मेरे अर्थ मे शुद्ध विद्याभ्यास है। आत्म-दर्शन के उद्देश्य के बिना भी यह धधे चल सकते है। इस रीति से चले तो वे आजीविका के या दूसरे साधन हो सकते है, पर विद्याभ्यास न होगे। विद्याभ्यास के पीछे समझ, कर्त्तव्यपरायणता, सेवा-भाव विद्यमान होता है।"†

उपर्युक्त कथन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि गाधीजी ने बडे ही मनोवैज्ञानिक ढग से चार मुख्य प्रकार की मानवी प्रकृति—साहित्यिक, वैज्ञानिक, कलात्मक और रचनात्मक और इनसे सबधित विषयो की ओर सकेत किया है। वह किसी भी ज्ञान एव रुचि की उपेक्षा नही करते और भारतीय परपरा के सर्वथा अनुकूल वह प्रत्येक ज्ञान एव कार्य को परम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन स्वीकार करते है। ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट होता है कि गाधीजी ने अन्य विषयो के साथ-साथ विभिन्न उद्योगो को भी ईश्वर-प्राप्ति का निमित्त मानकर शिक्षा मे सास्कृतिक और जीविकोपार्जन के उद्देश्यो मे सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

शिक्षण-विधि

गाधीजी बडे ही मनोवैज्ञानिक ढग से यह स्पष्ट करते है कि बच्चो मे अनुकरण करने की अपूर्व शक्ति होती है। हम बच्चो को यदि शिक्षा देना चाहते है, तो जो बात उनसे कराना चाहते है उसे हमको स्वय करना चाहिए। बालक मुँह से कहा हुआ कम समझते है। यह तथ्य शारीरिक और नैतिक दोनो क्षेत्रो के कार्यों मे व्यवहार्य है। यदि हम बालक को अमुक शारीरिक कार्य कराना चाहते है तो प्रथम उन कार्यो को हमे स्वय करना चाहिए। यदि हम उन्हे सत्य सिखाना चाहते है तो स्वय सावधानी से सत्य का पालन करना चाहिए। अपरिग्रह सिखाना चाहते है तो हमे परिग्रह त्याग देना चाहिए। अत माता-पिता और शिक्षको को बालक को शिक्षित करने के दृष्टिकोण से इस सिद्धात का पूर्णतया उपयोग करना चाहिए।

गाधीजी यहाँ पर स्पष्ट कर देना चाहते है कि आज की शिक्षा-पद्धति में इस सिद्धात की अवहेलना की जाती है, फलस्वरूप समय और धन के व्यय की तुलना में फल नगण्य ही प्राप्त होता है। आज की शिक्षण-पद्धति का दूसरा दोष यह है कि जिस प्रकार पशु अपने बच्चे को सिखाने के लिए बच्चे ही की तरह क्रीडा करते हैं इस प्रकार शिक्षक बालक को शिक्षित करने के लिए उसके मानसिक स्तर तक नही उतरते। शिक्षक को बालक के प्रति स्नेह तथा उसके हित की भावना से पूर्ण होना चाहिए। उन्हे अपने सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार द्वारा बालको की अतर्निहित क्षमताओ का विकास करने मे सफल होना चाहिए। बालक के प्रति स्नेह की भावना होने से फिर दड का प्रश्न उठता ही नही।

† गाधीजी . 'धर्म-नीति', पृष्ठ २३६

वाचन और विचार—गाधीजी के विचार मे, क्योकि मनुष्य और पशु मे अतर है, अत मनुष्य को निम्न पशु-स्तर से उच्च स्तर पर पहुँचना है। पशु की भाँति उसकी आवश्यकताएँ जैव-स्तर तक ही सीमित नही है। वह विचारशील एव ज्ञानवान प्राणी है, अत उसे वाचन अथवा पढने की आवश्यकता है। किंतु शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए कि बालक केवल निष्क्रिय सूचनाओ को स्मरण रखने का पात्र न बन जाये, वरन् वह उसे पठित विषय पर विचार एव मनन करने की प्रेरणा प्रदान करे। गाधीजी का कथन है, "हममे बहुतेरे निरी पढाई करनेवाले होते है। वे पढते है, पर गुनते नही, विचारते नही। फलत पढी हुई चीज़ पर अमल क्यो करने लगे ? इससे हमे चाहिए कि थोडा पढें, उस पर विचार करें और उस पर अमल करे। अमल करते वक्त जो ठीक न जान पडे उसे छोड दें और आगे बढे। ऐसा करनेवाला थोडी पढाई से अपना काम चला सकता है। बहुत-सा समय बचा लेता है और मौलिक कार्य करने की जिम्मेदारी उठाने के योग्य बनता है।"† प्रश्न उठता है कि विचार किस प्रकार किया जाय ? बालक यदि कोई पाठ पढता है अथवा कोई भजन सुनता है तो उसे उस पर विचार करना चाहिए कि उसमे रहस्य क्या है, उससे क्या शिक्षा मिलती है, उसमे से उसे क्या ग्रहण करना चाहिए और क्या नही ग्रहण करना चाहिए, उसमे दोष हो तो उनकी छान-बीन करनी चाहिए। यदि उसका अर्थ समझ मे न आये तो उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए। विचार करने की यही पद्धति है। गाधीजी का कहना है कि यदि विद्यार्थीगण अपनी-अपनी दिशा मे, अपने-अपने विषय मे, इस प्रकार विचार करे तो 'वह जीवन मे नया अर्थ निकालेगे और नित्य नया रस लूटेगे।' 'ऐसा करनेवाला अन्त मे आत्मानद भोगेगा और उसका सारा वाचन फलेगा।' गाधीजी कहते है कि 'मेरी दृष्टि से विचार करने की कला सच्ची शिक्षा है। यह कला हाथ आ जाय तो दूसरी सारी कलाएँ उसके पीछे सुन्दर रीति से सज जायँ।'‡ गाधीजी का यह 'वाचन और विचार' सबधी शिक्षण-सिद्धात हमे भारतीय शिक्षण-पद्धति के तीन पाद—'श्रवण' 'मनन' और 'निदिध्यासन' की ओर इगित करते है।

सविचार कार्य या कर्म द्वारा शिक्षा—कार्य या कर्म करना देह का गुण है। पर, किस प्रकार किये हुए कार्य से व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करता है, ज्ञान की वृद्धि करता है और आत्मोन्नति करता है ? गाधीजी का कहना है, विचारयुक्त अथवा विवेक-सचालित कार्य द्वारा। पशु और मनुष्य मे यही अतर है कि पशु के कार्य यत्रवत् होते है। वह किसी कार्य मे चाहे कितना ही परिश्रम क्यो न करे, उसके ज्ञान की वृद्धि नही होती और न कार्य करने मे उसे रस ही आता है। मनुष्य को पशु की भाँति व्यवहार नही करना है

† गांधीजी : 'धर्म-नीति' पृष्ठ २४७

‡ गांधीजी : 'धर्म-नीति' पृष्ठ २५०

क्योकि वह एक विचारवान एव तर्कयुक्त प्राणी है। विचारपूर्वक किये हुए कार्य से शाति मिलती है, कार्य करनेवाले की दक्षता बढती है, उसमे समय की बचत होती है और उसे काम मे आनद आता है। विचारपूर्वक किया हुआ काम बोझ नही प्रतीत होता, चाहे वह मल ढोने का ही काम क्यो न हो। उसमे सेवा-भाव निहित रहता है। वह एक कर्त्तव्य का रूप ग्रहण कर लेता है किंतु इतना ही पर्याप्त नही है कि कार्य सविचार रूप मे किया जाय। विचार समाज-पोषक भी होना चाहिए। उसमे स्वार्थ-भाव नही होना चाहिए। स्वार्थपूर्ण या निम्नकोटि की प्रेरणाएँ कर्म को दोषयुक्त बनाती है। ऐसे कर्म शिक्षाप्रद न होकर कुशिक्षाप्रद होते हैं। अत व्यक्ति को चाहिए कि वह एक पशु की भाँति अपनी सहजप्रवृत्तियो, आवेगो और सकीर्ण भावनाओ के वश होकर कार्य न करे। इनसे ऊपर उठ कर समाज-हित कर्त्तव्य-निष्ठा अथवा यज्ञ को भावना से कार्य करे। इस दृष्टिकोण को ध्यान मे रख कर विचार और बुद्धिपूर्वक किये हुए यज्ञ-रूप कार्य से शिक्षा मिलती है, बुद्धि का विकास होता है, हृदय विशाल और शुद्ध बनता है, कार्य मे कुशलता प्राप्त होती है और व्यक्ति उसमे नवीन खोज और सुधार करता है जिससे समाज की प्रगति मे सहायता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से किये गये काम मे व्यक्ति को रस प्राप्त होता है, उसे थकान का अनुभव नही होता और उसके कार्य कलापूर्ण हो जाते है, चाहे वह किसी प्रकार का कार्य क्यो न हो। उदाहरण के लिए, "कताई के यज्ञ को लें तो उसके विषय मे भी यदि विचारमय काम हो तो हमे उसमे रस के घूँट मिलेंगे और कताई की कला की प्रगति की हद ही न होगी। सब विचार-पूर्वक कातें तो हम बहुतेरी नई खोजें करें और सूत अच्छे-से-अच्छा निकाले।"† कहने का तात्पर्य यह है कि "जिसकी दृष्टि पारमार्थिक बन जाती है उसे एक भी काम नीचा या नीरस नही जान पडता। जो सामने आए उसी मे वह ईश्वर को देखेगा, उसी की सेवा देखेगा। उसका रस काम के, जातिवर्ग के ऊपर अवलंबित नही होता। उसका रस उसके अतर से, उसकी कर्त्तव्यपरायणता से निकलता है।"‡ जब व्यक्ति सकीर्ण इच्छाओ से ऊपर उठ जाता है तब उसका हृदय शुद्ध हो जाता है। आत्मशुद्धि द्वारा उसकी अर्पण-बुद्धि जागृत होती है। 'अर्पण-बुद्धि विश्व-कल्याण की बुद्धि है'। ईश्वर को सब मे व्याप्त जान कर, आत्मत्याग अथवा समाज-सेवा द्वारा व्यक्ति आत्मोन्नति करता है। विश्व-कल्याण अथवा समाज-कल्याण की भावना से किया जाने वाला कर्म यज्ञ है। ऐसे ही कर्म के माध्यम से मनुष्य बधनो से छूट कर, परममुक्ति प्राप्त करता है। यही अनासक्त योग-मार्ग है।

यह साधना का मार्ग है। शिक्षक विद्यार्थी को यह कर्म-मार्ग अथवा कर्म द्वारा मुक्ति के मार्ग का निर्देश कर सकता है। पर यह तो विद्यार्थी के स्वय साधना का मार्ग है।

---

† गाधीजी : 'धर्म-नीति', पृष्ठ, २५२

‡ गांधीजी : 'धर्म-नीति', पृष्ठ २५५ ५६

इस विधि का अनुसरण तो उसे स्वय करना है। यह साधना की विधि है। यही सर्वोत्तम स्वय-शिक्षण विधि है।

धर्म का स्वरूप

गाधी जी एक अत्यत धार्मिक व्यक्ति थे। उनका सपूर्ण जीवन-दर्शन धर्म-केन्द्रित था। भारतीय विचारधारा के सर्वथा अनुकूल उन्होने धर्म की मान्यताओ को तभी स्वीकार किया जब वे उन्हे तर्क और अनुभव की कसौटी पर पूरी उतरी हुई दिखायी दी। इन मान्यताओ को अपने जीवन मे व्यवहृत करके अपने आध्यात्मिक और सामाजिक अनुभव के आधार पर उन्होने इनकी पुनर्व्याख्या की। उनका सारा जीवन ईश्वर अथवा सत्य की प्राप्ति के लिए प्रयोगशाला था। उन्होने लिखा है, "मेरा कर्त्तव्य तो, जिसके लिए मै तीस वर्ष से झँख रहा हूँ, आत्म-दर्शन है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरी सारी क्रियाएँ इसी दृष्टि से होती है, मेरा सारा लेखन इसी दृष्टि से है और मेरा राजनैतिक क्षेत्र मे आना भी इसी वस्तु के अधीन है।"*

गाधीजी की धार्मिक चेतना रहस्यवादी सतो जैसी (Mystic) नही थी, वरन् देवदूतो की भाँति (Prophetic) थी। इसीलिए उनका विचार था कि केवल अत दर्शन ही सत्य की अनुभूति या साक्षात्कार के लिए पर्याप्त नही है। वह सत्य के शोध के लिए सामाजिक जीवन को अपना क्षेत्र बनाना चाहते थे और दूसरो को साक्षात्कार या मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर करना चाहते थे। यद्यपि अत दर्शन, ध्यान और ईश्वर के साथ सपर्क-स्थापन (Communion) दिव्यालोक की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन है और गाधीजी भी इन साधनो का उपयोग करते थे, फिर भी ऐसे अनुभवो को वह पूर्णतया व्यक्तिगत मानते थे क्योकि इनका दूसरो के साथ साझा नही किया जा सकता। उनके ही शब्दो मे, "कुछ ऐसी चीजें है जिनकी प्रतीति केवल व्यक्ति को स्वय या स्रष्टा को ही होती है। ऐसी चीजे स्पष्टत प्रेषणीय नही होती।" गाधीजी इस व्यक्तिगत अनुभव को ही सत्य की प्राप्ति के लिए पर्याप्त नही मानते थे, वरन् सार्वजनिक जीवन मे अन्य सहयात्रियो के साथ सत्य की अनुभूति करना चाहते थे। यही कारण है, वह सत्य के साक्षात्कार के हेतु राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र मे आये और राजनीतिक स्वतत्रता की प्राप्ति तथा सामाजिक अत्याचारो के निवारण के सबध मे उन्होने सामूहिक ढग से धर्म या नैतिकता-सबधी (गाधीजी के दर्शन मे दोनो शब्द एक दूसरे का स्थान ले सकते है) प्रयोग किये।

हम पहले देख चुके है कि आरभ मे गाधीजी कहते थे कि ईश्वर सत्य है, किंतु बाद में उन्होने अपने सहज ज्ञान के आधार पर यह कहा कि सत्य ही ईश्वर है। उनकी इस धार्मिक धारणा मे परिवर्त्तन के पीछे रहस्य यह है कि पहले वह नैतिकता को धर्म का एक आवश्यक अग मानते थे। किंतु बाद मे वह नैतिकता को धर्म का सारतत्व मानने लगे।

*गाधी जी. 'आत्मकथा', पृष्ठ, ५

उन्होने अपने अनुभव से यह जाना कि नैतिक मूल्यो की चेतना ईश्वर मे विश्वास की अपेक्षा अधिक निश्चित और सार्वभौम है। अत नैतिकता को उन्होने धर्म का सार स्वीकार किया और ईश्वर मे श्रद्धा एव विश्वास को सयोग (Accident), यद्यपि गाधीजी के लिए यह एक अविच्छेद्य सयोग था।

गाधीजी की धर्म-नीति के आधारभूत सिद्धात, जिनको उन्होने सब धर्मो मे समान रूप से पाया, इस प्रकार है (१) सत्य और प्रेम के विधान ससार पर शासन करते है, (२) इन नियमो के अनुसार रहना, (३) सब धर्मो मे आधारभूत एकता का अनुभव और सब धर्मों के प्रति समभाव।

गाधीजी, यद्यपि, सब धर्मो की एकता मे विश्वास करते थे फिर भी वह यह समझते थे कि मानव-जाति का यह सामान्य धर्म अपने बौद्धिक स्तर पर अमूर्त विचारो का सग्रह मात्र है। अत उसको मूर्त अथवा व्यावहारिक होने के लिए विभिन्न अस्त्यात्मक धर्मो के साँचे मे ढलना होगा। गाधीजी के शब्दो मे, 'एक सत्य और पूर्ण धर्म विभिन्न मनुष्यो के माध्यम से अनेक रूप धारण कर लेता है।' अत किसी विशेष धर्म के आधार पर ही मनुष्य सत्य को देख सकता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को अपने परपरागत धर्म या स्वधर्म का ही पालन करना चाहिए। यदि अपने धर्म मे कुछ दोष भी आ गये हो तो उन्हे दूर कर लेना चाहिए। भारतीय परपरा के अनुकूल, गाधीजी, धर्म को सकीर्णता और सप्रदायो के परे स्वीकार करते है। उनका कहना है कि हमारे जीवन का प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक कार्य धर्म से ओतप्रोत और ईश्वर-प्राप्ति का साधन होना चाहिए। वह धर्म-साधन के लिए ससार या कर्म का त्याग आवश्यक नही समझते। उनका कहना है कि, "मेरे विचार मे गीता के रचयिता ने यह भ्रम दूर कर दिया है। उसने धार्मिक जीवन और सासारिक धधो के बीच कोई सीमा निर्धारित नही की है। इसके प्रतिकूल उसने यह प्रदर्शित किया है कि हमारे सासारिक कार्यो को भी धर्म द्वारा अनुशासित होना चाहिए।" अत धर्म एक साधना है। वह जीवन मे व्यवहृत करने की वस्तु है।

जीवन, कला और सौन्दर्य

गाधीजी के तपस्यापूर्ण जीवन को देखकर साधारणतया लोग यही समझते है कि उनके हृदय मे कला के लिए कोई स्थान नही है। वास्तव मे, गाधीजी कला के प्रति आधुनिक मनोवृत्ति को पसद नही करते थे। आजकल जिसको कला कहा जाता है, गाधीजी उस कला की विशिष्टता को समझने मे अपने को असमर्थ पाते थे। वास्तविकता यह है कि कला को आँकने के लिए उनके मूल्य ही भिन्न थे। वे मूल्य क्या थे ?

गाधीजी ने कहा है, "उदाहरण के लिए, मै उस कला को महान् नही मानता हूँ जिसकी प्रशसा करने के लिए उसकी शैली के घनिष्ठ ज्ञान की आवश्यकता पडती हो। जिस प्रकार प्रकृति का सौन्दर्य हरेक के हृदय को लुभा लेता है उसी प्रकार कला को महान् होने के

लिए यह आवश्यक है कि वह सबके हृदय को आकर्षित कर सके । प्रकृति की भाषा को भाँति उसे अपनी व्यजना मे सरल और अभिव्यक्ति मे प्रत्यक्ष होना चाहिए'' ।† गाधी जी को प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की प्रेरणा की आवश्यकता नही । उनके विचार मे तारे भरे आकाश, गभीर सागर या गगनचुबी पर्वत से जो प्रेरणा प्राप्त होती है वह क्या किसी चित्र से प्राप्त हो सकती है ? क्या ईश्वर की हस्तकला के सामने मनुष्य की हस्तकला फीकी नही पड जाती ? प्रकृति का शाश्वत सौन्दर्य निश्चय ही गाधीजी को ईश्वर का स्मरण कराता है। प्राकृतिक वस्तुएँ इसीलिए सुदर लगती हैं क्योकि सत्य जो सृष्टि का केन्द्र है, उनके द्वारा अभिव्यक्त एव प्रतिबिंबित होता है। दूसरे शब्दो में, गाधीजी का विश्वास है कि कला को उच्चतम सत्य के बोध का साधन होना चाहिए ।

सभी कलाओ मे सगीत-कला गाधी जी को विशेष प्रभावित करती है । वह सगीत की ध्वनि की अपेक्षा उसके सार को अधिक महत्त्व देते है । उनके विचार मे कोई भी कला, चाहे वह सगीत हो या मूर्तिकला, उसे नैतिक होना चाहिए ।

गाधीजी एक कलाकार मे सर्वप्रथम चरित्र की पवित्रता को अनिवार्य मानते है । उनके विचार मे जिसने अपनी आत्मा की उपेक्षा कर दी है वह महान् कलाकार नही हो सकता । गाधीजी रवीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रति अत्यधिक सम्मान का भाव रखते थे । इसका प्राथमिक कारण यही है कि अपनी अतुलनीय काव्य-प्रतिभा और कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ रवीन्द्रनाथ ने अपने जीवन मे, उच्चतम अश मे सतो की भाँति चारित्रिक पवित्रता का उदाहरण उपस्थित किया ।

गाधीजी के विचार मे सत्य से पृथक् कोई सौंदर्य नही है । 'सत्य सुदर है और सुदर सत्य,' इस कथन के प्रथम भाग का वह हृदय से पूर्ण समर्थन करते है, अर्थात् सत्य सुदर होता है, परतु द्वितीय भाग—सुदर सत्य है—का नही । उनका कहना है, "मै सत्य मे और सत्य के माध्यम से सौदर्य का दर्शन करता हूँ । सभी सत्य अत्यत सुदर होते हैं—जब कभी मनुष्य सत्य मे सौदर्य को देखना आरभ करता है तभी सच्ची कला का जन्म होता है ।"‡ इस प्रकार गाधीजी ने भारतीय कला के प्राचीन आदर्श का ही समर्थन किया है । इस आदर्श की आज की कला मे उपेक्षा दिखायी पडती है ।

तथ्य यह है कि जिस प्रकार भारतीय सगीत और पश्चिमी सगीत मे अतर है उसी प्रकार पूर्वी और पश्चिमी कला-विचारो मे एक गहरी खाँई है । "यूनानी सौदर्य को सौंदर्य के लिए मान करते थे और सुदर में न केवल आनंद, वरन् सत्य का भी अनुभव करते थे । प्राचीन भारतीय भी सौदर्य प्रेमी थे, परतु उनकी कला मे सदैव गभीर तत्व की अभिव्यक्ति

† Dilip Kumar Roy, 'Among the Great,' p 76

‡ 'Young India,' Nov. 13, 1924

निहित रहती थी। उनकी कला मे परम सत्य के दर्शन की झलक रहती थी।"† अत भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कला का उद्देश्य केवल आनद की प्राप्ति नही है, वरन् आत्मशुद्धि अथवा भावात्मक परिष्कार है। सच्ची कला व्यक्ति की सभी अपवित्रताओ का निराकरण करके उसकी आत्मा को शुद्ध कर देती है। गाधीजी के विचार मे, महान कलाकार वह है जो 'सुदरतम जीवन' व्यतीत करता है। 'सुदरतम जीवन' का अर्थ है अत्यधिक सचाईपूर्ण, अधिक शुद्ध, प्रेम से आच्छादित और सेवा-भाव से पूर्ण जीवन। सुदर जीवन उसी का है जिसके विचार, शब्द और कार्य मे सामजस्य है, यही सामजस्य जीवन को एक समत्व प्रदान करता है, उसे एक कलाकृति बनाता है। गाधीजी के विचार मे तपस्यापूर्ण जीवन ही जीवन की सबसे उच्चतम कला है। उन्ही के शब्दो मे, "कला क्या है? सरलता अथवा सादगी मे सौदर्य का अनुभव ही कला है। तपस्या क्या है? आडबर और कृत्रिमतारहित दैनिक जीवन मे सरल सौदर्य की उच्चतम अभिव्यक्ति ही तपस्या है। यही कारण है कि मै सदैव कहता हूँ, कि एक सच्चा सन्यासी न केवल कला का अभ्यास करता है, वरन् कलामय जीवन जीता है।"‡ यही भारतीय आध्यात्मिक सस्कृति का महानतम् आदर्श है, जिसकी उपलब्धि के लिए प्रत्येक को प्रयत्नशील होना चाहिए।

स्त्री-शिक्षा

स्त्रियो की दशा देखकर गाधीजी बहुत दुखी थे। सामाजिक रीति-रिवाजो, आर्थिक पराधीनता, पर्दा-प्रथा आदि के कारण हमारे देश की स्त्रियो का व्यक्तित्व नष्ट हो चुका था। बाल-विवाह की प्रथा के कारण वे शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक उन्नति के क्षेत्र मे पिछडी हुई और सभी दृष्टिकोणो से पराधीन थी। पुरुष पर आश्रित होने के कारण उन्हे अबला कहा जाता था। उनका, विचार था कि हमारा देश भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से उस समय तक उन्नति नही कर सकता है जब तक कि स्त्रियाँ पराधीन है। वह स्त्रियो को स्वावलबिनी बनाना चाहते थे। अहिंसा, आत्मशक्ति और चरित्र-निर्माण द्वारा उन्हें साहसी बनाना चाहते थे। गाधीजी स्त्री को केवल अर्द्धांगिनी नही, वरन् माता के रूप मे, मानव-निर्माता के रूप मे परमात्मा की श्रेष्ठतम सृष्टि स्वीकार करते थे।

गाधीजी ने अपने प्रवचनो एव लेखो मे नारी जीवन से सबधित अनेक प्रश्नो पर विचार प्रकट किये हैं जिनसे नारियाँ दुख और सकट के समय मे सीख ले सकती हैं। उनका विश्वास है कि प्राचीन काल की भाँति आज भी हमारे देश मे सीता, दमयती और द्रौपदी जैसी शुद्ध-हृदय और आत्मानुशासिका स्त्रियाँ हो सकती है जो समाज मे गौरवास्पद स्थान ग्रहण कर सकें। गाधीजी का विचार था कि हमारा देश भौतिक,

† Jawahar Lal Nehru, 'The Discovery of India,' p 169

‡ Dilip Kumar Roy, 'Among the Great,' p. 75

नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति तब तक नही कर सकता है जब तक कि यहाँ की स्त्रियाँ शिक्षित न होगी। अत स्त्रियो मे नूतन शक्ति का सचार करने के लिए उन्होने शिक्षा को एक अनिवार्य साधन माना।

गाधीजी का कथन है कि सुशिक्षित और विदुषी स्त्रियाँ समाज-सुधार की अग्रदूतिका बन सकती है। उन पर केवल नारी-जाति ही नही, वरन् पुरुषो के सुधार का भी भार है क्योकि वही उनकी जननी है। उन्होने नारी-जाति का आह्वान न केवल अपने ही देश के लिए, वरन् सपूर्ण मानवता की सेवा और उत्थान के लिए किया है। उन्होने जोर देकर कहा है कि स्त्री-शिक्षा का कोई मूल्य नही, यदि कन्याएँ विवाह करके पुरुष के लिए गुडिया बन जायँ और समय से पूर्व ही भावी बौनो के पालने मे लग जायँ। गाधीजी का कहना है कि आवश्यकता-पूर्ति के लिए नौकरी खोजने वाली स्त्रियो से कोई उच्च एव उपयोगी मतव्य पूरा नही हो सकता। उनकी अपेक्षा वे स्त्रियाँ अधिक आदर्श स्थिति में हैं जो देश-भक्त है और अपने अवकाश के समय मे उपयोगी कार्य करती है। यदि भारत की पढी-लिखी स्त्रियाँ सेवा की भावना से गाँवो के कार्य करें तो वे देश मे, समाज मे महत्त्वपूर्ण, क्रान्तिकारी परिवर्त्तन कर सकती है। गाधीजी का विचार है कि छोटे बालक-बालिकाओ को शिक्षित बनाने का कार्य पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ, कुमारी की अपेक्षा जो माताएँ है वे अधिक सफल और प्रभावपूर्ण ढग से कर सकती है। इसके लिए उनको प्रारभिक प्रशिक्षण की आवश्यकता हैं। वह स्त्रियो को उनकी विभिन्न क्षमताओ एव उनकी जीवन-सबधी आवश्यकताओ के अनुसार शिक्षा देना चाहते है। वह बालक और बालिकाओ की शिक्षा मे अधिक भेद नही करते है।

सहशिक्षा—सहशिक्षा के सबध मे गाधीजी के विचार मौलिक और अरूढिवादी है। इस विषय मे उन्हे निश्चय नही है कि भारत मे सहशिक्षा सफल होगी या नही। सहशिक्षा पर प्रयोग भी उन्होने स्वय किया जब कि उन्होने एक ही बरामदे मे बिना किसी पर्दे के बालक और बालिकाओ को साथ सोने दिया। गाधीजी और कस्तूरबा स्वय बालक-बालिकाओ के साथ सोते थे। उनके इस प्रयोग का परिणाम अवाछित हुआ और उन्होने इसे बद कर दिया। एक प्रश्नकर्त्ता ने गाधीजी से पूछा कि क्या पर्दा करने वाली जातियो मे भ्रष्टता नही है? गाधीजी ने उत्तर दिया, 'है, किन्तु सहशिक्षा अभी भी प्रयोगावस्था मे है और निश्चय रूप से उसके अच्छे या बुरे परिणाम के विषय में हम कुछ नही कह सकते है। यह कार्य हमे परिवारो से शुरू करना होगा। परिवारो मे बालक और बालिकाओ को साथ-साथ स्वतत्र और प्राकृतिक ढग से विकास करने देना चाहिए, फिर सहशिक्षा अपने आप आ जायेगी।'

सहशिक्षा के विषय में गाधीजी ने बडे ही उदार मन से विचार किया है। उन्होने आठ वर्ष की आयु तक सहशिक्षा की अनुमति दी है, उनका कहना है कि यदि सभव हो

तो सोलह वर्ष तक सहशिक्षा दी जा सकती है, परन्तु सहशिक्षा की व्यवस्था को उन्होने अनिवार्य नही माना है।

वर्धा-शिक्षा-योजना

गाधीजी शिक्षा की प्रचलित पद्धति से पूर्णयता असतुष्ट थे। उन्होने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि हमारी शिक्षा किताबी शिक्षा है, वह केवल बुद्धि का प्रशिक्षण करती है। भारत की वर्त्तमान शिक्षा-योजना अवास्तविक और कृत्रिम है। इसके अनेक दोषो में से मुख्य दोष यह है कि इसका जीवन की परिस्थितियो के साथ घनिष्ठ सबध नही है, विभिन्न विषयो मे कोई एकसूत्रता नही है और न इसमे वातावरण के साथ बुद्धिपूर्वक सक्रिय रूप से अनुकूलता प्राप्त करने की कोई व्यवस्था ही है। यह बालक को अपने देश की सस्कृति से पृथक् रखती है। यह अनुशासन, सहयोग और नेतृत्व के उन बुनियादी गुणो को विकसित करने मे असफल रही है जो भविष्य के लिए उपयोगी नागरिक उत्पन्न करते हैं। इसने हृदय-सस्कार की उपेक्षा की है और बालक-बालिकाओ को शारीरिक श्रम के अयोग्य बनाया है। उन्ही के शब्दो मे "भारत की वर्त्तमान शिक्षा-योजना न केवल बेकार है, वरन् निश्चित रूप से हानिप्रद भी है। बहुत से बालक तो मानो अपने माता-पिता के लिए और अपने पारिवारिक पेशो के लिए खो ही जाते है। उनमे बुरी आदतें पड जाती है, वे शहरी ढग अपनाने लगते है, कुछ विषयो का भी उन्हे अल्प ज्ञान हो जाता है, पर इसे और जो कुछ भी कहा जाय, यह शिक्षा नही है।"

गाधीजी शिक्षा-सिद्धात की दृष्टि से वर्तमान शिक्षा के दोषो से तो परिचित थे ही, साथ ही व्यवहार की दृष्टि से भी उन्होने वर्तमान शिक्षा मे सुधार आवश्यक समझा। शिक्षा बालक के दैनिक जीवन से सबधित न थी, परिणामत बालको को इसमें कोई रुचि नही थी। वे विद्यालय में जो कुछ सीखते थे उसे विद्यालय छोडते ही भूल जाते थे। इससे समय, धन और शक्ति का दुरुपयोग होता था। इसके अतिरिक्त शिक्षको का वेतन अत्यत न्यून था और अध्यापन के लिए उनके पास साधन-सामग्रियो का नितात अभाव था। लोगो मे भी प्राइमरी शिक्षा के प्रति असतोष की भावना फैली हुई थी। अत सन् १९३७ ई० मे गाधीजी ने अपने जीवन के भिन्न-भिन्न समय पर किये गए शिक्षा-प्रयोगो के आधार पर प्राप्त विचारो को, राष्ट्रीय स्तर पर व्यवहार मे लाने के लिए वर्धा-शिक्षा-योजना मे निर्णयात्मक रूप दिया और 'हरिजन' मे उसे प्रकाशित किया। इस योजना का जन्म वास्तव में उन समस्याओ के समाधान की इच्छा के फलस्वरूप हुआ जो काग्रेस के सम्मुख उस समय उपस्थित हुई थी जब उसने सर्वप्रथम सन् १९३७ ई० मे प्रातो का शासन अपने हाथो मे लिया था। गाधीजी के सामने, सरकार की आर्थिक कठिनाइयो को ध्यान में रखते हुए, वर्तमान शिक्षा-पद्धति को उन्नत और सार्वभौम बनाने की समस्या थी। 'हरिजन' मे योजना के प्रकाशित होने के उपरात, २२, २३ अक्तूबर को

वर्धा मे अपनी ही अध्यक्षता मे होने वाली अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् मे गाधीजी ने अपने उद्‌घाटन-भाषण मे इस शिक्षा-योजना की मुख्य विशेषताओ को सामने रखा। परिषद् मे योजना पर अधिक समय तक विचार-विमर्श हुआ जिसमे डा० ज़ाकिर हुसैन, प्रो० के० टी० शाह, आचार्य विनोबा भावे, काका कालेलकर, महादेव देसाई आदि प्रसिद्ध शिक्षाविदो ने भाग लिया। परिषद् ने सर्वसम्मति से निम्नाकित प्रस्ताव स्वीकार किये —

(१) राष्ट्रीय स्तर पर सात वर्ष (७ से १४ वर्ष) तक बालको को निःशुल्क, अनिवार्य शिक्षा दी जाय।

(२) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

(३) इस काल मे किसी न किसी प्रकार का शारीरिक श्रम और उत्पादक कार्य शिक्षा का केन्द्र होना चाहिए। बालक की अन्य योग्यताओ को केन्द्रीय हस्तकला से सर्वांशत सबद्ध करके विकसित या प्रशिक्षित किया जाय। केन्द्रीय हस्तकला का चुनाव बालक के वातावरण को उचित रूप मे ध्यान मे रखकर किया जाय।

(४) शिक्षा की यह योजना धीरे-धीरे अध्यापक के पारिश्रमिक को पूरा करेगी।

परिषद् ने डा० ज़ाकिर हुसैन के सभापतित्व मे उपर्युक्त प्रस्तावो के अनुरूप एक विस्तृत पाठ्यक्रम प्रस्तुत करने के लिए एक समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने २ दिसबर सन् १९३७ ई० को तथा अप्रैल सन् १९३८ ई० को क्रमश अपने दो प्रतिवेदन प्रस्तुत किये। वर्धा-योजना जिस मूल रूप मे प्रस्तुत हुई वह डा० ज़ाकिर हुसैन के प्रथम प्रतिवेदन मे पूरी तरह प्राप्त होती है। मूल रूप मे यह योजना पाँच भागो में विभाजित है —

पहला भाग—योजना के आधारभूत सिद्धान्त, वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था, महात्मा गाधी का नेतृत्व, स्कूलो में हाथ का काम, योजना मे नागरिकता का आदर्श निहित, आत्मनिर्भर शिक्षा।

दूसरा भाग—ध्येय, बुनियादी हस्तकला, मातृभाषा, गणित, समाज की शिक्षा, साधारण विज्ञान, ड्राइग, सगीत और हिंदुस्तानी।

तीसरा भाग—अध्यापको की ट्रेनिंग का पूरा कोर्स और अध्यापको की ट्रेनिंग का छोटा कोर्स।

चौथा भाग—(क) निगरानी, (ख) परीक्षा।

पाँचवाँ भाग—शिक्षा के प्रशासन व सगठन की रूप-रेखा, प्रमुख हस्तकार्य कताई व बुनाई का विस्तृत पाठ्य-क्रम।

वर्धा-योजना की विशेषताएँ

गाधीजी कर्मयोग में विश्वास करते थे। व्यक्ति का सपूर्ण जीवन-क्रियाओ अथवा

कर्म पर आधारित है। कर्म को वास्तविक कर्म होने के लिए यज्ञरूप होना चाहिए। उसमे दूसरो के हित की भावना निहित होनी चाहिए। इस सिद्धात को यदि शिक्षा मे प्रयोग किया जाय तो यह अर्थ निकलता है कि बालक कर्म द्वारा सीखता है और वह कर्म वैयक्तिक न होकर सामाजिक जीवन से सबधित होना चाहिए। कर्म ऐसा होना चाहिए जो जीवन की आवश्यकताओ से संबद्ध हो अन्यथा व्यर्थ कर्म करने वाला व्यक्ति समाज पर भारस्वरूप हो जायेगा और इस प्रकार समाज का सगठन शिथिल हो जायेगा। ऐसी शिक्षा सार्थक न होगी। वर्धा-योजना मे गाधीजी ने कर्मयोग के इसी सिद्धात को व्यावहारिक रूप देने का प्रयत्न किया है। अत उन्होने योजना को क्रिया पर आधारित किया है। उनके विचार मे प्रारभिक शिक्षा व्यवसाय या हस्तकला-प्रशिक्षण के माध्यम से दी जानी चाहिए। शिक्षा के माध्यम के रूप मे जिस हस्तकला को लिया जाय, बालक को उसे बुद्धिपूर्वक क्रियान्वित करना चाहिए।

हस्त-कला केन्द्रित शिक्षा—वर्तमान शिक्षा के दोषो को ध्यान मे रखते हुए, गाधीजी का कहना है कि, " मै बालको की शिक्षा का आरभ उपयोगी हस्तकला की शिक्षा से करता और जिस समय से उनके प्रशिक्षण का आरभ होता उसी समय से उन्हे उत्पादन करने के योग्य बनाता। मेरा विश्वास है कि ऐसी ही शिक्षा-योजनाओ के द्वारा मन और आत्मा का उच्चतम विकास सभव है। प्रत्येक हस्तकला की शिक्षा आज की भाँति यान्त्रिक ढग से नही होनी चाहिए, अर्थात् बालक को जानना चाहिए कि प्रत्येक कार्य 'क्यो' और 'किसलिए' होता है।"† गाधीजी की वर्धा-योजना का यह आधारभूत अथवा सारभूत सिद्धात है। वह चाहते थे कि शिक्षा का केन्द्र या आधार ऐसी हस्तकला हो जो शिक्षा की दृष्टि से अनुकूल हो जिसका मनुष्य जीवन के आवश्यक कार्यो और रुचियो से स्वाभाविक सबध हो, और जो शिक्षा के पूरे पाठ्यक्रम मे लागू की जा सके। गाधीजी के अनुसार विद्यालय ऐसा नही होना चाहिए जिसमे बहुत से विषयो की शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा भी जुड़ी हो, वरन् जिसमे सभी प्रकार की शिक्षा व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से दी जाय। दूसरे शब्दो मे, हमे हस्तकला-प्रशिक्षण को साहित्यिक प्रशिक्षण के साथ सयुक्त नही करना है, वरन् हमे हस्तकला-प्रशिक्षण को साहित्यिक और बौद्धिक प्रशिक्षण का साधन बनाना है। यही कारण है कि गाधीजी शैक्षिक दृष्टि से अनुकूल हस्तकला को शिक्षा का केन्द्र बनाना चाहते है, 'जिसके आधार पर पाठ्यक्रम के सभी या अधिक से अधिक विषय पढाए जा सकें।' विद्यालयो मे हस्तकला अथवा व्यावसायिक प्रशिक्षण को स्थान देने से गाधीजी का यह मतव्य नही है कि विद्यालयो को कारखाने के रूप मे परिणित कर दिया जाय जहाँ बालक उत्पादन-कला मे लग जायँ या ऐसे कारीगर बन जायँ जो केवल मशीन की तरह काम करते हो। गाधीजी, 'करने द्वारा सीखने' मे विश्वास करते हैं। वह चाहते है कि बालक प्रत्येक कार्य का 'क्यो' और

† 'Harijan,' July 31, 1937

'किसलिए' शिक्षक द्वारा नही, वरन् अपने अनुभव के आधार पर जाने। इससे यह स्पष्ट है कि गाधीजी आवयविक शिक्षा और स्वय-शिक्षा मे आस्था रखते थे। इसके अतिरिक्त वह यह भी चाहते थे कि प्रत्येक विषय के सिखाने मे इस बात पर बल दिया जाना चाहिए कि सब मिल-जुलकर कार्य करे ।

गाधीजी विषयो के सहसबध पर भी बल देते थे। उनके अनुसार यदि पाठ्यविषय मे एक हस्तकार्य, कताई-बुनाई आदि को बढा दिया जायगा और अन्य विषय पुरानी पद्धति से ही पढाये जायेगे तो ज्ञान के खड खड हो जायँगे, विभिन्न ज्ञान मे सहसबध स्थापित न हो सकेगा और योजना का सपूर्ण उद्देश्य भग हो जायेगा। गाधीजी यह स्पष्ट करते है कि "क्योकि हमारा उद्देश्य बालक और बालिकाओ के व्यक्तित्व को व्यावसायिक शिक्षा के माध्यम से पूर्ण रूप से विकसित करना है, अत विद्यालय फैक्टरी या कारखाने मे परिणित होने से बचे रहेगे। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षण मे जिस मात्रा मे बालक और बालिकाओ से व्यावसायिक कुशलता की अपेक्षा की जायगी उसी के बराबर अन्य विषयो मे भी कुशल होने की उनसे अपेक्षा की जायगी।"† अत गाधीजी के विचार मे व्यवसाय अथवा हस्तकला को केन्द्र मानकर शिक्षा को उसी के चारो ओर घूमना चाहिए और उसी को आधार बनाकर पाठ्यक्रम का निर्धारण होना चाहिए।

वर्तमान शिक्षा-सिद्धात और व्यवहार मे, जो पाश्चात्य जगत् मे विकास हुए है उनसे, गाधी जी की 'क्रिया द्वारा शिक्षा' के आदर्श को समर्थन प्राप्त है। परतु गाधीजी के आदर्श से उनका एक महत्त्वपूर्ण मतभेद है। पाश्चात्य शिक्षाविद रूसो, पेस्टालाजी और फ्रॉबेल ज्ञान प्राप्त करने में बालक की क्रियाशीलता और अनुभव पर बल देते है, परतु गाधीजी उनसे इस प्रकार भिन्न है कि ज्ञान प्राप्त करने मे वह एक महत्त्वपूर्ण हस्तकला को निर्धारित करना चाहते है जिसके आधार पर बालक मे क्रियाशीलता और अनुभव का उदय हो। गाधीजी और उनके समर्थको का यह दावा है कि हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा मनुष्य के पूर्ण विकास का साधन है और यह बालक की क्रियाशीलता को निरर्थक नष्ट या समाप्त होने से बचाती है। यह बाल-प्रकृति की दृष्टि से भी एक उपयुक्त पद्धति है क्योकि यह उनको निरे मानसिक ज्ञान के बोझ से बचाती है और शिक्षा स्वय नीरस होने के दोष से बच जाती है। हस्तकला के द्वारा हाथ और मस्तिष्क की शिक्षा साथ-साथ होती है और बालक केवल छपे हुए अक्षरो को पढना ही नही सीखते, वरन् साथ-साथ अपने हाथ और मस्तिष्क के द्वारा कोई लाभदायक काम करना भी सीख जाते है। सामाजिक दृष्टि से हस्तकला सबधी कार्य मे जब सब जातियो के बच्चे मिल-जुलकर कार्य करेंगे तो जात-पाँत के बधन टूट जायँगे। हाथ का काम करनेवालो और बौद्धिक कार्य करने वालो मे एक दूसरे मे जो बैर है, जो दोनो के लिए अहितकर है, वह जाता रहेगा। यही पद्धति

† 'Harijan,' October 30, 1937

एक उपयुक्त साधन है जिसके द्वारा सबके हृदय मे शारीरिक श्रम के प्रति सच्चा आदर और सब मनुष्यो मे एकता का भाव उत्पन्न होगा। राष्ट्र की आय की दृष्टि से इसके द्वारा शारीरिक श्रम करने वालो मे धनार्जन की शक्ति की वृद्धि होगी और वे अपने अवकाश-समय का भी लाभ उठा सकेगे। शिक्षा के दृष्टिकोण से हस्तकला द्वारा प्रशिक्षण बालको के ज्ञान को ठोस बनायेगा। शिक्षा जीवन से सबधित हो जायेगी और शिक्षा के विभिन्न पहलू एक दूसरे से सहसबधित हो जायँगे।

हस्तकला के माध्यम से मस्तिष्क, हृदय और हाथ को सर्वतोभावेन प्रशिक्षित करने की गाधीजी की प्रणाली, जो वास्तविक परिस्थितियो मे बालक को सोद्देश्य क्रिया करने के लिए प्रेरित करती है, अपने स्वभाव मे डीवी की 'प्रोजेक्ट प्रणाली' के पूर्णतया निकट है। गाधीजी जिस विद्यालय की कल्पना करते है वह कार्य करने, प्रयोग करने और यहाँ तक कि खोज अथवा आविष्कार करने का स्थान होगा, रटने, शब्दो से बोझिल निष्क्रिय सूचनाओ को ग्रहण करने का स्थान नही। गाधीजी रटने की पद्धति एव किताबी ज्ञान के बहुत विरुद्ध है क्योकि इनसे बालको की रचनात्मक प्रवृत्ति का ह्रास होता है। डीवी की भाँति गाधीजी भी प्रयोगवाद मे विश्वास करते है। उनके सभी शिक्षा सिद्धात केवल उनके उर्वर मस्तिष्क के विचार-मात्र नही है, वरन् वे वास्तविक प्रयोग के आधार पर निर्धारित किये गये है। कार्य के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने की यह शिक्षण-पद्धति प्रकृतिवादी और प्रयोजनवादी सिद्धातो पर आधारित है।

शिक्षा आत्मनिर्भर—हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा मे गाधीजी की योजना की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है हस्तकला का आत्मनिर्भर पक्ष। गाधीजी का विश्वास है कि बालक के व्यक्तित्व का विकास करने के साथ ही, हस्तकला शिक्षा को आत्मनिर्भर बनाती है। शिक्षा के आत्मनिर्भर पक्ष को दो अर्थो मे लिया जा सकता है—व्यक्ति के जीवन को भविष्य मे आत्मनिर्भर बनाने वाली शिक्षा और ऐसी शिक्षा जो स्वय आत्मनिर्भर है। पहले अर्थ मे शिक्षा से गाधीजी का तात्पर्य है, 'शिक्षा को बेकारी के विरुद्ध एक प्रकार से इश्योरेंस होना चाहिए।' दूसरे अर्थ मे शिक्षा इसलिए आत्मनिर्भर है कि बालको के हस्तकला और उत्पादक कार्यों से शिक्षक के वेतन का व्यय पूरा पड सकता है। गाधीजी इस विषय मे आश्वस्त हैं कि प्रत्येक विद्यालय आत्मनिर्भर हो सकता है, किन्तु शर्त यह है कि इन विद्यालयो मे बनी हुई वस्तुओ को राज्य खरीद ले। यहाँ हमे यह स्मरण रखना चाहिए कि गाधीजी हस्तकला को यान्त्रिक ढग से सीखने के पक्ष मे नही थे। बालक द्वारा वह 'उत्पादन' के लिए उत्पादन नही चाहते थे। वह श्रम को महत्ता प्रदान करते है, ईमानदारी के साथ जीविकोपार्जन चाहते है और शिक्षा के रूप एव माध्यम को बदलना चाहते है। उनके लिए पाठशाला मे श्रम का महत्त्व केवल आत्म-सहायता या वहाँ के कार्य करने तक सीमित नही है। विद्यालय मे किये गये श्रम या दूसरे शब्दो मे, सीखे जाने वाले व्यवसाय का आर्थिक मूल्य भी होना चाहिए, उनके इस विचार को जॉन डीवी का समर्थन

प्राप्त है। डीवी के अनुसार, "यह आरोप लगाना कि बागवानी, कताई, लकडी की चीजें बनाना, धातु की चीजें बनाना, भोजन बनाना आदि विभिन्न क्रियाएँ जो आधारभूत मानव-क्रियाओ को विद्यालयो मे प्रवेश कराती है, उनका महत्त्व केवल जीविका के लिए है, यह उनके महत्त्व को न समझना है। यदि अधिकतर मनुष्यो ने औद्योगिक कार्यों मे केवल बुराइयाँ पाई है, परतु जीवन के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए उन्हें सहा है तो दोष उन धधो मे नही है, वरन् उन परिस्थितियो का है जिनके भीतर उन्हे सम्पादित किया गया है। समकालीन जीवन मे आर्थिक तथ्यो (Economic factors) का निरतर बढता हुआ महत्त्व इसे और आवश्यक बना देता है कि शिक्षा उनके वैज्ञानिक पाठ्य विषय और सामाजिक मूल्य को व्यक्त करे।"†

आत्मनिर्भर शिक्षा के मूल मे गाधीजी के अहिसा-दर्शन की स्थिति है। भारत इतना धनी देश नही है कि वह अमेरिका और इगलैण्ड की भाँति शिक्षा पर करोडो रुपया व्यय कर सके। अमेरिका और इगलैण्ड ने शोषण द्वारा धन-सग्रह किया है। हम भारतीय, शोषण की बात सोच भी नही सकते है, अत हमारे पास आत्मनिर्भर शिक्षा योजना ही एक मार्ग है। यही एकमात्र और सर्वाधिक प्रभावकारी साधन है जिसके द्वारा हम अहिंसात्मक व्यवस्था और शातिपूर्ण सामाजिक क्राति कर सकते है। इसी के आधार पर हम आध्यात्मिक समाज का निर्माण कर सकते है जहाँ आज के समाज की भाँति व्यक्ति एक दूसरे से होड नही करेगा, जहाँ व्यक्ति एक दूसरे को लूटेगा या दबायेगा नही, वरन् सब मिलकर काम करेंगे। गाधीजी का कहना है कि पाश्चात्य योजना की तुलना मे, भारतीय शिक्षा योजना कुछ बातो मे उससे बिल्कुल भिन्न होगी क्योकि भारत के जीवन का मार्ग ही भिन्न है। भारत मे हर प्रकार की स्वतत्रता-प्राप्ति का मार्ग अहिसात्मक रहा है, यही कारण है कि शिक्षा द्वारा बालको को यह सिखाने की आवश्यकता है कि अहिसा का मार्ग हिंसा के मार्ग से अच्छा है।

नागरिकता का आदर्श—गाधीजी इस बात पर बल देते है कि अध्यापकगण जिन पर इस योजना को चलाने का भार है उन्हे नागरिकता के उस आदर्श को भली-भाँति समझ लेना चाहिए जिस पर यह योजना आधारित है। नए भारत की कल्पना करते हुए जिसके सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सभ्य जीवन मे प्रजातन्त्र की भावना का दिनो दिन विकास होगा, गाधीजी चाहते है कि बालको को पर्याप्त अवसर मिलने चाहिए कि वे अपने देश की समस्याओ पर विचार करें और अपने कर्त्तव्य एव अधिकार को समझें। बालको को समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य को किसी लाभदायक सेवा द्वारा पूरा करना चाहिए। वह शिक्षा, जो निकम्मे बालको का निर्माण करती है चाहे वे अमीर हो या गरीब, हेय है। ऐसी शिक्षा समाज की श्रम करने और उत्पादन करने की शक्ति को क्षति ही नही पहुँचाती, बल्कि लोगो के विचार और आदतो को भी बिगाडती है। हस्त-

†'Democracy and Education', pp. 234, 235

कला-केन्द्रित शिक्षा बालक को कर्मठ एव क्रियाशील बनायेगी, बालक को अपने पैरो पर खडा होना सिखायेगी। इससे बालक को अपनी महत्ता का पता लगेगा और बालक मे अपने को उन्नत करने की भावना का सचार होगा।

गाधीजी का कहना है कि भलीभाँति चुना हुआ हस्तकला-विषय जहाँ ज्ञान को पूर्ण बनाता है वहाँ विद्यालय और जातीय जीवन मे आवश्यक सबध भी स्थापित करता है। उनके अनुसार बालक को सभी प्रकार की हस्तकला की शिक्षा, उसके सामाजिक एव भौतिक वातावरण-सबधी जीवन की ठोस परिस्थितियो के माध्यम से दी जानी चाहिए ताकि बालक जो कुछ भी सीखता है वह उसकी बढती हुई क्रियाशीलता के साथ आत्म-सात होता जाय। गाधी जी कहते है कि हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा के कार्यक्रम मे बालक सक्रियतापूर्वक ज्ञानार्जन करता है, और अपने सामाजिक वातावरण के समझने और उस पर भली प्रकार नियत्रण प्राप्त करने मे उस ज्ञान का उपयोग करता है। इस सबध मे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि बालक अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करता है। यह योजना सहकारी क्रिया-कलापो का पक्ष लेती है और इस प्रकार सामा-जिक प्रशिक्षण के अवसर प्रदान करती है जिससे सामाजिक कार्यकुशलता आती है। सामाजिक दृष्टि से उपयोगी उत्पादन-कार्य जिसे अन्य बालको के मधुर सहयोग से पूरा किया जाता है, बालक के मन मे सामाजिक सेवा की महत्ता और व्यक्तिगत कार्यकुशलता की भावना भरता है। यह बालक के कोमल मन मे सहयोग की भावना को प्रबल और स्थायी बनाता है। उसे इस बात की चेतना होती है कि उसने अपनी थोडी-सी देन दूसरो के कल्याण के लिए दी है। इस प्रकार उसकी सामाजिक चेतना जागृत होती है, दूसरे शब्दो मे उसकी चेतना का समाजीकरण होता है।

पाठ्यक्रम

बेसिक शिक्षा-प्रणाली का पाठ्यक्रम ७ वर्ष का होगा। यह ७ से १४ वर्ष तक के बालक और बालिकाओ के लिए निर्धारित किया गया है। पाँचवी कक्षा तक सह-शिक्षा का आयोजन किया गया है। इसके उपरात यद्यपि बालक और बलिकाओ के लिए पाठ्यक्रम समान है फिर भी बालिकाओ के लिए सामान्य-विज्ञान के स्थान पर गृह-विज्ञान की शिक्षा की व्यवस्था की जायगी। पाठ्य-क्रम की रूपरेखा निम्न प्रकार है :—

(१) साधार हस्त-कौशल . यह हस्तकौशल इस दृष्टिकोण से चुना जाना चाहिए कि पूरी शिक्षा प्राप्त करने पर भविष्य में वह बालक के जीवन-यापन का साधन हो सके, जैसे—(क) कताई-बुनाई, (ख) बढईगीरी, (ग) खेती, (घ) फल तथा वनस्पति की उद्यान-कला, (ड) चमडे का काम, (च) भौगोलिक तथा स्थानीय परिस्थितियो के अनुसार कोई अन्य हस्तकला।

(२) **मातृ-भाषा** सभी प्रकार की शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होगी। सात साल के पाठ्यक्रम के अध्ययन के उपरात निम्नलिखित उद्देश्यो की पूर्ति होनी चाहिए— (क) मातृभाषा पर बालक को इतना अधिकार प्राप्त कर लेना चाहिए कि वह इसके माध्यम से अपने जीवन मे नित्य-सबध मे आनेवाली वस्तुओ के बारे मे मौखिक और लिखित रूप से अपने विचार प्रकट कर सके। (ख) वह दैनिक समाचार-पत्र व मासिक पत्रो को सरलता से पढ व समझ सके। (ग) वह गद्य और पद्य को ध्यान से पढकर, उनसे आनद-लाभ कर सके। (घ) वह शब्दकोष, किताबो की विषय-सूचिका (Index), सदर्भ पुस्तको का उपयोग करना जान ले और अपने ज्ञान की वृद्धि तथा आनद की प्राप्ति के लिए पुस्तकालयो को काम मे ला सके। (ङ) वह स्पष्ट ढग से, ठीक-ठीक, और साथ ही तीव्र गति से रात-दिन की घटनाओ का वर्णन लिख सके। (च) वह अपनी निज की व कारो-बार की चिट्ठी-पत्री लिख सके। (छ) वह उच्च कोटि के लेखको और कवियो की रचनाओ को पढ और समझ सके।

(३) **गणित** . इसका उद्देश्य बालको को अपने जीवन के धधे—चाहे वे घरेलू हो या सामाजिक—से सबधित हिसाब-किताब करने योग्य बनाना है। इस ध्येय की प्राप्ति के लिए, सादा जोड, गुणा, भाग, दशमलव, त्रैराशिक, ब्याज, क्षेत्रफल, अमली ज्यामिति आदि का ज्ञान पर्याप्त है। गणित के विविध प्रक्रमो को साधार हस्तकौशल सीखते समय उत्पन्न होने वाली परिस्थितियो से भी सबधित होना चाहिए।

(४) **समाज का ज्ञान** . इसके उद्देश्य हैं—(१) सामान्यत मनुष्यमात्र की उन्नति और विशेषकर भारत की प्रगति की ओर रुचि उत्पन्न करना, (२) बालक को इस योग्य बनाना कि वह अपने समाज की और भोगोलिक परिस्थिति को समझ सके और उसमे सुधार कर सके, (३) देश के प्रति प्रेम जागृत करना, बालक अपने देश के अतीत का आदर करे और प्रेम एव सचाईपूर्वक सब से मिलकर देश की भलाई कर सके, (४) नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार का ज्ञान प्राप्त कर सके, (५) वह विश्वासी मित्र और पडोसी बन सके, (६) ससार के सभी धर्मों के प्रति आदर का भाव उत्पन्न कर सके। इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए इतिहास, भूगोल और नागरिक शास्त्र का ज्ञान निम्नाकित विधि से दिया जाना चाहिये —

१ छोटी कक्षाओ मे बालको को विश्व का मानचित्र दिखाना चाहिए और उन्हे महापुरुषो की जीवनियाँ पढायी जानी चाहिए। उच्च कक्षाओ में सामाजिक, सास्कृतिक उथल-पुथल एव प्रगति का अध्ययन कराना चाहिए। इतिहास की शिक्षा इस प्रकार न दी जानी चाहिए कि बालक अपने अतीत के गौरव पर फूल कर अपनी जाति पर घमड करने लगे और फलस्वरूप दूसरी जाति के लोगो को अपने से निम्न समझे। राष्ट्रीय त्यौहार और सप्ताह मनाना प्रत्येक पाठशाला के कार्यों का एक आवश्यक अग होना चाहिए।

२ बालको को पचायत, जिला-परिषद्, नगरपालिका आदि सार्वजनिक सस्थाओ का ज्ञान कराया जाना चाहिए। उन्हे मालूम होना चाहिए कि मत (Vote) क्या है और उसका उपयोग कैसे किया जाता है। राज्य-सभाओ से लाभ और उनकी प्रगति पर प्रकाश डालना चाहिए। इन बातो का ज्ञान केवल मौखिक रूप से नही, वरन् जीवन की वास्तविक घटनाओ से सबधित होना चाहिए। भूगोल पढाते समय बालको को विश्व के मानचित्र मे भारत की स्थिति तथा अन्य देशो से उसका सबध बताया जाना चाहिए। इसमे निम्नाकित बातो पर ध्यान देना चाहिए —

(क) भारत और अन्य देशो के पौधो, पशुओ और मनुष्यो का वर्णन और जलवायु का प्रभाव,

(ख) मौसम का हाल समझना और समझाना, (यह बाहर का काम है, जैसे सूर्य को देखकर प्रत्येक मौसम मे उसकी ऊँचाई का पता लगाना, हवा की दिशा बतानेवाले यत्र से हवा की दिशा मालूम करना, थर्मामीटर और बैरोमीटर से हवा का उष्णता और चाप को मालूम करना, उसको लिखने और बताने के ढग, वर्षा का हिसाब रखना आदि)

(ग) मानचित्र देखने और बनाने की क्षमता बालको मे आनी चाहिए।

(घ) आनेजाने और सवाद-वाहन के साधनो का ज्ञान तथा उनका जीवन और कारोबार से सबध जानना चाहिए।

(ड) स्थानीय पेशो, खेती और उद्योग का हाल ज्ञात होने के साथ-साथ भारत के बडे-बडे उद्योग-धधो का भी ज्ञान होना चाहिए।

(५) साधारण विज्ञान—इसके उद्देश्य है—१ बालक को इस योग्य बनाना कि वह अपने आस-पास के जगत् को समझ सके। २ वह ठीक-ठीक वस्तुओ का निरूपण कर सके और उन्हे अनुभव द्वारा जाँचे। ३ वह वैज्ञानिक सिद्धातो को समझ सके, ४ प्रसिद्ध वैज्ञानिको के जीवन-चरित को जाने और समझे कि उन्होने ज्ञान की वृद्धि के लिए कितना बलिदान किया है।

पाठ्य-क्रम मे विज्ञान के निम्नलिखित विषय सम्मिलित होने चाहिए —

१. प्रकृति-निरीक्षण वनस्पति, पक्षी और चौपायो का ज्ञान और विशेष ऋतु मे होने वाली खेती का ज्ञान ,
२ वनस्पति-शास्त्र पौधो के अगभेद, उनका उगना, बढ़ना और फैलना। विद्यालय की फुलवारी एव उपवन मे तथा आसपास के खेतो में काम कर। कर बच्चो को यह समझाना कि तरी, गरमी और प्रकाश की भिन्न दशाओ का और भिन्न प्रकार के बीज और खाद का क्या प्रभाव पड़ता है।
३ पशु-विज्ञान · कुछ विशेष प्रकार के कीडे-मकोडो, चौपायो और पशुओ के के बारे मे यह जानना कि इनमें से कौन से मनुष्य के मित्र व कौन से शत्रु है।

४ शरीर-विज्ञान मनुष्य का शरीर, उसके अग और उनके कार्य ।

५ स्वास्थ्य-रक्षा तथा रसायन-शास्त्र (अ) आँख, नाक, कान आदि की स्वच्छता, (आ) घर और गाँव की सफाई, (इ) छुआछूत के रोग और उनसे बचने के उपाय तथा (ई) व्यायाम, खेल, कसरत, ड्रिल आदि से स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। (उ) रसायन-शास्त्र जल, वायु, नमक, खार, तेज़ाब क्या है और कैसे बनते है। (ऊ) तारो का ज्ञान जिससे रात को मार्ग पहचान सकें (ए) वैज्ञानिको और नये देश ढूंढने वालो की कहानियाँ ।

(६) कला (ड्राइग) इसके उद्देश्य है—(१) आँखो को आकृति और रग पहचानने और रगभेद करने का अभ्यास, (२) आकृतियो को याद रखने का अभ्यास, (३) प्रकृति और कला की सुदर वस्तुओ को जानना और उनसे आनद उठाना, (४) वस्तुओ की सुदर आकृति सोचना और सजावट का काम , (५) दस्तकारी मे जो वस्तुएँ बनानी हो उनका चित्रण । इन उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि बालक देखकर एव सोचकर आकृतियाँ बनायें ।

(७) सगीत इसका उद्देश्य है कि बच्चे अच्छे, सुदर गीत कठस्थ करें और लय तथा ताल के साथ गा सकें । सामूहिक गान पर विशेष बल दिया जाय ।

(८) हिंदुस्तानी इसको पढाने का उद्देश्य है कि बालक सब प्रातो के साथ एक भाषा मे सबध रख सके और एक दूसरे के विचारो को जान सकें ।

इस योजना में अग्रेज़ी भाषा को कोई स्थान नही दिया गया है। इसके स्थान पर हिंदुस्तानी भाषा पढायी जायेगी । विभिन्न प्रातो मे प्रमुख भाषा के रूप मे वहाँ की प्रादेशिक भाषा सिखायी जायेगी । गाधीजी के मत मे यह पाठ्य-क्रम अग्रेज़ी को छोडकर प्रचलित हाई स्कूल के बराबर होगा । धार्मिक शिक्षा को वर्धा-योजना के पाठ्य-क्रम मे स्थान नही दिया गया है । उन्ही के शब्दो मे, 'हमने वर्धा-शिक्षा-योजना मे से धर्म का बहिष्कार कर दिया है क्योकि हमे भय है कि आज जिन धर्मों की शिक्षा दी जाती है अथवा जिनका पालन करना होता है वे मेल के स्थान पर झगडे उत्पन्न कराते है । साथ ही मेरा बिश्वास है कि बच्चो को ऐसी शिक्षा अवश्य देनी चाहिए जिसमें सभी प्रमुख धर्मों का सार निहित हो । यह धर्म-सार केवल शब्दो और पुस्तको से नही पढाया जा सकता, इसे तो बालक केवल शिक्षक की दैनिक जीवनचर्या से ही सीख सकता है ।' गाधीजी बालको को स्वावलबन के धर्म का पाठ सिखाना चाहते थे ।

अध्यापकों का प्रशिक्षण

बेसिक शिक्षा-प्रणाली मे शिक्षक एक मध्य-बिंदु है । शिक्षक के व्यक्तित्व पर ही योजना की सफलता निर्भर है, अत इसमे अध्यापको के प्रशिक्षण की भी व्यवस्था की गयी है । प्रशिक्षण का पाठ्य-क्रम दो प्रकार का है ,

दीर्घकालीन प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम (तीन वर्ष का)

(१) कपास का बोना, चुनना, धुनना, चर्खे का ज्ञान , विभिन्न प्रकार के मिस्त्री के काम ।

(२) बुनियादी उद्योगो मे से कोई एक उद्योग सीखना ।

(३) साधारण हस्तकला की शिक्षा देना सीखना जिससे कुछ उत्पन्न हो ।इसके लिए एक रूप रेखा बना लेनी चाहिए जैसे, पाठशाला का समाज से सबध , बच्चो की तबियत के ज्ञान का एक सादा मानचित्र जो अनुभव और घटनाओ पर आधारित हो, वह सिद्धात जिनके आधार पर मनुष्य काम सीखता है, आदि ।

(४) शरीर-विज्ञान स्वास्थ्य एव स्वच्छता का ज्ञान होना ।

(५) जो कुछ समाज-सबधी ज्ञान साधारण शिक्षा मे पढाया गया हो उसकी पुनरावृत्ति करना और उससे आगे पढाना , पिछले पचास वर्ष के अदर भारत और विश्व के अन्य भागो का हाल जानना ।

(६) मातृभाषा का ज्ञान ।

(७) हिदी का ज्ञान—भारत के प्रत्येक भाग मे फारसी और नागरी दोनो पत्रो को पढना ।

(८) श्यामपट पर लिखना और चित्र बनाना ।

(९) शारीरिक व्यायाम और खेल ।

(१०) प्रशिक्षण विद्यालय से सबधित स्कूल मे पढाना ।

अल्पकालीन प्रशिक्षण का पाठ्य-क्रम (एक वर्ष का)

(१) धुनाई और तकली की कताई ।

(२) कोई एक हस्तकला जो समाज की दृष्टि से लाभदायक हो ।

(३) शरीर-विज्ञान ।

(४) हस्तकला और समाज के जीवन से उसके सबध का बुनियादी विचार । (थोडा इतिहास, भूगोल) ।

(५) सब विषयो को हस्तकला के द्वारा पढाने के सरल मानचित्र सोचना ।

(६) अध्यापको के निरीक्षण मे कम-से-कम २५ पाठ पढाना ।

प्रशिक्षण विद्यालय में प्रवेश पाने के लिए उम्मीदवार को कम-से-कम हाई स्कूल होना चाहिए या वर्नाक्यूलर फाइनल मिडिल पास होने के बाद दो वर्ष के अध्यापन का अनुभव होना चाहिए । एक वर्ष का पाठ्यक्रम योजना को शीघ्र-से-शीघ्र सचालित करने के लिए रखा गया है ।

पाठन की समय-सारणी

विषय	निश्चित समय
केन्द्रीय हस्तकला	३ घटे, २० मिनट
सगीत, चित्रकला, गणित	४० मिनट
मातृभाषा	४० मिनट
सामाजिक अध्ययन और समाज-विज्ञान	३० मिनट
शारीरिक प्रशिक्षण	१० मिनट
मध्यावकाश	१० मिनट
	५ घटे, ३० मिनट

वर्धा-शिक्षा-योजना पर एक आलोचनात्मक दृष्टि†

वर्धा शिक्षा-योजना के सबध मे विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है। गाधी जी की अध्यक्षता मे वर्धा मे जो अधिवेशन हुआ था, उसमे चार मुख्य सिद्धात स्वीकृत हुए थे, उन्ही को विस्तृत रूप देने के लिए 'जाकिर हुसैन समिति' ने जब अपना प्रथम प्रतिवेदन प्रस्तुत किया तब योजना पर विभिन्न दृष्टिकोणो से कडी आलोचनाएँ की गयी। इन आलोचनाओ का आधिकारिक रूप से उत्तर दिया गया। तत्पश्चात् समिति ने दूसरा प्रतिवेदन प्रकाशित किया। समिति जब विस्तृत कार्यक्रम बनाने बैठी तब उसने स्वावलबन सबधी नियमो का बधन सरल कर दिया, हस्तकला को केवल ज्ञानार्जन का साधन स्वीकार किया और जैसा पहले कहा जा चुका है कताई-बुनाई के अतिरिक्त अन्य हस्त-कलाओ को भी पाठ्यक्रम मे सम्मिलित किया। सूत्ररूप में योजना की विशेषताएँ इस प्रकार है —

(१) हस्तकौशल-केन्द्रीयता,
(२) आत्मनिर्भरता,
(३) मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा, तथा
(४) उच्च शिक्षा के प्रति अवज्ञा।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि गाधीजी की अध्यक्षता मे जो प्रथम अधिवेशन हुआ था उसमे भाग लेने वाले सदस्य सभी सूत्रो पर सहमत नही थे। सभी ने आत्म-निर्भरता के विचार का विरोध किया। उनमें से अधिक लोगो ने चौथे सूत्र का खडन किया कि राज्य अपने को उच्च शिक्षा के प्रति उत्तरदायी न समझे। केवल तीसरे सूत्र—

† P S Naidu The Wardha Scheme A Psychological Analysis, 'The Visva-Bharati Quarterly,' May-Oct 1947, pp. 60-67, के आधार पर।

मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा—का सबने एक मत होकर समर्थन किया, किन्तु अत मे चारो सूत्र स्वीकार किये गये और दोनो प्रतिवेदन प्रकाशित हुए। इन दोनो प्रतिवेदनो को ध्यान मे रखते हुए योजना पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है —

बालमनोविज्ञान की उपेक्षा—योजना बालमनोविज्ञान के सिद्धातो पर आधारित नही है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शिक्षा प्रयुक्त मनोविज्ञान (**Applied Psychology**) की एक शाखा है। राष्ट्रीय स्तर पर, बिना प्रयोगात्मक मनोविज्ञान (**Experimental Psychology**) के ठोस प्रशिक्षण की सार्वभौम अनिवार्य शिक्षा की योजना बनाना ऐसा ही है जैसे बिजली के तत्वो और इजिनियरिंग के ज्ञान के बिना प्रसार-केन्द्र (**Broadcasting Station**) की योजना बनाना। यह आश्चर्यजनक बात है कि वर्धा-योजना मे अध्यापको के प्रशिक्षण का जो कार्य है, उसमे बालमनोविज्ञान का कही नाम नही है। योजना मे किसी स्थान मे भी बालमनोविज्ञान के महत्व को स्वीकार करने का प्रमाण नही मिलता। उसमे बालक के कोमल मन-सबधी सिद्धातो की पूर्ण रूप से अवहेलना की गयी है। बालक को एक पुलिसमैन या सिपाही के रूप मे अर्थात् एक ही समजातीय समूह का एक अग समझा गया है, उसके बहुमूल्य व्यक्तित्व की उपेक्षा की गयी है। बालक को कुछ उद्देश्यो की पूर्ति का साधन-मात्र माना गया है और वे उद्देश्य हैं—जीविका कमाने की क्षमता तथा विशेष प्रकार की नागरिकता। योजना मे यह भी स्वीकार नही किया गया है कि जीविकोपार्जक यन्त्र बनने के पूर्व बालक को मानव होने या मानव की भाँति विकसित होने का भी अधिकार है। यदि बेबस बालको के आधारभूत अधिकारो को मान्यता प्रदान की गयी होती तो यह शिक्षा-योजना हस्तकौशल केन्द्रित न होकर खेल-केन्द्रित अथवा बाल-केन्द्रित होती। अत इस योजना की तुलना उन शिक्षा-विदो की पद्धतियो से करना ठीक न होगा जो बालप्रेमी थे और बालको को शिक्षा-पद्धतियो के कृत्रिम बधनो से मुक्ति दिलाना चाहते थे।

बाल-केन्द्रित शिक्षा की प्रथम आवश्यकता है कि वे अध्यापक, जिन्हे बालको के सपर्क में आना है, बालमनोविज्ञान मे पूर्णतया शिक्षित हो। बाल-केन्द्रित शिक्षा वही है जिसमें बालक की व्यक्तिगत योग्यता को परीक्षण द्वारा समझकर, उसे ठोस मनोवैज्ञानिक विधियो द्वारा भली-भाँति विकसित किया जाता है। प्रत्येक बालक की योग्यता की माप के लिए उसकी सामान्य बुद्धि और योग्यता की जाँच की जाती है। ऐसी शिक्षा में, हस्तकला को (यदि हस्तकला सिखानी ही है तो) मनोवैज्ञानिक जाँच के उपरात ही, बालक की योग्यता के सदर्भ मे चुनना होता है, और इस हस्तकला को भी उसके खेल का एक साधन होना चाहिए, पैसे कमाने का धधा नही। बाल-केन्द्रित शिक्षा वही है जिसमे अतिसामान्य या तेज और पिछड़े हुए बालक अपनी योग्यता के अनुसार विशिष्ट शिक्षा प्राप्त करें, जिसमें बालक की अतिशय गतिशील शक्ति का विभिन्न मार्गों मे निर्देशन किया जाये और विभिन्न प्रकार के खेलो के आयोजन द्वारा उसे थकान का अनुभव न होने दिया जाय। वर्धा-

शिक्षा-योजना बाल-केन्द्रित शिक्षा की इन मान्यताओ को पूरा नही करती है, अत उसे बाल-केन्द्रित शिक्षा नही कहा जा सकता है।

वर्धा समय-सारणी से भी मनोवैज्ञानिक सिद्धातो की उपेक्षा का पता चलता है। यदि मानसिक और शारीरिक थकावट के नियमो का भी ध्यान रखा गया होता, तो भी साढे तीन घटे प्रतिदिन हस्तकला के एक तारतम्य मे चलने वाले काम मे बालक को लगाने का सुझाव न दिया गया होता।

उत्पादक कार्य बनाम सृजनात्मक कार्य—वर्धा-शिक्षा-योजना के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि इसका सपूर्ण कार्यक्रम इसके विभिन्न पहलुओ से सबधित भ्रमात्मक विचारो के कारण दोषपूर्ण हो गया है। सबसे बडा भ्रम, 'उत्पादक-कार्य' के सबध मे है। वर्धा-योजना के प्रयोग कर्त्ताओ ने 'उत्पादक कार्य' की जो परिभाषा की है उसे बाल-मन को मुक्त करने वालो ने 'सृजनात्मक कार्य' के सर्वथा प्रतिकूल माना है। प्रथम प्रकार के कार्य का सबध यात्रिक हस्तकला से है और दूसरे प्रकार के कार्य का सबध सौदर्य-शास्त्रीय कला (Aesthetic art) से। प्रथम कोटि के कार्य यात्रिक मनोवृत्ति उत्पन्न करेंगे तथा दूसरी कोटि के स्वतत्र सौदर्य-शास्त्रीय मनोवृत्ति। व्यक्तित्व का दमन, घोर आत्म-हनन, नीरसता, थकावट उत्पन्न करना आदि प्रथम प्रकार के कार्य की विशेषताएँ है। व्यक्तित्व का स्वतत्र प्रकाशन, रचनात्मक एव आविष्कारिणी शक्ति की मुक्ति, बिना किसी भय के प्रयोग करने की स्वतत्रता, प्रकृति के अनुकूल चरित्र का निर्माण सृजनात्मक कार्य की विशेषताएँ है। खेल ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा सृजनात्मक शक्ति को विकसित किया जा सकला है। सारे सभ्य ससार के शिक्षित वर्ग की यही राय है कि बालको को बारह वर्ष के पूर्व हस्तकला की शिक्षा न दी जाय। यह बालक के प्रति अत्याचार है कि उसे अपने खेलने और आनद करने की अवस्था मे एक आना या आध आना भी फी घटे कमाना पडे।

वर्धा-प्रतिवेदन इस बात को स्वीकार करता है कि 'तेरह वर्ष की अवस्था तक बालक बनाना बिगाडना चाहते है, तोडना-फोडना और फिर निर्माण करना चाहते है। प्रकृति इसी प्रकार उन्हे शिक्षा देती है। बालको से एक स्थान पर पुस्तक लेकर बैठे रहने के लिए कहना उनके प्रति अत्याचार करना है। यह बात सच है, किंतु साढे तीन घटे तक एक ही स्थान पर बैठ कर चर्खा चलाना क्या बालक के शरीर और मन के प्रति अन्याय करना नही है ? बालक को इतनी स्वतत्रता मिलनी चाहिए कि वह चर्खा व तकली को विविध प्रकार से तोडे फोड़े, बनाये या बिगाडे। बालक को उत्पादक कार्यों द्वारा प्रति घटा आध आना कमाने के लिए भी बाध्य नही करना चाहिए।

हस्तकला और प्रतियोगिता—वर्धा-योजना मे, दूसरा भ्रम, उसमे कथित 'प्रतियोगिता' से संबधित है। योजना के सबसे प्रथम अधिवेशन में ही प्रो०के०टी०शाह ने बताया था कि वर्धा-योजना का परिणाम होगा व्यावसायिक ढग पर कार्य करनेवालो से अनुचित

प्रतियोगिता । एक अनुभवी और महान वैज्ञानिक प्रो० शाह के इस विचार को अस्वीकार नही किया जा सकता । इस योजना के कार्यान्वित होने का तात्कालिक परिणाम होगा वर्धा-शिक्षा-के स्नातको और व्यवसायी शिल्पियो के बीच प्रतिद्वद्विता । लेकिन एक और प्रकार की प्रतियोगिता की भावना भी इसमे निहित है। जब सभी गाँवो के सभी लडके शिल्पी हो जायँगे तब मजदूरी कमाने के लिए उनमे आपस मे ही प्रतियोगिता होगी—कताई-बुनाई के क्षेत्र मे । जब कातने और बुनने वालो की सख्या बढ जायेगी, तब शिक्षित बुनकरो और कातने वालो की वस्तुओ की बिक्री मे कमी होगी और बेकारी बढेगी ।

यह व्यर्थ की आशा है कि वर्धा-योजना से समाज में वर्गहीनता स्थापित होगी और प्रतिद्वद्विता समाप्त होगी । हस्तकला मे पैसे पर अधिक बल देने का परिणाम होगा मनुष्य मे अतर्निहित सचय की मूल प्रवृत्ति को जागृत करना और बलशाली बनाना । इसी प्रवृत्ति से लालच, स्वार्थपरता, घृणा और असामाजिक भाव उत्पन्न होते है । वर्धा-योजना के उद्देश्य और उसकी पूर्ति के साधनो मे परस्पर विरोध है । इस विरोध को दूर करने के लिए बडे ही स्पष्ट विचारो की आवश्यकता है । योजना का उद्देश्य है—ईश्वर से डरने वाले एक वर्गहीन समाज का निर्माण, परतु साधन है—प्रतियोगिता, जिससे अह की भावना और लालसा की वृद्धि होती है ।

हस्तकला और चरित्र-निर्माण—योजना मे तीसरा भ्रम उसके 'साक्षरता' और 'व्यक्तित्व' सबधी विचारो मे सन्निहित है । योजना मे सीधे-सादे मनोवैज्ञानिक सिद्धातो की उपेक्षा करके, बिना किसी उत्तरदायित्व की भावना के, अनेक साकेतिक वाक्याश—'सपूर्ण व्यक्तित्व की साक्षरता' (शिक्षा), 'ठोस चरित्र का निर्माण', 'हाथो के द्वारा चिंतन'—प्रयोग किये गये है । इस बात की सत्यता मे तनिक भी सदेह नही है कि वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति मे बालक की सक्रिय और सवेगात्मक प्रकृति की उपेक्षा की गयी है । परतु इसके स्थान पर अन्य पक्षो की उपेक्षा करते हुए केवल सक्रिय पक्ष पर जोर देना भी बालक के प्रति कम अन्यायपूर्ण नही है ।

मनोविज्ञान का नया विद्यार्थी (नौसिखिया) भी यह जानता है कि मानव-प्रकृति के तीन पक्ष है ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक । वर्धा-योजना में केवल अतिम पक्ष पर अधिक जोर दिया गया है और यह आशा प्रकट की गयी है कि, अतिम पक्ष में प्रशिक्षित होकर बालक प्रथम पक्ष मे स्वय दक्ष हो जायेगा । द्वितीय अर्थात् भावात्मक पक्ष की तो पूर्णतया उपेक्षा की गयी है। इसके अतिरिक्त जीवन के उच्चतर मूल्यो की ओर योजना मे दृष्टिपात भी नही किया गया है । यह मनोवैज्ञानिक असत्य है कि एक ओर तो पूरे व्यक्तित्व के विकास का उद्देश्य हम अपने सम्मुख रखें और दूसरी ओर हम भावात्मक पक्ष की उपेक्षा करें । हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा, जिसमे नैतिक और धार्मिक शिक्षण का कोई आयोजन नही है, जिसमें जीवन के उच्चतर मूल्यो पर कोई बल नहीं दिया गया है, उत्पादन पर अधिक बल देकर मनुष्य के पाशविक उद्वेगों को ही उत्तेजित करेगी ।

हस्तकला-केन्द्रीयता—योजना मे सबसे बडा भ्रम हस्तकला-केन्द्रित उदार शिक्षा के विचार के सम्बन्ध मे है। वर्धा-शिक्षा योजना के सगठनकर्त्ताओ का प्रारभ मे यह विचार था कि प्राइमरी शिक्षा मे अग्रेजी को छोडकर मैट्रिक तक के सभी विषय और हस्तकला सम्मिलित होने चाहिए। यह सुझाव स्वीकार करने योग्य और व्यावहारिक है। किंतु बाद मे यह कहा गया कि सपूर्ण शिक्षा बुनियादी हस्तकला के द्वारा दी जानी चाहिए। यह अमनोवैज्ञानिक है। सास्कृतिक महत्त्व के विषय, जो एक विचारित पाठ्यक्रम में होने चाहिए तथा हस्तकला के बीच स्वाभाविक सपर्क स्थापित करना असभव है। अध्यापन को वस्तुनिष्ठ होना चाहिए, उसे बालक के अपने वातावरण मे प्राप्त सक्रिय अनुभवो पर आधारित होना चाहिए। किंतु केवल एक हस्तकला के माध्यम से ही सपूर्ण ज्ञान प्रदान करना विवेक-शून्य होगा।

समय-सारिणी—वर्धा योजना के अनुसार अध्ययन के लिए जो समय-सारिणी बनायी गयी है उसमे आश्चर्यचकित कर देनेवाली एक नवीनता है जिसकी ओर बहुत से आलोचको का ध्यान नही गया है। उसके अनुसार प्रत्येक बालक को प्रतिदिन साढ़े तीन घटे हस्तकला-कार्य करना होगा। इतना दीर्घ समय केवल किसी हस्तकला के अभ्यास मे व्यय नही करना है, वरन् हस्तकला की शैक्षिक और सास्कृतिक क्षमताओ का भी वैज्ञानिक ढग से लाभ उठाना है। सरल शब्दो मे, ज्ञातव्यशिक्षा बालको को उसी समय दी जायेगी जब वे हस्तकला का कार्य करते होगे। यह समझ मे नही आता कि यह कैसे सभव है? यदि बालक बढईगीरी का कार्य कर रहा है तो औजारो की खडखडाहट और दूसरे प्रकार की खटपट के बीच दी गयी शिक्षा को वह कैसे हृदयगम कर सकेगा और शिक्षक भी शिक्षा कैसे दे सकेगा? इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हस्तकला और अध्ययन का कार्य एक समय मे, साथ साथ हो पाना कठिन है। बौद्धिक शिक्षण के लिए कम-से-कम आधा समय पृथक् रखना होगा।

यह स्पष्ट है कि वर्धा-योजना केवल तकली के हस्त-कार्य द्वारा सभव है। चर्खे से भी ज्ञान प्राप्त करने मे बाधा पडेगी। पर तकली कातते समय भी बालक को अपना ध्यान तकली से हटा कर शिक्षक के शब्दो को सुनने मे लगाना पडेगा और पुन शिक्षक की ओर से ध्यान हटा कर तकली पर लगाना पडेगा। इस प्रकार ध्यान को एक ओर से हटाकर दूसरी ओर स्थिर करने मे बालक को कितनी मानसिक थकान होगी? अत मनोविज्ञान का साधारण जानकार व्यक्ति भी इस प्रकार की शिक्षा-योजना के पक्ष मे न होगा।

उच्च शिक्षा का विनाश—इतिहास मे सर्वप्रथम यह आश्चर्यजनक सिद्धात स्वीकार किया गया है कि उच्चतर शिक्षा का राज्य से मुख्य सबध नही होना चाहिए। ससार का प्रत्येक प्रगतिशील देश उच्चतर शिक्षा की रक्षा कर रहा है और यदि हम वर्धा-योजना के चार सिद्धांतो को स्वीकार करें तो फल यह होगा कि हम एक ऐसी नीति स्वीकार करेंगे जिसमें राज्य विश्वविद्यालय की शिक्षा के प्रति उदासीन रहेगा। इस विचार अथवा नीति

के समर्थक भविष्य मे आनेवाले भयंकर परिणाम से अनभिज्ञ है। तथ्य यह है कि ऐसी शिक्षा-पद्धति जो केवल हस्तकला पर बल दे, जिसकी नीव धार्मिक शिक्षा पर आधारित न हो, जिसमे उत्पादन पर ज़ोर दिया जाय और विश्वविद्यालयो तथा महाविद्यालयो मे दी जाने वाली उच्च शिक्षा का दमन हो, वहाँ इस बात की आशका है कि ऐसी शिक्षा मे बालक नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से हीन बौने बनेगे जिनको देश मे तानाशाही शासन की स्थापना करने के इच्छुक बडी ही आसानी से प्रभावित कर सकेगे। हमारा देश बौद्धिक दृष्टि से दिवालिया हो जायेगा। उदार जनतत्रवादी राज्य से सबधित विचार-स्वातत्र्य, स्वस्थ बौद्धिक स्वातत्र्य आदि गुणो की अभ्युन्नति समाप्त हो जायेगी। उदार नेतागिरी अतीत का विषय हो जायेगी। भविष्य की इस शोचनीय दशा की कल्पना करने मात्र से बडी व्याकुलता होती है।

राष्ट्रीय प्रतिभा की उपेक्षा—यह कहा जाता है कि वर्धा-योजना की जड हमारी राष्ट्रीय प्रतिभा मे है। यह कथन सत्य नही है। हमारी राष्ट्रीय प्रतिभा की विशेषता हस्तकला मे नही है। हमारी राष्ट्रीय प्रतिभा की विशेषता त्याग और पारब्रह्म के साक्षात्कार मे है। हमारे गुरुकुलो मे इच्छाओ के त्याग की शिक्षा दी जाती थी, क्रमश ससार को त्यागने की शिक्षा दी जाती थी। हमारी शिक्षा राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुकूल तब होगी जब उसका दृष्टिकोण धार्मिक होगा और जब उसके केन्द्र मे सासारिक प्रवृत्तियो के प्रति उपेक्षा का भाव निहित होगा। हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा की विचारधारा हमारे प्राचीन आदर्शों के सर्वथा विरुद्ध है।

उपर्युक्त आलोचना के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वर्धा-शिक्षा-योजना मे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभावो के अतिरिक्त कुछ और अभाव ऐसे अवश्य है जिनके कारण हमे उसको राष्ट्रीय शिक्षा-योजना कहने में सकोच होता है। तथ्य यह है कि गाधीजी के जीवन-दर्शन और शिक्षा-दर्शन मे साम्यता है, उनका शिक्षा-दर्शन राष्ट्रीय आदर्शों के सर्वथा अनुकूल है, परंतु उनके शिक्षा-दर्शन और वर्धा-योजना मे पूर्ण मात्रा में साम्यता नही है।

भारत की विशेषता उसकी आदर्शवादी, आध्यात्मिक विचारधारा मे है। भारत सदा से आध्यात्मिकता का सदेशवाहक रहा है। उसने जीवन के परम लक्ष्य—मुक्ति की प्राप्ति-के लिए विभिन्न योग-साधनो का अनुसधान किया है। अत किसी भी राष्ट्रीय कहलाने वाली शिक्षा-योजना मे उसकी आत्मा की उपेक्षा नही होनी चाहिए। राष्ट्रीय शिक्षा का निर्माण जीवन के अतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए भारतीय शिक्षादर्शों के आधार पर होना चाहिए। भारतीय विचारधारा के सर्वथा अनुकूल गाधीजी ने 'मुक्ति' को जीवन का लक्ष्य माना और उसकी प्राप्ति के लिए कर्म-योग का मार्ग अपनाया। कर्म-योग में आस्था रखने के कारण वह स्वभावत कर्म अथवा क्रिया द्वारा शिक्षा देने के पक्ष में थे। परतु यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'हस्तकला द्वारा शिक्षा' और 'क्रिया द्वारा शिक्षा',

इन दोनो की कार्य-पद्धति मे भिन्नता है। रवीन्द्रनाथ के शिक्षा-दर्शन का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि भारतीय शिक्षा का आदर्श 'विभिन्न क्रियाओ द्वारा पूर्ण रूप से जीना' और 'जीने द्वारा सीखना' (Learning by living) है। अत जीवन के विभिन्न पक्षो—शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आत्मिक—से सबधित क्रियाओ द्वारा बालक को अपना बहुमुखी विकास करते हुए जीना चाहिए। इसके अतिरिक्त बालक को वास्तविक रूप से जीने के लिए यह अत्यत आवश्यक है कि आरभिक निर्माणकाल मे, उसका बाल-मन विशुद्ध, पवित्र, प्राकृतिक, नि:स्वार्थ, भ्रातृत्व भावना से पूर्ण, सामाजिक जीवन से सबधित एक आदर्श वातावरण मे निर्मित हो। इस प्रकार के वातावरण मे जब बालक का मन जीवन के प्रति ठीक दृष्टिकोण निर्धारित करना सीख लेगा तब वह ससार के किसी भी कोने मे, किसी भी दशा मे कोई भी कार्य करते समय अपने कर्त्तव्य-पथ से विचलित न होगा और बाहरी सुझावो को अपने मानसिक जगत् मे यथोचित दृष्टि-कोण से आँक कर ही आश्रय देगा। इस के विपरीत, पूर्व इसके कि बालक की प्रवृत्तियो एव सवेगो का उन्नयन एव दिव्यीकरण हुआ हो, उसने परार्थ का दृष्टिकोण ग्रहण किया हो या उसकी दृष्टि पारमार्थिक बनी हो, हस्तकला या अन्य उत्पादक कार्य द्वारा शिक्षा से बालक की तुच्छ इच्छाओ, स्वार्थ, प्रतिस्पर्धा आदि की भावनाओ के और अधिक प्रबल होने की सभावना है। हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा आरभ से ही बालक के वातावरण को एक आर्थिक पुट देगी। अपनी ऐसी मन स्थिति मे जब बालक 'स्व' या 'आत्म-प्रेम' की भावना से प्रेरित होता है, हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा एक उपयुक्त पद्धति न होगी। यहाँ पर यदि हम भारतीय दृष्टिकोण से जीवन के मूल्यो को ध्यान में रखकर योजना पर एक दृष्टि डालें तब भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि आर्थिक दृष्टिकोण (चाहे कितने भी गौण रूप में उसे योजना मे स्वीकार क्यो न किया गया हो) लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उचित साधन नही। क्रमश जीवन के वे मूल्य है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन मूल्यो के अनुसार भी 'अर्थ' का स्थान 'धर्म' के बाद आता है, कहने का तात्पर्य है कि जब 'अर्थ' और 'काम' 'धर्म'-प्रेरित होगे तभी व्यक्ति अतिम लक्ष्य—मोक्ष—की ओर अग्र-सर होगा। यहाँ 'धर्म' शब्द को उसके दार्शनिक अर्थ मे ग्रहण करना होगा, जिस अर्थ से प्रेरित होकर प्राचीन काल मे शिक्षा 'धर्मव्रत' कही जाती थी।

गाधीजी स्वय एक आदर्शवादी थे। उनके द्वारा निर्धारित शिक्षा का उद्देश्य—सपूर्ण व्यक्तित्व का विकास—शिक्षा की दृष्टि से सर्वथा श्रेष्ठ एव उपयुक्त है, पर वर्धा-योजना उस उद्देश्य की प्राप्ति के दृष्टिकोण से अपूर्ण है। बालक के सर्वतोमुखी विकास के लिए 'धर्म' एक आवश्यक साधन है किंतु योजना में धर्म की पूर्णतया उपेक्षा की गयी है। गाधीजी हस्तकला-केन्द्रित शिक्षा के आधार पर बालक मे नैतिक गुणो का विकास चाहते हैं पर क्या धर्म के अभाव में बालक में ऊँचे नैतिक गुणो के स्थायी रूप से विक-सित होने की सभावना है? गाधीजी सब बालको को आचार-शास्त्र, क्योकि वह सब धर्मो

मे एक-सा है, की शिक्षा देना चाहते है। आचार-शास्त्र सम्यक् आचरण का विज्ञान है और निस्सदेह सब धर्मों मे एक-सा है, पर क्या आचार-शास्त्र के ज्ञान मात्र से व्यक्ति चरित्रवान बन सकता है ? चरित्र-निर्माण के लिए एक और तत्व की आवश्यकता है और वह है प्रेरणा-शक्ति। बिना प्रेरणा-शक्ति के सम्यक् चरित्र का निर्माण असभव है। यदि आचार-शास्त्र सम्यक् आचरण का ज्ञान प्रदान करता है तो धर्म प्रेरणा-शक्ति प्रदान करता है। 'बालको को उस स्रोत से सपर्क कराये बिना ही, जहाँ से वे उसके अनुसार जीवन व्यतीत करने के लिए शक्ति प्राप्त करने के योग्य बने, शिक्षा निरर्थक होगी।' स्वय गाधीजी के शब्दो मे इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है, "नीति रूपी बीज को जब तक धर्म-रूपी जल का सिंचन नही मिलता तब तक उसमे अकुर नही फूटता। पानी के बिना वह बीज सूखा ही रहता है और लबे अरसे तक पानी न पाए तो नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि सच्ची नीति मे सच्चे धर्म का समावेश होना चाहिए। इसी बात को दूसरी रीति से यो कह सकते है कि धर्म के बिना नीति का पालन नही किया जा सकता, यानी नीति का आचरण धर्म रूप मे करना चाहिए।"† अत. धर्म के आलोक के अभाव मे बालक का सम्यक् विकास सभव न होगा।

सविचार पाठ्यक्रम को ध्यान मे रखकर यदि योजना पर एक दृष्टि डाली जाय तो यहाँ पर भी गाधीजी के शिक्षा-दर्शन तथा योजना-पद्धति मे साम्य दृष्टिगोचर नही होता। गाधीजी का शिक्षा-दर्शन यह स्पष्ट इगित करता है कि किसी भी उद्योग या व्यवसाय के माध्यम से व्यक्ति, यदि अनासक्त भाव से कर्मरत है तो, सत्य का दर्शन कर सकता है। परतु साथ मे वह यह भी कहते है कि सत्य को पहचानने के लिए 'किसी को साहित्य-ज्ञान की आवश्यकता हो सकती है, किसी को भौतिकशास्त्र की, किसी को कला की।' ऐसी स्थिति मे आरंभिक स्तर के उपरात भी सभी बालको के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा—हस्तकला-केन्द्रित या अन्य उत्पादक कार्य केन्द्रित शिक्षा—की व्यवस्था करना उनकी विभिन्न नैसर्गिक रुचियो की अवहेलना करना होगा। अत एक ही पाठ्यक्रम को सबके ऊपर बलात् नही लादना चाहिए। पाठ्यक्रम का क्षेत्र व्यापक होना चाहिए।

भारतीय सस्कृति की आध्यात्मिक विचारधारा से प्रभावित गाधीजी ने सदैव पाश्चात्य भौतिकवादी अवधारणा का विरोध किया। किंतु वर्धा-योजना मे जो प्रयोजनवादी एव प्रकृतिवादी तथ्य निहित है उनके फलस्वरूप देश के नवयुवको मे उल्टे इसी पाश्चात्य अवधारणा के पोषित होने की गुजायश है। इन तथ्यो के कारण बालक के दृष्टिकोण के निकट भविष्य तक ही सीमित रह जाने की सभावना है। वास्तविक भारतीय शिक्षा को अपनी मुख्यत आदर्शवादी आध्यात्मिक विचारधारा को सार्थक करने के लिए समष्टि को ध्यान मे रखना होगा—बालक का सपूर्ण व्यक्तित्व, सपूर्ण जीवन-काल, संपूर्ण वाता-

† गाधीजी . 'धर्म-नीति', पृष्ठ ३९, ४०

वरण, जीवन के तात्कालिक उद्देश्य से लेकर परम उद्देश्य तक। शिक्षा के साधन उद्देश्य के ही अनुरूप होने चाहिये तभी सफलता की आशा की जा सकती है।

योजना की प्रगति एवं योजना पर आधारित शिक्षा-संस्थाएँ

सन् १९३८ ई० मे हरीपुरा काग्रेस अधिवेशन मे अधिकृत रूप से स्वीकृत हो जाने पर, बेसिक शिक्षा-योजना को अनेक प्रातो मे लागू किया गया। सन् १९३९ ई० मे 'हिंदुस्तानी तालीमी सघ' का सगठन हुआ। इस सघ ने योजना की प्रगति में पर्याप्त योगदान दिया। बबई, बिहार और उडीसा की सरकारो ने 'बेसिक शिक्षा परिषद्' का सगठन किया तथा बेसिक शिक्षा के निरीक्षण और कार्यान्विन के लिए विशेष अधिकारियो की नियुक्ति की। एक वर्ष के भीतर ही बबई, बिहार, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश, उडीसा और काश्मीर मे दस प्रशिक्षण केन्द्रो की स्थापना हो गयी। मध्यभारत मे वर्धा नॉर्मल स्कूल को विद्यामदिर ट्रेनिंग स्कूल बना दिया गया तथा ९८ विद्यामदिर स्कूल और खोले गए। मध्यप्रदेश मे विद्यामदिर योजना तथा उत्तर प्रदेश मे आधार-शिक्षा या बुनियादी तालीम के नाम से जब वर्धा-योजना चलायी गयी तो हस्तकौशल को सपादित करने की समय-अवधि ३ घटे, २० मिनट से कम कर दी गयी। राष्ट्रीय स्तर की सस्थाओ मे जामियामिलिया इस्लामिया, दिल्ली और अन्ध्रजातीय कलाशाला, मसलीपट्टम ने अध्यापको के प्रशिक्षण का कार्य आरभ कर दिया। महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना और गुज-रात विद्यापीठ, अहमदाबाद ने अपने अतर्गत बेसिक विद्यालय खोले।

सन् १९३८ ई० तथा सन् १९४० ई० मे बबई के मुख्य मत्री श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता मे क्रमश दो समितियो की स्थापना हुई। इन समितियो ने बेसिक शिक्षा की प्रगति के सबध मे अनेक सुझाव दिये। इनमे से अधिकाश सुझावो को केन्द्रीय शिक्षा-सलाहकार बोर्ड ने मान लिया और सन् १९४४ ई० की सार्जेट रिपोर्ट मे इन सुझावो को कार्यान्वित करने का प्रयास किया गया।

सन् १९३९ ई० मे द्वितीय महायुद्ध आरभ हो गया और ब्रिटिश सरकार से मतभेद होने के कारण प्रदेशो के काग्रेस मन्त्रिमडलो ने त्याग-पत्र दे दिया किंतु बेसिक शिक्षा की प्रगति पर इसका अधिक प्रभाव नही पडा। पर सन् १९४० ई० मे बेसिक शिक्षा की प्रगति मे कुछ बाधा अवश्य पडी। उडीसा सरकार ने बेसिक शिक्षा बोर्ड, प्रशिक्षण विद्यालय तथा अन्य पद्रह स्कूलो को बद कर दिया। किंतु इससे भी इस क्षेत्र मे कार्य करने वालो का उत्साह कम नही हुआ।

९ अगस्त, सन् १९४२ ई० को गाधीजी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस के नेताओ ने 'भारत छोड़ो आदोलन' आरभ किया जिससे सारा देश आन्दोलित हो उठा। इस आंदोलन ने राष्ट्रीय कार्यकर्त्ताओ का ध्यान बेसिक शिक्षा के क्षेत्र से हटाकर राष्ट्रीय आदोलन की ओर आकर्षित किया। राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता जेलो में बद कर दिये गये। इस

सकट और तूफान के समय मे अनेक कारणो से वर्धा-शिक्षा-योजना की प्रगति न हो सकी। जेल से छूटकर जब गाधीजी बाहर आये तब 'नई तालीम' के विषय मे उनकी दृष्टि दूसरी हो गयी। उन्होने कहा कि "हमे अपनी वर्त्तमान उपलब्धियो से हीं सतुष्ट नही हो जाना चाहिए। हमे बालको के परिवारो से भी सहयोग करना चाहिए। हमे उनके माता-पिता को भी शिक्षित बनाना चाहिए। बेसिक शिक्षा को निश्चित रूप से, सच्चे अर्थों मे जीवन-शिक्षा बनाना चाहिए।" गाधीजी ने नई तालीम के 'जीवन के माध्यम से जीवन की शिक्षा' के इस नये स्वरूप की व्याख्या की। उन्होने कहा कि, 'मेरे समक्ष यह स्पष्ट हो गया है कि बेसिक शिक्षा के कार्य-क्षेत्र का विस्तार करना है। इसमे सब लोगो के लिए, जीवन के सभी स्तरो पर शिक्षा देने की व्यवस्था सम्मिलित होनी चाहिए।" अत सन् १६४५ ई० मे 'हिंदुस्तानी तालीमी सघ' की बैठक जब पुन वर्धा मे हुई तब इसमे गाधीजी के आदेशानुसार कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए। इन प्रस्तावो के फल-स्वरूप 'बेसिकशिक्षा' का नाम 'नई तालीम' रखा गया और उसे निम्नाकित चार भागो मे विभाजित किया गया।

(१) प्रौढ शिक्षा अथवा सभी अवस्थाओ के स्त्री-पुरुषो की शिक्षा। इसमे उस माता की देख-रेख और शिक्षा भी सम्मिलित है जिसका बच्चा अभी उसी पर आश्रित है।

(२) पूर्व-बेसिक शिक्षा अथवा सात वर्ष की आयु के भीतर के बालको की शिक्षा।

(३) बेसिक शिक्षा अथवा सात वर्ष से चौदह वर्ष के बालको की शिक्षा।

(४) उत्तर-बेसिक शिक्षा अथवा किशोरो की शिक्षा जो बेसिक शिक्षा पूरी कर चुके है।

सन् १६४७ ई० मे हिदुस्तानी तालीमी सघ ने बेसिक शिक्षा का एक विस्तृत पाठ्-क्रम बनाया जो लगभग सभी प्रातो मे प्रचलित कर दिया गया है।

इस योजना मे 'केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड' ने भी बेसिक शिक्षा के प्रसार मे योग दान दिया है। 'राष्ट्रीय योजना समिति' (नेशनल प्लानिंग कमेटी) ने भी बेसिक शिक्षा का सम-र्थन किया है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार ने एक 'बेसिक शिक्षा की स्थायी समिति' (स्टैंडिग कमेटी ऑव बेसिक एजूकेशन) भी स्थापित की। इस समिति ने सन् १६५६ ई० की बैठक में भारत मे 'बेसिक शिक्षा के प्रसार, नीति एव भावी प्रगति' की एक विस्तृत रूप-रेखा तैयार की है। इस समिति ने 'बेसिक शिक्षा-अनुदान समिति' (असेसमेंट कमेटी ऑन बेसिक एज्यूकेशन) के सुझावो के आधार पर एक 'अखिल भारतीय बेसिक परिषद्' की स्थापित करने की माँग की है। यह शिक्षा-परिषद् केन्द्रीय और राजकीय सरकारो को बेसिक शिक्षा-प्रगति सबधी विषयो पर अपनी सम्मति प्रदान करेगी। समिति ने यह भी परामर्श दिया कि राज्य सरकार अपने यहाँ उत्तर बेसिक स्कूलो को अधिक-से-अधिक सख्या में खोलें और उन्हे माध्यमिक शिक्षा का एक अभिन्न अग मानें। समिति ने बेसिक स्कूलो में अन्य विषयो के साथ अग्रेजी भाषा का भी शिक्षण देने की

सलाह दी है। इससे बेसिक विद्यालयो मे पढने वाले विद्यार्थियो को उच्च शिक्षा के विद्यालयो में प्रवेश और शिक्षा पाने मे सुविधा रहेगी।

१ जूलाई, १९५६ ई० को तमिलनाद मे सर्वोदयपुरम् नामक स्थान पर 'अखिल भारतीय बेसिक शिक्षा सम्मेलन' हुआ। इस सम्मेलन मे यह प्रस्ताव पास किया गया कि 'बेसिक शिक्षा मे कुछ परीक्षण ऐसे भी किये जायँ,जो सरकारी नियन्त्रण से मुक्त हो और नई तालीम जनसमूह तक पहुँचायी जा सके।' अत इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सम्मेलन ने यह प्रस्ताव पास किया कि विनोबाभावे जिस प्रकार भूदान के लिए पदयात्रा कर रहे है उसी प्रकार नई तालीम के कार्यकर्त्ताओ को देश मे पद यात्रा करनी चाहिए।

इस सम्मेलन ने बताया कि देश मे नगरो तथा ग्रामो मे जो दो प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था का प्रचलन एव विकास हो रहा है वह जनतत्र के लिए घातक सिद्ध होगा। अत दोनो के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था होनी चाहिए, तथा प्राथमिक शिक्षा से लेकर जो कि बेसिक शिक्षा के आधार पर सगठित की जा रही है, विश्वविद्यालय की शिक्षा तक बेसिक-शिक्षा की ही व्यवस्था होनी चाहिए। सम्मेलन ने सुझाव दिया कि प्रत्येक भाषा-भाषी प्रात मे कम-से-कम एक ऐसा शिक्षा-केन्द्र स्थापित किया जाना चाहिए जहाँ पूर्व बेसिक से लेकर विश्वविद्यालस के स्तर तक नई तालीम की शिक्षा प्रदान की जा सके।

अध्यापकों के लिए प्रशिक्षण विद्यालय—बेसिक शिक्षा योजना मे अध्यापको के प्रशिक्षण के लिए जो अनेक सस्थाएँ कार्य कर रही है उनमे नई तालीम भवन, सेवाग्राम, जामियामिलिया इस्लामियाटीचर्स ट्रेनिग इस्टीट्यूट, दिल्ली, श्री रामकृष्ण मिशन विद्यालय टीचर्स बेसिक सेंटर, कोयबटूर, ग्रेजुएट बेसिक ट्रेनिग सेन्टर, ढाबका (बम्बई), विद्याभवन, शान्ति निकेतन, विद्याभवन, उदयपुर, सर्वोदय महाविद्यालय, तर्की (बिहार) अधिक प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त भी आसाम, बबई, उत्तर प्रदेश आदि राज्यो मे प्रशिक्षण सस्थाएँ है जो कि बेसिक शिक्षको को प्रशिक्षण देती है। ग्रेजुएटो को प्रशिक्षित करने के लिए इन राज्यो मे पृथक् व्यवस्था है। प्राथमिक स्कूल के अध्यापको के लिए विभिन्न राज्यो में 'अल्पकालीन रिफ्रेशर कोर्स' की भी व्यवस्था की जाती है।

उत्तर बेसिक कालेज तथा जनता कालेज

बेसिक प्रणाली को प्राथमिक स्तर से माध्यमिक व उच्च स्तर पर लाने के लिए भी परीक्षण हो रहे है। इस दृष्टिकोण से बिहार प्रात सबसे आगे है। यहाँ उत्तर बेसिक कॉलेज भी खोले गये हैं। इनके अतिरिक्त युवक और युवतियो को ग्रामीण जनता में शैक्षिक, सामाजिक, सास्कृतिक एव अन्य जनोपयोगी कार्य करने के दृष्टिकोण से प्रशिक्षित करने के लिए जनता कॉलेज (Community College) खोलने की आवश्यकता प्रतीत

हुई। अत सन् १९५४ ई० मे एक जनता कॉलेज, तर्की (मुज़फ्फरपुर) मे खोला गया। इसके उपरात एक जनता कॉलेज नालदा मे खोला गया। इसी प्रकार नगरपाडा (भागलपुर), कोलहत पटोरी (दरभगा) एव बाखरी (मुज़फ्फरपुर) मे भी जनता कॉलेजो की स्थापना का विचार है। इन ग्रामीण बेसिक कॉलेजो के खोलने का उद्देश्य यह भी है कि वहाँ शीघ्र ही एक ग्राम्य विश्यविद्यालय खोला जा सके।

पजाब मे भी बेसिक शिक्षा को प्राथमिक स्तर से माध्यमिक स्तर तक उठाने का निर्णय किया गया है। फलस्वरूप, सन् १९५४ ई० मे, चडीगढ मे एक सीनियर बेसिक कॉलेज की स्थापना हुई है। इसमे केवल ग्रेजुएट ही प्रवेश पा सकेंगे।

इसी प्रकार उत्तर प्रदेश, केरल आदि राज्य प्राथमिक स्कूलो को बेसिक स्कूलो मे परिवर्तित करने की दिशा मे प्रगति कर रहे है।

परीक्षण संस्थाएँ

(१) **आसाम**—आसाम सरकार ने सन् १९५४ ई० मे 'बेसिक शिक्षा अधिनियम' पास किया जिसके फलस्वरूप राज्य के सभी प्राइमरी और मिडिल स्कूल क्रमश जूनियर एव सीनियर बेसिक स्कूलो मे परिवर्तित कर दिये गये। आसाम के इन स्कूलो की विशेषता है इनमे 'बाल सरकार' की स्थापना। विद्यार्थियो का एक न्यायाधिकरण (Tribunal) भी हरेक स्कूल मे होता है जो अनुशासन-सबधी कार्य करता है। बालको मे स्कूल के प्रति आत्मीयता एव उत्तरदायित्व का भाव विकसित किया जाता है। अध्यापको और बालको मे निकट सपर्क के लिए भी अवसर प्रदान किए जाते है।

(२) **गुजरात कुमार मदिर, अहमदाबाद**—इसकी विशेषता यह है कि यहाँ का माध्यम खादी है। यहाँ बालको को स्वावलबन, सहकारिता, सदाचार एव नागरिकता के गुणो को विकसित करने की शिक्षा तथा सुलेख पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

(३) **नवयुग स्कूल, बबई**—यहाँ बालक, बालिकाओ के लिए सह-शिक्षा की व्यवस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य है छात्र का सर्वतोमुखी विकास करना और उनमे आत्मनिर्भरता की भावना विकसित करना। यहाँ बालको को सामाजिक और धार्मिक शिक्षा देने की भी व्यवस्था है।

(४) **स्नातक प्रशिक्षण केन्द्र, धारवार**—यहाँ छात्राध्यापको को समाज-सेवा एवं सामाजिक शिक्षा के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित किया जाता है।

(५) **बेसिक प्रशिक्षण केन्द्र, लोनी, कालभोर, पूना**—आरभ मे यह कृषि का सामान्य स्कूल था। परतु सन् १९३२ ई० मे शिक्षा विभाग ने इसे 'ग्राम्य प्रशिक्षण केन्द्र' के रूप मे परिणित कर दिया। यहाँ अब ग्रामीण क्षेत्रो के अध्यापको को प्रशिक्षण दिया जाता है। इस केन्द्र की विशेषता भी स्वावलबन है।

(६) **हैदराबाद**—यहाँ सबसे पहले हरिजन स्कूलो मे बेसिक शिक्षा-प्रणाली के संचा-

लन की व्यवस्था की गयी। इन विद्यालयो के पाठ्यक्रम मे, स्वच्छता, समाज-सेवा, प्रार्थना एव साक्षरता का प्रसार सम्मिलित किया गया। यहाँ की विशेषता है—साप्ताहिक भोज जिसमे अध्यापक और छात्र आपस मे प्रेम बढाने के लिए भाग लेते है। यहाँ के स्कूलो मे विभिन्न प्रकार के हस्त-उद्योग शिक्षा के माध्यम है।

(८) **बेसिक स्कूल सेवाग्राम, मध्यप्रदेश**—यहाँ दो भाषाएँ शिक्षा के माध्यम के रूप मे प्रचलित है—स्थानीय बालको के लिए शिक्षा का माध्यम मराठी है तथा बाहर के विद्यार्थियो के लिए हिंदी। उच्च कक्षाओ मे हिंदी का अध्ययन अनिवार्य है। इस विद्यालय से सलग्न एक प्रशिक्षण केन्द्र भी है। इस विद्यालय मे प्रशिक्षण का माध्यम कोई-न-कोई हस्तकार्य—जैसे, कताई बुनाई, बागवानी तथा सब्जी उगाना—रहता है। सास्कृतिक विकास के लिए विद्यार्थियो एव अध्यापको द्वारा विभिन्न त्योहारो पर कीर्तन एव नाटको का आयोजन भी होता है।

(८) **ग्राम विश्वविद्यालय, सेवाग्राम**—यहाँ पूर्व बेसिक मे लेकर उत्तर बेसिक पाठ्यक्रमो की शिक्षा दी जाती है।

उपर्युक्त सस्थाओ के अतिरिक्त अन्य सस्थाएँ भी है जहाँ बेसिक शिक्षा के क्षेत्र मे अन्य राज्यो में परीक्षण हो रहे है। इनमे मुख्य है—राजकीय हाईस्कूल, सोगाम, काश्मीर, टीचर्स कॉलेज सैदपेट, मद्रास, मोटा ट्रेनिंग स्कूल, पजाब, बाल निकेतन, जोधपुर एव बेसिक ट्रेनिंग कॉलेज, बनीपुर, पश्चिमी बगाल।

इस प्रकार देश के विभिन्न राज्यो मे योजना की उन्नति एव प्रसार का कार्य किया जा रहा है।

सहायक-साहित्य

महात्मा गांधी

1 धर्म-नीति
2. गीता-माता
3. आत्म-कथा
4 अनीति की राह पर
5 ब्रह्मचर्य भाग १, भाग २
6 *To The Students, Navajivan*
7. *My Soul's Agony*
8 *Ramanama*
9 *Women and Social Injustice*
10. *Constructive Programme*

अन्य लेखक

1 S. Radhakrishnan *Mahatma Gandhi, George Allen Unwin Ltd., London*
2 S Radhakrishnan : *Great Indians*
3. D M. Datta *The Philosophy of Mahatma Gandhi*

5 B Pattabhi Sitaramayya *Gandhi and Gandhism, Vols I and II*
6 Louis Fischer *The Life of Mahatma Gandhi*
6 K L Srimali *The Wardha Scheme, 1949*
7 M S Patel *The Educational Philosophy of Mahatma Gandhi*
8 Hindustani Talimi Sangh *Educational Reconstruction* (2nd Ed), *Sevagram* (*Wardha*)
9 *The Visva-Bharati Quarterly. Education Number, May-Oct* , 1947
10 Chandra Shankar Shukla *Gandhi's View of Life.*

श्री अरविंद घोष

जीवन और कार्य

श्री अरविद प्राचीन भारतीय ऋषि-परपरा के आधुनिक उन्नायक के रूप मे प्रसिद्ध है। उन्होने अपने रहस्यमय व्यक्तित्व द्वारा एशिया की आत्मा का ससार को साक्षात्कार कराया और यही कारण है कि प्राचीन योग के सहज साधक और आत्मद्रष्टा के रूप मे लोग उनका समादर करते है। श्री अरविंद के इस दिव्य व्यक्तित्व की प्रशसा करते हुए रोमा रोला ने कहा हे, "देखो, वह अरविंद घोष आते है। उनमे एशिया की प्रतिभा और योरोप की प्रतिभा का वह पूर्णतम सामजस्य आज प्राप्त हुआ है जिसकी दीर्घकाल से प्रतीक्षा हो रही थी।" उन्होने भावी सतान के लिए जिस गौरवमयी परपरा का निर्माण किया है वह विशाल और समृद्धिशालिनी है। उन्होने जो कुछ कहा या लिखा है वह उच्चप्रेरणा, सहज ज्ञान एव क्रातिदर्शिता से ओतप्रोत है।

जन्म एवं शिक्षा

भारत के इतिहास मे १५ अगस्त का बडा भारी महत्त्व है। इसी दिन दीर्घकालीन परतत्रता के पश्चात् देश को स्वतत्रता प्राप्त हुई। यही तिथि श्रीरामकृष्ण परमहस की महासमाधि के महोत्सव की भी है और सयोगवश इसी दिन सन् १८७५ ई० मे श्री अरविंद का जन्म भी कलकत्ते के घोष-परिवार मे हुआ। उनके पिता का नाम डा० कृष्णधन घोष और माता का नाम स्वर्णलता देवी था। अरविंद के दो बडे भाई थे जिनका नाम विनयभूषण और मनमोहन था।

श्री अरविंद की बाल्यावस्था के विषय मे विशेष विवरण तो नही मिलता, किंतु इतना ज्ञात है कि उनकी शिक्षा का आरभ दार्जिलिंग के लोरेटो कावेट मे हुआ जहाँ भाषा का माध्यम अग्रेज़ी थी और किसी भी भारतीय भाषा की शिक्षा वहाँ नही दी जाती थी। ऐसे शिक्षालय मे भर्ती किए जाने का कारण यह था कि उनके पिता पाश्चात्य सभ्यता के कट्टर पोषक थे और वह नही चाहते थे कि उनका पुत्र भारतीय भाषा-सस्कृति के संपर्क में आये और इसीलिए वह अपने घर मे भी ऐसे नौकर नही रखते थे जो अंग्रेज़ी के अतिरिक्त बगला भी जानता हो। दार्जिलिंग के लोरेटो कावेट में श्री अरविंद ने दो वर्षों तक शिक्षा प्राप्त की।

सात वर्ष की अवस्था मे सन् १८७९ ई० मे उनके माता-पिता ने उनको बहिन सरोजनी के साथ उन्हे भाइयो सहित आगे की शिक्षा के लिए इगलैड भेज दिया। वहाँ अरविद और उनके दोनो भाई मैनचेस्टर ग्रामर स्कूल मे भर्ती किए गये, किंतु आयु कम होने के कारण अरविद की शिक्षा का भार ड्रिवेट दपति को सौपा गया जो इनकी देखभाल माता पिता की भाँति करते थे। ड्रिवेट दपति की देखरेख मे उन्होने लैटिन भाषा का पूर्ण अभ्यास किया और अग्रेजी के शेक्सपियर आदि विद्वानो की रचनाओ को चाव के साथ पढा। लैटिन भाषा मे उन्होने ऐसी दक्षता प्राप्त कर ली कि सन् १८८५ ई० मे वह लदन के सेंट पॉल स्कूल मे भर्ती कर लिये गये। बालक अरविंद की प्रतिभा से प्रभावित होकर स्कूल के प्रधानाध्यापक ने बडे प्रेमपूर्वक इन्हे ग्रीक पढाना प्रारभ किया, जिसमे इनकी प्रगति आश्चर्यजनक हुई। अपने विद्यार्थी-जीवन मे भी वह स्वभावत एकातप्रिय और शात थे। अधिक व्यक्तियो से मिलना-जुलना और सामाजिक जीवन मे उनकी विशेष रुचि नही थी। वह एक गभीर विद्यार्थी थे तथा विचारो के ससार मे लीन रहा करते थे। सत्रह वर्ष की आयु मे ही उन्हे केंब्रिज के किंग्स कॉलेज की एक सर्वोच्च छात्रवृत्ति मिल गयी। तब उन्होने फ्रासीसी भाषा, इतिहास, इटालियन, स्पेनिश तथा जर्मन भाषाओ का भी अभ्यास किया। यहाँ यह स्मरणीय है कि चौदह वर्ष की अवस्था मे ही उन्होने काव्य-रचना प्रारभ कर दी थी।

अरविंद को केंब्रिज मे ट्रिपोज के प्रथम भाग की परीक्षा मे प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई। इस भाग की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाने पर साधारणत बी० ए० की उपाधि दी जाती है, किंतु ऐसा केवल उस दशा में होता है जब परीक्षा तीसरे वर्ष ली जाती है। वह विश्वविद्यालय की उच्च परीक्षा नही देना चाहते थे क्योकि इगलैड मे विश्वविद्यालय के बाहर ऐसी उपाधियो का बहुत कम महत्त्व था। अत अरविद ने पिता की आज्ञा पाकर इडियन सिविल सर्विस की परीक्षा दी और उसमे वह विशिष्टता के साथ उत्तीर्ण भी हुए, किंतु घुडसवारी मे असफल रहे। उनके बडे भाई ने तो इसकी चिंता न की, किंतु उनके मँझले भाई मनमोहन को इस असफलता से विशेष दु ख हुआ।

इक्कीस वर्ष की आयु तक अरविद बौद्धिक दृष्टि से परिपक्व हो गये। ग्रीक, लैटिन, जर्मन और अग्रेजी भाषाओ पर तो उनका विशेष अधिकार हो गया, किंतु अब तक वह अपनी मातृभाषा तथा दूसरी भारतीय भाषाओ से अपरिचित ही रहे। इस आयु तक वह अग्रेजी के अतिरिक्त ग्रीक और लैटिन भाषाओ में भी काव्य-रचना करने लगे थे।

देशभक्ति की भावना का बीजारोपण

इगलैड मे शिक्षा प्राप्त करते समय ही अरविद के हृदय मे देशभक्ति की भावना का बीजारोपण हो गया था। यद्यपि उनके पिता पक्के साहब थे, किंतु इसके साथ ही वह बड़े ही उदार एव दयालु थे। रोगियो की सेवा मे धन लगा देने के कारण वह कभी-कभी

समय से पैसा नही भेज पाते थे जिसके कारण अरविद और उनके भाइयो को अभाव और दरिद्रता का जीवन भी व्यतीत करना पडता। वे तथा उनके भाई जाडे के दिनो मे कोट के बिना ही रह जाते थे और उन्हे कभी-कभी नियमित भोजन भी नही मिलता था। इस प्रकार उन्हे गरीबी के दु खो का अनुभव छात्र-जीवन मे ही हो गया। इनके पिता इनको जो पत्र लिखते थे उनमे वह ब्रिटिश सरकार के अन्याय, हृदयहीनता और अत्याचार का वर्णन करते थे तथा भारतीय समाचार-पत्रो की कतरने भी भेजा करते थे। पिता के इन पत्रो द्वारा अरविंद को देशभक्ति का पहला पाठ पढने को मिला। आगे चल कर वह कैंब्रिज मे 'इडियन मजलिस' के मत्री बन गये। यह एक भारतीय सस्था थी जिसकी स्थापना सन् १८९१ ई० मे हुई थी। के० जी० देशपाडे, हरीसिह गौड, बीच क्राफ्ट और परेरा आदि भारतीय उन दिनो इनके साथी थे। अपने इगलैड-प्रवास के अतिम दिनो मे वह लदन मे कुछ उग्र विचार के भारतीयो से मिले और 'लोटस ऐड डैगर' नामक सस्था की स्थापना की। इस सस्था के प्रत्येक सदस्य ने भारत से ब्रिटिश राज्य को समाप्त करने की प्रतिज्ञा की। इस प्रकार के वातावरण और प्रभावो का फल यह हुआ कि उनके हृदय मे देशभक्ति को भावना दृढ हो गयी। नरम विचार वाले भारतीय राजनीतिज्ञो के प्रति यह असहिष्णु बन गये। उनके हृदय मे विद्रोहपूर्ण राष्ट्रीयता को नीव पड गयी।

स्वदेश-आगमन

सन् १८९३ ई० मे अरविंद ने स्वदेश के लिए प्रस्थान किया, किंतु दुर्भाग्यवश भारत पहुँचने के पूर्व ही इनके पिता का देहात हो गया। बात यह हुई कि उन्हे अपने बैकर्स से पता चला कि जिस जहाज द्वारा अरविंद चले हैं वह दुर्भाग्यवश लिस्बन के समीप डूब गया। वृद्ध पिता को इस समाचार से इतना शोक हुआ कि वह इस आघात को सहन न कर सके और उनका देहात हो गया। किंतु यह समाचार गलत था। अरविद 'कार्थेज' नामक जहाज से रवाना हुए थे जो लदन से दो दिन पहले ही चल चुका था और सन् १८९३ ई० के फरवरी मास में सुरक्षित रूप से बबई पहुँच गया था।

गार्हस्थ्य जीवन और भविष्य की तैयारी

जब अरविद इगलैड मे थे उन्ही दिनो बडौदा के महाराज सयाजीराव गायकवाड भी वहाँ थे। उन्हे जेम्स काटन से अरविद की प्रतिभा और योग्यता के विषय मे पता चला। उन्हे यह भी मालूम हुआ कि वह बडौदा राज्य की सेवा के लिए प्रस्तुत है। उन्होने अरविंद को बुलाकर उनसे भेंट की और नौकरी की सारी शर्तें वही निश्चित कर दी। भारत पहुँचने पर अरविंद ने बडौदा राज्य की सेवा करनी आरभ कर दी। यहाँ से उनके जीवन-विकास में एक नया मोड उपस्थित हुआ क्योकि वास्तव मे बडौदा में रहते हुए उन्होने अपने भावी जीवन की तैयारी प्रारभ की। सबसे पहले उनकी नियुक्ति अस्थायी

रूप मे लगान-बदोबस्त विभाग मे दो सौ रुपये प्रति मास पर हुई। कुछ समय उन्होने स्टाम्प और रेवेन्यू विभाग, कुछ दिनो सेक्रेटेरियट का काम और कुछ दिनो डिस्पैच की रिपोर्ट लिखने का काम भी किया। इन कार्यों को करते हुए वह शिक्षा-सबधी कार्यो की ओर आकर्षित हुए, अत उन्हे बडौदा स्टेट कॉलेज मे पहले फ्रेंच भाषा का तत्पश्चात् इगलिश लिटरेचर का लेक्चरर बना दिया गया। बाद मे वह कॉलेज के उपाचार्य भी हो गये और भारतीय राजनीतिक इतिहास मे लेक्चर देने लगे। इस समय उनका मासिक वेतन साढे सात सौ रुपया हो गया था।

बडौदा मे रहते हुए ही अरविंद का विवाह सन् १९०१ ई० मे मृणालिनी नामक एक सुदर एव सुशील कन्या से हुआ। ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्ति से पाणिग्रहण होने पर भी मृणालिनी को प्राय सारा जीवन वियोग मे ही व्यतीत करना पडा। यद्यपि पति-पत्नी के सबध अत तक बडे ही प्रेमपूर्ण थे, फिर भी अरविंद के साथ रहने का अवसर उन्हे बहुत कम मिला। सन् १९१८ ई० मे पाडीचेरी जाते समय कलकत्ते मे इन्फ्लुएंजा से मृणालिनी देवी का देहात हो गया।

राज्य की सेवा करते हुए अरविंद अपने भावी जीवन की तैयारी मे दत्तचित्त थे। यहाँ रहकर उन्होने मराठी, गुजराती, सस्कृत और बगला आदि भारतीय भाषाओ का पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। इस समय ज्ञान का सचय ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था। उन्होने भारतीय जीवन के विशाल क्षेत्र, उसकी प्राचीन सस्कृति और उसकी प्रेरणा से घनिष्ठ परिचय प्राप्त किया। भारतीय दर्शन का उन्हे अब तक बडा ही सीमित ज्ञान था। अब उन्होने सस्कृत साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया और वेद और गीता के दर्शन में पाडित्य प्राप्त किया और इस प्रकार अपनी अतरात्मा की खोज आरभ की। श्री अरविंद ने लगभग १३ वर्षो तक बडौदा राज्य की सेवा की। यहाँ के जीवन के अतिम भाग पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इस समय इनके भीतर एक तीव्र ज्वाला जल रही थी जिसमे यह अपना सर्वस्व स्वाहा करने की तैयारी कर रहे थे। यह ज्वाला थी भारतमाता को परतत्रता से मुक्त करने की और ईश्वर का साक्षात्कार करके, तद्रूप होकर उसके दिव्य ज्ञान, दिव्य शक्ति और आनदरूपी अमृत को मानव-जाति का कल्याण करने के लिए संचार करने की।

सक्रिय राजनीति मे

बडौदा मे रहते हुए ही अरविंद ने राजनीतिक कार्य आरभ कर दिया था, किंतु राज्य की सेवा में नियुक्त होने के कारण ऐसी स्थिति नही थी जिसमे वह स्वतत्रतापूर्वक कार्य कर सकते। अवकाश मिलने पर वह अपने कुछ साथियो के साथ गुप्त रूप से बगाल के राजनीतिक आदोलन की तैयारी करते रहे। सन् १९०५ ई० मे जब बँगाल का दो भागो मे विभाजन हो गया तब पूरे देश और विशेषत बगाल मे राजनीतिक

आदोलन आरभ हो गया। इसी समय राज्य की सेवा से त्याग-पत्र देकर अरविंद ने सक्रिय राजनीति मे प्रवेश किया और बगाल चले आये। इस समय कलकत्ते मे एक राष्ट्रीय कॉलेज की स्थापना हुई जिसके ये आचार्य नियुक्त किये गये। इस कालेज द्वारा सारे उत्तर भारत के नवयुवको को राष्ट्रीयता का मत्र देकर यह राजनीतिक क्राति करना चाहते थे। उन्होने अग्रेज़ी मे 'वदेमातरम्' और बगाल मे 'युगातर' नामक पत्रो का प्रकाशन आरभ किया और स्वय ही उनका सपादन भी किया। सन् १९०७ ई० मे 'वदेमातरम्' मे एक क्रातिकारी लेख के छापने के अभियोग मे श्री अरविंद को जेल जाना पडा। जेल जाने के पूर्व वही इन पत्रो की नीति के एकमात्र सचालक रहे। राष्ट्रीयता और नवजागरण के प्रसार मे इन पत्रो ने अमूल्य सेवाएँ की। सन् १९०८ ई० मे माणिकटोला बमकेस मे उन पर अभियोग लगाया गया, किंतु वह निर्दोष सिद्ध हुए। सन् १९०८ ई० मे उन्हे अलीपुर षडयत्र केस मे पुन बदी बना लिया गया। यह मुकदमा एक वर्ष तक चलता रहा, किंतु अत मे वह निर्दोष सिद्ध हुए और ठीक एक वर्ष जेल मे विचाराधीन कैदी की भाँति रह कर वह बाहर आये।

दैवी संदेश

जीवन मे श्री अरविंद को कुछ विचित्र अनुभव हुए। यद्यपि उनकी आध्यात्मिक साधना तो निरतर चल ही रही थी, किंतु जेल के एकात जीवन मे उन्होने इधर और प्रगति की। जेल की प्रत्येक वस्तु मे उन्हे भगवान कृष्ण का दर्शन होने लगा। एक दिन जब वह ध्यानमग्न थे तब उन्हे सदेश मिला, 'शीघ्र ही जेल से बाहर जाकर तुम्हे देश का उद्धार करना है। देश का उद्धार करने का अभिप्राय है सनातन धर्म का उद्धार।' जेल से निकलने के बाद उनका जीवन पूर्णतया बदल गया। जेल मे उन्हे न केवल भगवान् के दर्शन हुए, बल्कि वहाँ रहकर वह एक परिपक्व अविक्षुब्ध राजनीतिक तत्वज्ञानी हो गये। इस समय तक उनका जीवन ईश्वरीय अनुभूति से आप्लावित हो चुका था।

पांडीचेरी की ओर

जेल से बाहर आने के बाद एकमात्र नेता के रूप मे एक वर्ष तक वह आदोलन को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास करते रहे। उन्होने अग्रेजी मे 'कर्मयोगी' और बगला मे 'धर्म' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किये, किंतु उनके हृदय में अत संघर्ष जारी था। फलस्वरूप उनके भीतर एक ऐसी प्रेरणा जगी जिसने राजनीतिक क्षेत्र से उन्हें विरक्त कर दिया और वह उस आत्मानुभूति के क्षेत्र मे विचरण करने लगे जिसमे चेतना के निम्नस्तरीय मोह से मुक्त होकर नवीन अनुभव प्राप्त होते है।

सन् १९०९ ई० मे सिस्टर निवेदिता को विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ कि अरविंद पुनः गिरफ्तार होने वाले है और इस बार उन्हे देश-निष्कासन का दड मिलेगा। इस

सूचना के प्राप्त होने पर अरविंद ने देशवासियो के नाम एक खुली चिट्ठी प्रकाशित की जिसे उनका अतिम राजनीतिक वसीयतनामा कहा जा सकता है और वह राजनीति से सन्यास लेकर फरवरी सन् १९१० ई० मे गुप्त रूप से चद्रनगर की फ्रासीसी बस्ती मे चले गये। तदुपरात वह वहाँ से अप्रैल मास में पाडीचेरो पहुँच गये। पाडीचेरी पहुँच कर अरविद योग-साधना मे तल्लीन हो गये और उन्हे यह अनुभव होने लगा कि यह आध्यात्मिक कार्य बहुत महान् है तथा उसमे उन्हे अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए।

साधना-काल

सन् १९१०ई० से सन् १९१४ ई० तक का काल आर्थिक दृष्टि से उनके लिए बडा कष्टप्रद रहा, किंतु योगसाधना मे वह लीन रहे। पाडीचेरी मे सबसे पहले वह श्री शकर चेट्टी के यहाँ ठहरे। वह चेट्टी के मकान के सबसे ऊपरी भाग मे रहते थे और एकात मे साधना करते थे। कुछ समय पश्चात् वह एक किराये के मकान मे चले गये और अपने कुछ साथियो के साथ भोजनादि बनाने का सारा कार्य करते हुए साधना करने लगे। सन् १९१४ ई० मे उन्होने 'आर्य' का प्रकाशन आरभ किया। इसी वर्ष फ्रासीसी महिला मीरा रीचार्ड उनसे मिलने आयी और श्री अरविद के योग से बहुत प्रभावित हुई। उन्होने श्री अरविद की सेवा तथा योग-साधना मे अपना जीवन अर्पित कर दिया तथा सन् १९२० ई० से वह पाडीचेरी मे ही श्री अरविंद के साथ बस गयी और आज भी वहाँ का सारा प्रबन्ध वही कर रही है। यही मीरा रीचार्ड आगे चल कर माता जी के नाम से प्रसिद्ध हुई। ज्यो-ज्यो श्री अरविंद की साधना बढती गयी, उनकी ओर लोग आकर्षित होने लगे। साधको की सख्या बढ जाने के कारण पाडीचेरी मे एक विशाल आश्रम की स्थापना हो गयी जिसमे देश-विदेश के जिज्ञासु आज भी योग की शिक्षा ग्रहण करते है।

सिद्धि-प्राप्ति

निरतर साधना के कारण श्री अरविंद मे दिव्य शक्तियो का जागरण हो गया था। उनकी दीर्घ साधना का फल २४ नवबर सन् १९२६ ई० को प्राप्त हुआ। इसी दिन उन्हे सिद्धि की प्राप्ति हुई। इस दिन उन्हे यह अनुभव हुआ कि उनका अधिकार उस अनत ज्ञान और अनत शक्ति वाले मन या विज्ञान पर है जिसके द्वारा असख्य जीवो के भूत, भविष्य और वर्त्तमान को, उनकी निरतर होने वाली आतरिक बाह्य मानसिक और शारीरिक क्रियाओ को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है और उन्हे भगवान का साक्षात्कार कराने, उनके शरीर, मन और प्राण का रूपातर कराने और उन्हे दिव्य बनाने के लिए उनमे आवश्यक ज्ञान और शक्ति का सचार किया जा सकता है।

इस शक्ति को प्राप्त कर लेने के पश्चात् श्री अरविंद पूर्णतया एकात जीवन बिताने

लगे और अपना बाह्य सपर्क केवल माताजी के साथ बनाये रखा। उन्होने वर्ष मे चार ऐसी तिथियाँ निश्चित कर दी जिन पर सर्वसाधारण उनका दर्शन कर सकता था।

महासमाधि

अपने जीवन के अतिम वर्षो मे श्री अरविद के गुर्दे मे रोग हो गया। बहुत दिनो तक उन्होने उसे नियत्रित रखा, किंतु अत मे २ दिसम्बर सन् १६५० ई० को उन्होने इस ससार को त्याग कर दिव्य लोक को प्रस्थान किया। उनकी महासमाधि के अवसर पर डा० राजेद्र प्रसाद ने इन शब्दो मे अपना उदगार प्रगट किया था—"वे प्राचीन ऋषियो की भाँति साहसी और निर्भीक विचारक थे। • वे जो सदेश छोड गये है, आध्यात्मिकता की जो सुवास बिखेर गये है, वह न केवल देश की आने वाली पीढियो को, वरन् सारे ससार को प्रेरणा देती रहेगी। भारत इनकी स्मृति की पूजा और प्रतिष्ठा करता रहेगा और उन्हे अपने महान् मुनियो और देवदूतो मे स्थान देगा।"

जीवन-दर्शन

श्री अरविंद का दर्शन ज्ञेयवादी (Gnostic) है। उन्होने अपने दर्शन मे जीवन की ज्ञेयवादी व्याख्या की है। वह विकास (Evolution) मे विश्वास करते हैं और उन्ही के शब्दो मे इस विकास का लक्ष्य है—विश्व मे व्याप्त दिव्य-शक्ति का प्रगतिशील बोध। उनका कथन है कि एकता की अत प्रेरणा मे दर्शन का आदि और अत निहित है। उनकी सभी रचनाओ मे इस अत प्रेरणा की छाप है क्योकि उनके समस्त विचार मौलिक रूप से इसी अत प्रेरणा पर आधारित है। उनके अनुसार इस ससार के समस्त विकासशील प्राणियो का एक ही प्रयोजन और लक्ष्य है—पूर्ण और अखड चेतना की उपलब्धि। मनुष्य को व्यक्तिगत और सामूहिक या सामाजिक रूप मे इसी पूर्ण और अखड चेतना की प्राप्ति करनी है। वह यह मानते है कि सृष्टि-रचना के पीछे एक प्रयोजन है, इसका एक लक्ष्य है—परम चेतना (Supreme Consciousness) की प्राप्ति। उनके विचार मे इसी चेतना के प्रस्फुटित होने को मानसिक विकास कहते है। विकास के स्तरो को बताते हुए उन्होने कहा है कि विकास-क्रम की आरभिक अवस्था मे जड पदार्थ से वनस्पति-जगत् के रूप मे प्राण का विकास हुआ। इसी विकास के दूसरे स्तर पर प्राण से पशु-मन का विकास हुआ जिसे प्रथम चेतन-चेतना कह सकते है। इसी पशु-मन या ऐंद्रिय मानसिकता से मन (Mind proper) अथवा मानव-मन का विकास हुआ। इस मानव-मन का गुण है विचार करना, तर्क करना। विकास का यह वह स्तर है जहाँ पहुँच कर ऐसी मानव-चेतना का पूर्ण जागरण होता है जो स्वय अपने विषय मे भी विचार करती है।

चेतना के विकास-क्रम की दो विशेषताएँ है। प्रथम पदार्थ, प्राण, मन और बुद्धि—इनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् नही है, वरन् प्रत्येक अनुवर्त्ती स्तर अपने पूर्ववर्त्ती स्तर से जुडा हुआ है। इस विषय मे श्री अरविंद का तर्क यह है कि किसी पदार्थ या वस्तु मे वही चीज उत्पन्न हो सकती है जो पहले से ही उसमे अतर्निहित हो, केवल अतर्निहित ही बहिर्मुख हो सकता है। जड पदार्थ मे से प्राण इसलिए विकसित हुआ क्योकि वह उसमे पहले से ही अतर्निहित था, प्राण पदार्थ मे प्रच्छन्न रूप मे विद्यमान था। इसी प्रकार प्राण से मन का विकास इसलिए हुआ कि वह प्राण मे अतस्थ था, अत प्राण और मन, दोनो पदार्थ मे निहित थे। इसी भाँति, बुद्धि और चेतना (Consciousness Proper) दोनो प्राण मन (Vital mind) मे निहित थे और साथ ही पूर्ववर्ती स्तर पदार्थ मे भी। अत चेतना अव्यक्त रूप मे प्राण और पदार्थ दोनो मे निहित थी। इसलिए इस विकास-क्रम मे मौलिक तत्व चेतना है जो विकास के सभी स्तरो को व्यक्त या अव्यक्त रूप में सूत्र-बद्ध किये हुए है। पदार्थ, चेतना का ही नाम और रूप है जो अचेतन-अवस्था मे रहता है। श्री अरविद का कथन है कि ब्रह्माड की समग्रयोजना है—इसी चेतना, इसी अतिम सत्य की प्रगतिशील अभिव्यक्ति करना। श्री अरविंद इस विकास-क्रम को यात्रिक और स्वचालित नही मानते है, मनुष्य के विकास-क्रम को तो निश्चय ही नही, क्योकि यह क्रम विकास की प्रक्रिया की सोद्देश्य योजना करता है और उसकी गति को अग्रसर करता है। वह इस विकास-क्रम को चेतना का चेतन-विकास मानते है। यद्यपि मनुष्य विकास-मात्रा को व्यक्ति या समष्टि रूप मे अग्रसर कर सकता है, तथापि इसे गति-विमुख नही कर सकता, पीछे नही लौटा सकता क्योकि चेतना का पूर्ण-विकास या सिद्धि दैवी चेतना द्वारा पूर्वनिर्दिष्ट होती है।

विकास-क्रम की दूसरी विशेषता यह है कि प्रत्येक उच्च स्तर पर पहुँच कर विकसित चेतना, अपने पूर्ववर्ती और अनुवर्ती स्तरो को अपने ढग से और अपने नियमो के अनुरूप प्रभावित करती है। उदाहरण के रूप मे, प्राण और पदार्थ का समवाय रूप प्राणी है। यह पदार्थयुक्त प्राणी पदार्थ से पृथक् या भिन्न रूप मे कार्य करता है क्योकि जड पदार्थ की भाँति वह कठोर यात्रिक नियमो से शासित नही होता है। इसी प्रकार मनयुक्त प्राणी केवल प्राणयुक्त चीजो और जड पदार्थ से भिन्न रूप मे कार्य करता है। इसी प्रकार, बुद्धियुक्त मन का विकास हो जाने पर उसका कार्य पूर्ववर्त्ती स्तरो से भिन्न होता है। बुद्धि और तर्कयुक्त मनुष्य अपने भौतिक वातावरण और पाशविक प्रवृत्ति को पुन: नये रूप मे ढालने का प्रयत्न करता है। पुन सगठन की यह प्रक्रिया, विशेषकर मानव-प्रवृत्ति की एक चेतन-आवश्यकता (Conscious Need) होती है जो वनस्पति-जगत् की सहज क्रिया से भिन्न होती है। चेतना के इन तीन स्तरो का मनुष्य ने अपनी चेतना के प्रकाश में, बुद्धि के प्रकाश मे वर्गीकरण किया है और क्रम बद्ध बनाया है जिसे हम भौतिक विज्ञान, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान के रूप मे जानते है।

श्री अरविंद के अनुसार विकास की यह प्रक्रिया निरतर अग्रसर हो रही है और विकास-क्रम मे चेतना की एक ऐसी स्थिति का आना अवश्यभावी है जिसे वह अतिमानसिक स्तर कहते है । इस स्तर तक पहुँच जाने पर, पृथ्वी पर एक नवीन चेतना, एक नवीन जाति का उदय होगा । उन्होने बताया है कि चट्टानो और खनिजो से वनस्पति की उत्पत्ति हुई, वनस्पति से पशु उत्पन्न हुआ । इसी प्रकार पशु से मानव का विकास हुआ और अब मानव से अतिमानव का विकास होना अनिवार्य है ।

श्री अरविंद कहते है कि अपनी सीमित बुद्धि और तर्कशक्ति के कारण मनुष्य के लिए उस नवीन चेतना के स्तर की कल्पना करना कठिन है, जैसे वनमानुष के लिए मनुष्य के रूप मे अपने भावी विकास की कल्पना करना कठिन रही होगी । जिस प्रकार मानवी चेतना के विकास के इस स्तर पर भी हमे उच्च स्तर के कुछ विशेष सकेत मिलते है, उसी प्रकार वनमानुष को भी उस तर्क की झाँकी मिली होगी जिसे मनुष्य की विशेषता मानी जाती है । ये सकेत हमे सहज ज्ञान, अन्त प्रेरणा और दैवी प्रकाश के रूप मे प्राप्त होते हैं । उच्चकोटि के वैज्ञानिक और गणितज्ञ अपने अनुसधानो और आविष्कारो का श्रेय अपने सहज ज्ञान को ही देते है । अत प्रेरणा के द्वारा ही कवि और कलाकारो को यथार्थ के सौदर्य का बोध होता है । प्राचीन या आधुनिक सभी साधु-मतो और रहस्यवादियो को, जो बहुत ही विकसित प्राणी होते है, सत्य की प्रत्यक्षानुभूति होती है जिसे दैवी प्रकाश भी कहते है । चेतना के ये अतिसामान्य रूप तर्क या मानव-बुद्धि की उपज नही है । चेतना के अतिसामान्य रूप यदाकदा मानव-चेतना के क्षेत्र मे अवतरित होते है । इन्ही के द्वारा चेतना के उच्चतम और श्रेष्ठतम स्वरूप का आभास मिलता है । जिस प्रकार तर्क और युक्ति मानव मन की विशेषताएँ है उसी प्रकार सहज ज्ञान, अतःप्ररणा और दैवी प्रकाश अतिमानव की विशेषताएँ है ।

चेतना की इस अतिसामान्य स्थिति को प्राप्त करना मानव-चेतना के लिए दुर्लभ है । यह हमारी इच्छा-शक्ति के परे है । अतिमानसिक चेतना केवल अतिमानव के ही सहज, पूर्ण और शाश्वत अधिकार की वस्तु है, किंतु फिर भी यदि मनुष्य अपनी वर्त्तमान चेतना को और अधिक श्रेष्ठ, विकसित और अतिचैतन्य बनाए तो अतिमानव को जन्म देने मे समर्थ हो सकेगा । पूर्ववर्त्ती स्तरो पर विकास की प्रक्रिया अपनी प्राकृतिक एव स्वाभाविक गति के अनुसार धीरे-धीरे होती है, किंतु अब मानव-चेतना के स्तर पर यदि मनुष्य चाहे तो अपने विचार एव चेतनप्रयास द्वारा, अपनी सुव्यवस्थित, प्रबल एव प्रयत्ननिष्ठ इच्छाशक्ति द्वारा अतिमानस के स्तर पर शीघ्र ही पहुँच सकता है । अचेतन और चेतन विकास-क्रम मे यही अतर है कि अचेतन स्तर पर विकास करने मे शताब्दियो एव अगणित जन्म लग जाते हैं, किंतु चेतन-विकास द्वारा मनुष्य समय और काल की दूरी का अतिक्रमण करके, शीघ्र ही, गतिपूर्वक उच्चतम विकास प्राप्त कर सकता है ।

इस अतिमानसिक स्तर को प्राप्त कर लेने पर अज्ञान का नाश हो जाता है और

फिर प्रकाश ही प्रकाश, ज्ञान ही ज्ञान रहता है। मानसिक क्षेत्र की उच्चतम ऊँचाई पर पहुँच कर भी प्रकाश और अन्धकार, ज्ञान और अज्ञान दोनो मिले-जुले रूप मे ही रहते है। इस स्तर पर भी सदेह, द्वैतभाव और अनिश्चय के तत्व वर्त्तमान रहते है। इस स्तर पर मनुष्य अधकार से कम अधकार की ओर अग्रसर होता है। दूसरे शब्दो मे, उसका प्रत्यक्षीकरण आशिक होता है। किंतु अतिमानसिक स्तर पर पहुँच जाने पर मनुष्य प्रकाश से अधिक प्रकाश, ज्ञान से अधिक ज्ञान की ओर अग्रसर होता है। अतिमानस के स्तर पर पहुँच कर मानसिक चेतना के सभी भेद, द्वैतभाव, अज्ञान, शका, सदेह और आशिक प्रत्यक्षीकरण का नाश हो जाता है।

श्री अरविंद के विचार मे यह सभव नही है कि मनुष्य एक ही छलाग मे अतिमानस के उच्च स्तर पर पहुँच सके। अत मानसिक स्तर से अतिमानस तक पहुँचने के लिए उन्होने दो और स्तरो की बात की है—उपरिमन तथा दिव्यमन। मानसिक स्तर अज्ञान और अन्धकार का स्तर है और अतिमानसिक स्तर पूर्ण प्रकाश और ज्ञान का स्तर है। इन दोनो के सधि-स्थल पर गोधूली की भाँति अधकार और प्रकाश मिले-जुले होते है। इस स्थल के पार अतिमानस की सीमा मे उपरिमन और दिव्यमन की स्थिति है। अतिमानस विकास की वह अवस्था है जहाँ प्रत्यक्ष, निश्चित एव पूर्ण ज्ञान का जाज्वल्यमान प्रकाश है। यह ज्ञान की वह अवस्था है जिसमे विषयी और विषय मे कोई भेद नही रह जाता। यही आत्म-ज्ञान की अवस्था है। मानसिक स्तर पर सत्य की उपलब्धि के लिए इच्छा-शक्ति को प्रयत्न, सघर्ष और श्रम करना पडता है, किंतु इस स्तर पर पहुँच कर वह चेतना की आत्मशक्ति के सहज प्रकाशन के रूप मे व्यक्त होने लगती है। यहाँ इच्छा करते ही सत्य की उपलब्धि हो जाती है क्योकि इस स्तर पर ज्ञान और इच्छा मे अभेद होता है। इस अतिमानसिक स्तर पर पहुँच जाने पर अभूतपूर्व शाति का अनुभव होता है, आनद द्वारा सृष्टि का रहस्य स्पष्ट हो जाता है तथा हर्षातिरेक की इस स्थिति मे सत्ता की सत्यता का बोध हो जाता है।

श्री अरविंद का विचार है कि यह अवस्था मौलिक रूप मे वेदातिक विचारधारा के सत्, चित्, आनद का ही स्वरूप है। यहाँ केवल सत्, चित्, आनद का एकीकरण कर दिया गया है। सासारिक जीवन और अस्तित्व का आधार यही एकीकृत चेतना है। यह एकीकृत चेतना अपने श्रेष्ठ नियमो के अनुकूल सासारिक जीवन और अस्तित्व के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करती है। श्री अरविंद की भविष्यवाणी है कि उच्च आध्यात्मिक स्थिति आ रही है और उसका आना निश्चित है। उसका आगमन अतीत मे किए गए सभी मानव प्रयत्नो की चरम परिणति का सूचक होगा।

पाप की समस्या

मानव की सभी समस्याओ में सबसे जटिल समस्या पाप की है—वैयक्तिक और

सामाजिक दोनो क्षेत्रो मे । इसकी मूल प्रकृति, कारण तथा निदान के विषय मे श्री अरविंद का कथन है कि सामान्य रूप से इस प्रश्न को निराश होकर छोड दिया जाता है, प्राय यह भी बलपूर्वक कहा जाता है कि मनुष्य के आदिम स्वभाव मे पाप, अज्ञान और अविवेक निहित है और इनका उन्मूलन असाध्य है, केवल मूलप्रवृत्यात्मक स्तर पर व्यक्ति के जीवन मे और विशेषकर सामाजिक जीवन मे थोडा सुधार हो सकता है । अनेक सुधारको, आदर्शवादियो और परमज्ञानियो ने भी इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा की है और कुछ लोगो ने तो इसे समूल नष्ट करने की चर्चा भी की है, परतु भूत और वर्त्तमान के तमाम प्रयत्नो की अपेक्षा भी यह समस्या पूर्ववत् विद्यमान है । श्री अरविद के विचार मे इस पाप का उन्मूलन अतिमानस के स्तर पर अतिमानव द्वारा ही हो सकता है । शुभ और मगल सदैव से ही इस समस्या का समाधान रहा है और आज भी है, किंतु श्री अरविंद का कथन है कि यह शुभ या मगल चेतना के उसी निम्न स्तर का भागी है जिसका कि पाप । श्रेष्ठ आध्यात्मिक मानवी स्तर वाले प्राणी के भरपूर प्रयत्न द्वारा भी इसे दूर नही किया जा सकता है । इसका उन्मूलन अतिमानसिक रूपातर द्वारा ही सभव है । पाप के उन्मूलन के सबध मे अब तक जो प्रयास हुए है, श्री अरविंद कहते है, कि वे व्यर्थ नही जायँगे । वे मनुष्य के जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे, विभिन्न स्तरो पर की गई तैयारियो के रूप मे है ।

श्री अरविंद कहते है कि यदि हम अपने देश मे पाप की समस्या पर विचार करे तो ज्ञात होगा कि इस सबध मे हमारे यहाँ जो प्रारभ में दृष्टिकोण था वह आज पूर्णतया बदल गया है । सर्वप्रथम, हम उपनिषदो मे पाप की समस्या पर जिस दृष्टिकोण से विचार किया गया है उसे देखे । उपनिषदो के अनुसार पाप की भावना तभी तक विद्यमान रहती है जब तक कि व्यक्ति की चेतना पर अज्ञान का आवरण पडा रहता है । ज्यो ही यह आवरण हट जाता है त्यो ही पाप लुप्त हो जाता है । जब तक इस विचारधारा का प्राधान्य था तब तक पाप की समस्या को सार्वभौमिक स्थिति नही प्राप्त थी क्योकि यह माना जाता था कि पाप व्यक्तिगत चेतना मे अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है । फलत यह समझा जाता था कि व्यक्ति मे सत्य ज्ञान के उत्पन्न होते ही यह उसी प्रकार नष्ट हो जायेगा जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से ओस की बूँदें समाप्त हो जाती है । इस दृष्टिकोण से पाप की समस्या मुख्यत एक व्यावहारिक समस्या भी थी, यह केवल व्यक्ति के प्रशिक्षण की समस्या थी जिससे कि वह सत्य ज्ञान की उपलब्धि करने मे समर्थ हो सके । यह प्रशिक्षण 'योग' के साथ घनिष्ठ रूप से सबद्ध था अथवा 'पाप' की समस्या का समाधान 'योग' में निहित था । उपनिषदो मे भी हमे सार्वभौमिक मुक्ति अर्थात् समस्त सासारिक-प्राणियो की पाप से मुक्ति का सकेत मिलता है । उपनिषद् के इस दृष्टिकोण से, श्री अरविंद कहते हैं कि ससार के मिथ्यात्व का सकेत नही मिलता । इसके प्रतिकूल, यह कहा जा सकता हैं कि उपनिषदो की धारणा ससार को अवास्तविक मानने के विरुद्ध

है। उपनिषदो मे, ससार मे ईश्वर के सर्वान्तर्यामी होने के विचार पर विशेष रूप से बल दिया गया है और यह विचार प्रत्यक्षत शकराचार्य के मायावाद के सिद्धात के विरुद्ध है जो ससार को मिथ्या मानता है। अत परवर्ती युग मे, श्री अरविद कहते हैं, पाप के स्वरूप-सबधी विचारो मे परिवर्तन होने के कारण ससार को मिथ्या माना जाने लगा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि लोग 'पलायनवाद के सिद्धात' मे विश्वास करने लगे। ससार क्योकि मिथ्या है, अत हमे संसार से पलायन करना चाहिए। उपनिषदो का कहना है कि हमे विषयो से बचना चाहिए और उनका यह कथन इस तथ्य से सर्वथा भिन्न है कि हमे ससार से पलायन करना चाहिए।

पाप की समस्या के सबध मे एक दूसरा 'अतिवादी' दृष्टिकोण भी है। इसके अनुसार पाप ससार की स्थायी विशेषता है। पश्चिम के लोग इसी दृष्टिकोण के पक्षपाती है, किंतु श्री अरविद इसका भी समर्थन नही करते है। अतिवादी दृष्टिकोण की मान्यता है कि पाप भी उतना ही सत्य है जितना पुण्य। पाप की समस्या, इस ससार मे, पाप और पुण्य के सह अस्तित्व की समस्या है। सामान्यत पुण्य की स्थिति ऊँची मानी जाती है और समझा जाता है कि ईश्वर उसके साथ एकात्म है। जो कुछ भी हो, इससे समस्या और असाध्य हो जाती है क्योकि पुण्य के साथ एकातम ईश्वर पाप के बने रहने को कैसे सहन कर सकता है जो उसकी प्रकृति के प्रत्यक्ष विपरीत पडता है। अत यह समस्या पाश्चात्य दार्शनिको के समक्ष अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देती है। श्री अरविंद इस पाश्चात्य दृष्टिकोण से सहमत नही कि ससार आज बुरा है और यह सदैव बुरा बना रहेगा।

श्री अरविद का कथन है कि यदि पाप की समस्या को ससार की स्थायी एव असाध्य समस्या नही बना रहना है तो यह अनिवार्य है कि हम पुराने दृष्टिकोण को त्याग दें— चाहे वह प्राच्य दृष्टिकोण हो अथवा पाश्चात्य और इस समस्या पर नये ढग से विचार करें। स्वय हमारे प्राचीन दृष्टिकोण में यह दोष है कि वह पाप की समस्या को गभीर रूप मे ग्रहण नही करता है। इस समस्या के उद्गम और निराकरण दोनो को समझने के लिए हमें 'विकास के आध्यात्मिक सिद्धात' को, जो सृष्टि का केन्द्रीय सत्य है, पूर्ण रूप से जानना होगा। 'विकास-क्रम' वास्तव मे सृष्टिक्रम से उल्टी क्रिया है। जिस प्रकार सृष्टि, पदार्थ, जीवन और मन में आत्मा की अतर्निहिति है उसी प्रकार विकास पदार्थ, जीवन और मन से अपनी वास्तविक प्रकृति मे आत्मा का पुनरावर्त्तन है। विकास के इस सामान्य स्वभाव से यह स्पष्ट है कि यह विकास तब तक नही रुकेगा, जब तक कि सपूर्ण जगत् पूर्ण आत्मा या सच्चिदानन्द की स्थिति को प्राप्त नही कर लेता है। इसलिए विकास की बात करना और पाप की शाश्वत सत्ता पर ज़ोर देना, दोनो परस्पर विरोधी बातें है। यदि विकास एक तथ्य है तो पाप कभी भी ससार की एक स्थायी विशिष्टता नही बन सकता। विकास के एक निश्चित स्तर पर पहुँच कर और एक निश्चित

दशा मे पाप का उदय और प्रसार ससार में होता है और जब वे दशाये नही रहती तब उसका नाश हो जाता है। अत पाप ससार की अस्थायी एव आकस्मिक विशिष्टता है। ससार अपने आप मे पापमय नही है, आरभ मे भी ससार पापपूर्ण नही था क्योकि उस समय ससार अचेतनता के अधकार से आच्छादित था और इस दशा मे पाप और पुण्य का कोई भेद ही नही किया जा सकता था। विश्व के विकास के मध्यवर्ती स्तर पर पाप की सभावना रहती है। पाप का अस्तित्व केवल जीवन और मानसिक स्तर पर ही रहता है। उच्चतर स्तरो पर उसका लोप हो जाता है।

पाप के इस प्रकार के उद्भव को समझने के लिए हमे उस स्थिति का चित्र अपने सामने रखना होगा जब विकास-क्रम मे पदार्थ से प्राण का स्फुरण होता है। इस स्तर पर प्राण चारो ओर से भौतिक शक्तियो से घिरा रहता है और अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए विरोधी शक्तियो के विरुद्ध अपने को प्रबल रूप मे प्रदर्शित करने के लिए बाध्य होता है। इस प्रकार तब सर्वप्रथम प्राण या जीवन मे अपने को उत्तेजक रूप मे उपस्थित करने की शक्ति उत्पन्न होती है जिसे 'अहकार' कहते है। अत 'अहकार' का उदय उस आवश्यकता के कारण होता है जिसका अनुभव 'जीवन' या प्राण असहिष्णु प्रकृति के विरुद्ध अपनी रक्षा के लिए करता है। चेतना के अधिक विकसित रूप के उदय होते ही 'अहकार' और भी शक्तिशाली एव सुरक्षित रूप मे विकसित होता है क्योकि प्राण-स्तर पर अहकार के साथ मानसिक अहकार का सपर्क हो जाता है। यही 'अहकार' पाप के उदय का मूल है। पाप के उदय होने की इस प्रक्रिया से यह स्पष्ट है कि पाप उस समय उत्पन्न नही हो सकता जब विकास क्रम विशुद्धत भौतिक स्तर पर होता है क्योकि उस स्तर पर अचेतनता के अधकार मे आत्म-सज्ञा (Self-awareness) नही होती और आत्माग्रह (Self assertiveness) नही के बराबर होता है। पाप के उत्पन्न होने के लिए यह आवश्यक है कि विकास-क्रम प्राण-स्तर पर पहुँचा हुआ हो। कारण, इसी स्तर पर पहुँचकर आत्म-प्रदर्शन एव अहकार का विकास होता है।

सामान्यत पाप के उदय होने का यही ढग है। किंतु इसके अतिरिक्त दूसरा भी मार्ग है जिसके द्वारा पाप ससार मे प्रवेश करता है। श्री अरविंद के अनुसार अति-भौतिक सत्ताएँ होती है जिनमे ऐसी शक्तियाँ है जिनका मूल अज्ञान मे होता है और जो अपनी शक्ति का उपयोग करती है। ये अतिभौतिक सत्ताएँ भौतिक प्राणियो पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए सत्य, प्रकाश और पुण्य की वृद्धि को रोकती है। सबसे बडी बात तो यह है कि ये दैवी चेतना और दैवी अस्तित्व की ओर जाने वाली मानव-प्रकृति के प्रयास में बाधा डालती है। इन्ही अतिभौतिक सत्ताओ का वर्णन पुराने समय के धर्म, गाथा आदि मे चला आ रहा है और सभी प्रकार के रहस्यात्मक ज्ञान मे जिनकी स्थिति है। अतिभौतिक जगत् में यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि रहते है जिनका वर्णन प्राचीन धर्मों मे पाया जाता है। यद्यपि अधकार का प्रतिनिधित्व करने वाली ये

शक्तियाँ बडी शक्तिशालिनी होती है, तथापि उनके अस्तित्व को विश्व की स्थायी विशेषता नही माना जा सकता है। इस प्रकार हम देखते है कि पाप ने जिस भी द्वार से ससार मे प्रवेश किया हो, यह ससार मे स्थायी रूप से ठहर नही सकता। इसका अस्तित्व तभी तक रहता है जब तक विकास-क्रम प्राण और मानसिक स्तर पर होता है, किंतु उच्च स्तर का विकास होते ही यह लुप्त हो जाता है।

प्रश्न यह उठता है कि ससार पाप से मुक्त कैसे हो? इस समस्या का समाधान ससार के तात्विक रूपातर मे प्राप्त किया जा सकता है, केवल व्यक्ति की चेतना मे ज्ञान के प्रवेश से नही। यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारी समस्या सार्वभौमिक है, व्यक्तिगत नही। यदि कुछ व्यक्ति व्यक्तिगत आधार पर पाप से मुक्ति प्राप्त भी कर लें तो भी हमारी समस्या जहाँ की तहाँ रह जाती है। श्री अरविंद ससार के उस तात्विक परिवर्तन की कल्पना करते है जिसके आधार पर ससार पाप के दु स्वप्न से पूर्णतया मुक्त हो जायेगा।

यह तात्विक परिवर्तन किस प्रकार किया जाय? हम पहले ही देख चुके हैं कि विकास अचेतन रूप से मदगति से बराबर हो रहा है, पर इस मदगति से होने वाले परिवर्तन मे अधिक समय लगेगा। यदि हम शीघ्र ही तात्विक परिवर्तन चाहते है तो विकास की निरतर होने वाली प्रक्रिया को किसी दूसरी पूरक वस्तु द्वारा तीव्र करना होगा। यह दूसरी वस्तु है 'दैवी अनुकपा' या दैवी प्रकाश का अधिक-से-अधिक मात्रा मे अवतरण। 'दैवी अनुकपा' तात्विक परिवर्तन की अनिवार्य मान्यता है और केवल यही ससार को पाप से मुक्त कर सकती है। किंतु यदि ईश्वरीय अनुकपा ससार की प्रकृति मे तात्विक परिवर्तन का प्रधान माध्यम है तो इसका तात्पर्य यह नही है कि मनुष्य के प्रयास की उपेक्षा की जाय। इसके विपरीत दैवी अनुकपा को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को अपने को उपयुक्त एव सुपात्र बनाना होगा। जब तक मनुष्य सुपात्र नही होता, उसमे 'दैवी अनुकपा' को पाने की तीव्र प्रेरणा नही होती, तब तक अनुकपा का अवतरण नही होता है। मनुष्य, योग-पद्धति द्वारा, 'दैवी अनुकपा' के अवतरण के समय, उसे ग्रहण करने के लिए अपने को योग्य अथवा उपयुक्त बना सकता है।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उपयुक्तता के विषय मे श्री अरविद और परपरागत विचारो मे भेद है। उपयुक्तता से श्री अरविंद का वह तात्पर्य नही है जो परपरागत विचारधारा मे है, अर्थात् शरीर, जीवन और मन से पूर्ण तटस्थता (Detachment)। ऐसी तटस्थता मनुष्य को दैवी प्रकाश को ग्रहण करने के बजाय अनुपयुक्त बनाती है। दैवी प्रकाश ग्रहण करने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी पूर्णसत्ता (अर्थात् शरीर, जीवन और मन) के साथ ग्रहणशील बने। यदि दैवी प्रकाश व्यक्ति के जीवन के एक ही अश को उद्भासित करता है तो व्यक्ति उसे अक्षुण्ण नही रख सकेगा और वह अपनी पूर्वावस्था मे पुन पहुँच जायगा। इसके अतिरिक्त, उपयुक्तता का अर्थ है कि व्यक्ति ससार

को उच्चतर स्थिति तक उठने मे सहायता करेगा। परतु शरीर, जीवन और मन से तटस्थ व्यक्ति, इसके विपरीत अपने को ससार से पूर्णतया पृथक् कर लेगा जो अध्यात्म विरोधी कार्य है क्योकि आध्यात्मिकता का तात्पर्य है सपूर्ण विश्व के साथ एकात्म का स्थापन। जो भी हो, दैवी अनुकपा और आत्म-प्रयास को एक दूसरे का विरोधी समझना भूल होगी। वे दोनो परस्पर विरोधी न होकर एक ही सत्ता के दो पहलू है। इन दोनो को विकास-क्रम मे पग-पग चलना है।

श्री अरविंद : अतिमानव के देवदूत

श्री अरविंद के विचार मे अतिमानस का अविर्भाव (Emergence) विकास की अनिवार्यता है। इसी के परिणामस्वरूप अतिमानव का उदय होना भी अनिवार्य है क्योकि अतिमानव मे ही अतिमानस का अवतरण होता है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि अतिमानव और अवतार दोनो एक ही नही है। इस ससार मे अवतार का जन्म एक विशेष मन्तव्य से होता है। ईश्वर उसे एक विशेष उद्देश्य से भेजता है और वह उस उद्देश्य को कार्यान्वित करने के लिए ससार मे आता है और कार्य समाप्त होते ही वह ससार से विकास की प्रगति को वैसे ही छोडकर चला जाता है। वह विश्व की प्रवृत्ति मे कोई तात्विक परिवर्त्तन नही करता, वह तो विकास के मार्ग की महान् बाधाओ को दूर कर विकास के मार्ग को प्रशस्त बनाता है ताकि वह अपनी मथरगति से अग्रसर हो सके। यह सत्य है कि अवतार मनुष्य-शरीर मे जन्म लेता है, किंतु इसका यह अर्थ नही है कि वह संपूर्ण मानव जाति को दिव्यता प्रदान करता है। मनुष्य के शरीर मे अवतार के आगमन से यह भी सिद्ध हो जाता है कि मनुष्य का शरीर दिव्यसारतत्व (Divine Essence) अपने भीतर रख सकने में सर्वाधिक समर्थ है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य मे दिव्य बनने की क्षमता है। इसके अतिरिक्त अतिमानव ससार मे किसी विशेष उद्देश्य से नही आता और न उस उद्देश्य के पूरा होते ही चला जाता है। वह विश्व में स्थायी रूप से निवास करने के लिए आता है और अपने उच्च कार्यों से विश्व को ऊँचा उठाता है। वह एक व्यक्ति के रूप मे नही आता, वरन् एक उच्च जाति के प्राणियो के सदस्य के रूप मे आता है। जब विश्व का विकास उस स्तर पर पहुँच जाता है कि अतिमानव का आविर्भाव हो तब अतिमानव एक व्यक्ति के रूप मे नही, वरन् अतिमानवो की एक जाति के रूप मे आता है।

अतिमानव पवित्र होते हुए भी ईश्वर के समरूप (Identical) नही होता और न उसके आविर्भाव के साथ ही विकास का क्रम रुक जाता है। हाँ, इस क्रम मे एक तात्विक परिवर्तन अवश्य होता है—अतिमानव के अवतरण के पूर्व यह विकास अज्ञान के द्वारा होता है पर उसके अवतरण के पश्चात् सर्वप्रथम विकास ज्ञान के द्वारा होता है। किन्तु ज्ञान की भी कई कोटियाँ होती है, अत विकास-क्रम तब तक ऊर्ध्वगामी बना रहता है

जब तक कि सच्चिदानद का आविर्भाव नही होता जो सत्, चित् और आनदस्वरूप है।

यह स्मरण रखना बहुत ही आवश्यक है कि अतिमानव के विकास का यह सिद्धात मानवतावाद के सिद्धात से बहुत भिन्न है। मानवतावाद मानव और उसकी समस्याओ मात्र को ही दर्शन का विषय मानता है। वह प्रत्येक तथ्य को, मानव की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि क्षेत्रो की विभिन्न वर्त्तमान आवश्यकताओ को ध्यान में रखकर, मानव-दृष्टिकोण से आँकता है। वह उप-मानव (Sub human) तथा अतिमानव-जगत् के सबध में बिल्कुल विचार नही करता। श्री अरविद के विचार मे यह एक अपूर्ण विचारधारा है। मानव और उसकी समस्याएँ विकास-क्रम के एक स्तर से ही सबधित है, अत उन्हें इतना महत्त्व नही दिया जा सकता कि वे अन्य समस्याओ को ढँक ले। मानवतावादी केवल नतिक जगत् मे ही रहते है। नैतिकता अकेली हमे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति नही करा सकती।

अतिमानव के विकास का दर्शन इससे भिन्न है। यह सपूर्ण विश्व पर विचार करता है, केवल मानव और उसकी समस्यायो पर ही नही जो कि सपूर्ण विश्व का एक अग मात्र है। हाँ, इसका आग्रह इस बात पर है कि मनुष्य ने अपनी उस क्षमता को प्रदर्शित किया है जिससे स्पष्ट है कि वह मनुष्य से ऊँचा उठ सकता है। श्री अरविद का विश्वास है कि जब 'उच्चतर प्रकाश' का अवतरण होगा और वह प्रकाश सपूर्ण विश्व को और भी अधिक उदात्त, श्रेष्ठ एव पवित्र रूप में रूपातरित कर देगा, तब उस प्रकाश का अवतरण मनुष्य की चेतना मे होगा। इस अवतरण का परिणाम होगा मनुष्य का अतिमानव के रूप मे परिवर्त्तन और साथ ही उसकी प्रकृति का पराप्रकृति के रूप मे रूपातर। अतिमानव और उसकी पराप्रकृति के इसी दृष्टिकोण से ही श्री अरविंद विश्व के सबध मे विचार करने का प्रयत्न करते है। इस दृष्टिकोण से मनुष्य की आवश्यकताओ और समस्याओ का विशेष महत्त्व नही है और वे विशाल समस्याओ मे अतर्लीन हो गयी है।

श्री अरविंद द्वारा प्रतिपादित विकास के स्वरूप की विशेषता यह है कि उसमें मनुष्य के लिए अपनी सत्य स्थिति—दैवी स्थिति तक पहुँचने का विधान है। यह विचित्र बात है कि मनुष्य की दिव्यता के सबध मे अपने सिद्धातो का दम भरने वाले पश्चिमी दार्शनिक नैतिक स्तर की अपेक्षा मनुष्य को और ऊँची स्थिति प्रदान न कर सके। उनकी असफलता का कारण है, उनके विकास का दोषपूर्ण सिद्धात। वे या तो विकास का यात्रिक रूप मे ग्रहण करते है जहाँ मनुष्य की दिव्यता की कोई बात नही हो सकती है, या जब वे इसे आध्यात्मिक रूप मे देखते है तब वे आध्यात्मिकता को भौतिकता से पूर्णतया पृथक् कर देते है। इसी कारण से पश्चिम का आध्यात्मिक दृष्टिकोण मनुष्य को मध्य आकाश में लटकता हुआ छोड देता है। वह भौतिक ससार से तो पृथक् हो ही जाता है, साथ ही दिव्यता से भी अलग रह जाता है।†

श्री अरविंद का दर्शन बडे स्पष्ट रूप से पदार्थ (Matter) और आत्मा (Spirit)

---

† S. K Maitra 'Studies in Sri Aurobindo's Philosophy,' pp

मे समन्वय स्थापित करता है, सार्वभौम चेतना मे दोनो की वास्तविकता को स्वीकार करता है। वह कहते है कि हमे सत् (Being) को प्रमाणित करने की आवश्यकता नही है क्योकि हम उसमे निवास करते है। यह सत् ही सभी विश्व-क्रिया (Cosmic activity) का आधार है। परन्तु सत् स्वय असत् (Non-being) से उत्पन्न हुआ है। असत् ही सत् को स्थान देता है, अत सत्ता (Reality) शाश्वत् शान्ति और शाश्वत् क्रिया है जो उसी के अस्तित्व के दो पहलू है। यदि शाश्वत सत्य है तो शाश्वत् असत्य भी है। यदि ससार स्वप्न या भ्रम है और ब्रह्म सत्य है तो यह स्वप्न सत्ता मे ही विद्यमान है, उससे बाहर नही और जिस सामग्री से उसकी रचना हुई है वह वही परमसत्ता है। इस प्रकार यह ससार उतना ही वास्तविक है जितना ब्रह्म। यदि यह ससार वैसा ही भ्रम है जैसे रज्जु मे सर्प का भ्रम तो हम तर्क कर सकते है कि यह भ्रम इसलिए वास्तविक है क्योकि रज्जु और सर्प दोनो का वास्तविक अस्तित्व है। यह भ्रम इसलिए सभव है क्योकि भ्रम होने से पूर्व सर्प किसी समय किसी स्थान पर वास्तविक रूप मे था। इसी प्रकार यदि ससार भ्रम है तो इस रूप मे भ्रम होने से पूर्व उसका वास्तविक अस्तित्व किसी अन्य रूप मे रहा होगा। अत असत् (Non being) और विश्व एक ही शाश्वत् सत्ता की दो विभिन्न स्थितियाँ है। भौतिकवाद और आदर्शवाद एक ही सत्ता के दोनो छोरो पर है। विश्व में इस सत्ता की उच्चतम अभिव्यक्ति केवल उसके चित् पक्ष का प्रदर्शन नही करती वरन् परम बुद्धि, शक्ति और आनद का भी। ब्रह्म ने यदि रूप ग्रहण किया है, पदार्थ-तत्व मे अपने को प्रदर्शित किया है तो केवल आत्माभिव्यक्ति का आनद लेने के लिए। यह सृष्टिक्रम दिव्य इच्छाशक्ति के कारण ही निरतर गतिशील है। अत' श्री अरविद का कथन है कि शकराचार्य ने यह तो ठीक कहा कि ब्रह्म परम मुक्ति (Absolute Freedom) एव शाश्वत स्वयं-पूर्ण (Eternally elf-sufficient) है परतु उन्होने ब्रह्म के एक ही पक्ष पर बल देकर उसके अस्तित्व को एक ही पक्ष तक सीमित कर दिया है। ब्रह्म मे एक साथ ही निराकार और अनादि रूपो की सृष्टि करने तथा पूर्ण प्रशात रहने एव गत्यात्मक होने की क्षमता है।

श्री अरविंद स्वीकार करते है कि ससार अपने वर्त्तमान रूप में, पूर्ण रूप से अपूर्णताओ से भरा हुआ है। यहाँ जीवन-मरण, ज्ञान-अज्ञान, सद्‌गुण और अवगुण का द्वद्व है किंतु सच्चिदानद इन द्वन्द्वो मे भी विद्यमान है। वह इनके माध्यम से भी अपने को व्यक्त करता है। जन्म-मरण ब्रह्म की अमरता की सीमित अभिव्यक्ति है, सुख-दु ख उसके असीम आनद के धूमिल प्रतिबिम्ब है और सद्‌गुण और अवगुण उसकी पूर्णता के आशिक प्रदर्शन है। इस विश्वप्रक्रिया को नियन्त्रित करने वाला रहस्यमय उद्देश्य (Secret Purpose) है इन द्वन्द्वो को उनके परम साररूप मे रूपातरित करना, पदार्थ, प्राण और मन के जगत मे सत्य और अमरता का शासन स्थापित करना।

श्री अरविंद का विश्वास है कि शरीर, प्राण और मन को उनकी वर्त्तमान अशुद्धियो से शुद्ध और मुक्त किया जा सकता है और वे सच्चिदानद की अभिव्यक्ति के पूर्ण माध्यम बन सकते है। ऐसा इसलिए सभव है कि भौतिक शरीर सच्चिदानद के विशुद्ध अस्तित्व का सबसे निम्न स्तर है, प्राण उसकी असीम शक्ति या चेतन शक्ति की अभिव्यक्ति है और मन उसको व्यापक सत्य चेतना की। अत यह विश्व ब्रह्म से उत्पन्न है, उसका आवास है और निरतर उसके ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार श्री अरविंद ने आदर्शवाद और भौतिकवाद, आत्मा और पदार्थ की विरुद्धता मे उस चेतना के द्वारा समन्वय स्थापित किया है जो कि विश्व का केन्द्रीय और शाश्वत् सत्य है।

भौतिकवाद के समर्थक दार्शनिको से श्री अरविंद प्रश्न करते है कि सत्, पदार्थ मे कैसे रूपातरित हो जाता है ? दूसरे शब्दो मे, चेतना पदार्थ मे कैसे रूपातरित हो जाती है ? वह स्वय ही उत्तर देते है कि इस पदार्थ स्तर पर, चेतना अपने कार्य मे, स्वय को भूल गयी है, जैसे, कोई मनुष्य जब काम मे बहुत व्यस्त हो जाता है तब अपनी सुध-बुध खो बैठता है और उस क्षण केवल कार्य तथा कार्य करनेवाली शक्तिमात्र रह जाता है। इसी प्रकार जब पदार्थ मे चेतना विकसित होती है तब वह उसी मे अपने को भूल जाती है और फिर धीरे-धीरे इस दीर्घकालीन आत्म-विस्मृति से, इस पूर्वचेतन स्तर (Pre-sentient stage) से, अर्धचेतन की ओर बढती हुई, अत मे सघर्ष करती हुई फिर आत्म-चेतन, स्वतन्त्र, असीम, और अमर होना चाहती है। मन और पदार्थ इसी चेतना शक्ति के विभिन्न स्तर है। मान लीजिए कि यदि हम यही स्वीकार करते है कि चेतना का विकास पदार्थ से हुआ है, फिर भी चीज तो वही विकसित होगी जो पहले से उसमें अतर्निहित थी। वास्तवकता यह है कि प्राण, मन आदि स्तरो पर चेतना का रूप परिवर्तित हो जाता है। सबसे उच्च स्तर पर यह चेतना अस्तित्व की आत्म-चेतन शक्ति है।

श्री अरविंद का कथन है, जो कुछ भी हो, विभिन्न रूपो मे भी चेतना का सिद्धात वही रहता है। यह चित्त ही है जो शक्ति के रूप मे विश्व की सृष्टि करता है। यहाँ हम उसी 'एकता' पर पहुँचते है जहाँ भौतिकवादी विज्ञान अपने दृष्टिकोण से पहुँचता है अर्थात् मन पदार्थ से भिन्न अन्य कोई शक्ति नही है, मन केवल भौतिक शक्ति का ही विकास और परिणाम है। श्री अरविंद ने पदार्थ और मन को एक ही शक्ति के विभिन्न स्तर बताकर, प्राचीन भारत के औपनिषद-दर्शन की बहुत ही युक्ति-युक्त व्याख्या की है। वह न तो शकर के निवृत्तिवादी दृष्टिकोण (Ascetic View-point) का समर्थन करते है और न घोर भौतिकवाद का। उनका दर्शन पदार्थ और चेतना दोनो का समर्थन करता है और दिव्य जीवन के समन्वय की प्राप्ति मे दोनो को स्थान देता है।

श्री अरविंद चेतना को स्वीकार करने के साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि मानव-चेतना का विश्व-चेतना में विस्तार सभव है। आधुनिक मनोविज्ञान भी यह मानता

जा रहा है कि मानवता में विश्व-चेतना की सभावना है। मानव-चेतना का विश्व-चेतना से मिलन योग द्वारा सभव है और भारतीय साधक यही आदर्श अपने सम्मुख रखते आये है।

जीवात्मा का स्वभाव या प्रकृति

श्री अरविद ने अपने दर्शन मे व्यक्ति की आत्मा (Individual Soul) की अमरता को स्वीकार किया है, अत वह जीवात्मा के पुनर्जन्म मे भी विश्वास करते है। मानव-स्तर पर व्यक्ति स्वय परम चेतना की प्राप्ति के लिए प्रयास करता है। इससे प्रत्येक जीवात्मा की महत्ता का पता चलता है। पुनर्जन्मो द्वारा व्यक्ति की अमर आत्मा दुर्भेद्य अचेतन की दुर्भेद्यता को कम करके दिव्यता की अतिचेतना की ओर आरोह करने का प्रयत्न करती है।

श्री अरविद कहते है कि जीवात्मा का निजत्व (Individuality) केवल आभास, या अज्ञान द्वारा उत्पन्न भ्रम मात्र नही है, वरन् यह परमसत्ता के आधारभूत विधान (Structure) से सबद्ध है। जीवात्मा का वास्तविक निजत्व निरतर बना रहता है, अपरा अथवा निम्न प्रकृति से मुक्ति पाकर भी बना रहता है। ऐसी मुक्ति के बाद जो चीज लुप्त हो जाती है वह है अह (Ego) का मिथ्या निजत्व जो अविद्या या निम्न प्रकृति जन्य है। श्री अरविद के विचार मे जब कि अहपूर्ण निजत्व व्यक्ति मे सारे ससार से पृथकत्व की भावना उत्पन्न करता है, तो 'वास्तविक व्यक्ति' (True Individual) विश्व आत्मा के जीवन से सलग्न होता है और उसे यह ज्ञान रहता है कि वह अति वैश्व-परात्पर भगवान् (Supra Cosmic Transcendent Divine) से अविभाज्य है।

विशिष्टाद्वैतवाद की भाँति, श्री अरविंद का भी विश्वास है कि वास्तविक निजत्व (True Individuality) ईश्वर का शाश्वत् अश है, फिर भी जीवात्मा के सार-तत्व के सबध मे वह अद्वैतवाद की ओर आकर्षित होते है। जीवात्मा अपनी सत्ता और सार रूप मे ईश्वर से तद्रूप है और ईश्वर अविभाज्य रूप मे प्रत्येक व्यक्ति मे विद्यमान है। अत जीवात्मा शाश्वत् रूप मे पूर्ण और सभी बधनो से मुक्त है। यह जन्म, विकास, नाश का विषय नही है वरन् उत्पत्ति और विनाश के परिवर्तनो से परे है। जीवात्मा परमात्मा ही है, किंतु 'उसके' अस्तित्व की एक विशेष स्थिति (Poise) मे। यह परमात्मा से भिन्न है क्योकि यह परमात्मा के अस्तित्व की विभिन्न स्थितियो में से एक है। अपने सारतत्व में परमात्मा के साथ एकाकार होते हुए भी यह रूप और कार्य मे उससे भिन्न है। प्रत्येक जीवात्मा दिव्य-शक्ति की क्रिया का केन्द्र है और उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। प्रो० हरिदास चौधरी के शब्दो में, "निजत्व (Individuality) का अस्तित्व तत्वत परमात्मा में; परमात्मा के द्वारा और परमात्मा के लिए है, यह विश्व आत्म-निर्माण (Soul-making) करने की घाटी है और इसका उद्देश्य है पूर्ण देहधारी

व्यक्तियो का विकास करना क्योकि परमात्मा की ससार मे आत्म अभिव्यक्ति का या आत्मा की पदार्थ मे अभिव्यक्ति का यही उपयुक्त माध्यम है।'†

जीवात्मा का परम लक्ष्य केवल मुक्ति या पूर्णता प्राप्त करना नही है क्योकि यह तो शाश्वत् रूप मे मुक्त और पूर्ण है, व दिव्य-शक्ति के साथ एकात्म है। यह समझना भूल होगी कि विकास प्रक्रिया मे 'व्यक्ति' का विकास होता है क्योकि वास्तविक व्यक्ति विकास प्रक्रिया से परे है। विकास प्रक्रिया मे जिस चीज़ का विकास होता है वह है प्रत्येक विकासशील सासारिक व्यक्ति के हृदय मे रहने वाला और उसके साथ विकसित होने वाला वह तत्व जिसे उपनिषदो मे 'चैत्य पुरुष' कहा गया है। यह 'चैत्य पुरुष' दिव्य-शक्ति का स्फुलिंग है जो प्रत्येक देहधारी व्यक्ति में निहित है और इस जगत मे शरीर, प्राण और मन-सहित व्यक्ति, जो 'अतिकालिक वैयक्तिक आत्मा' (Supra-temporal Individual Self) का उच्चतम प्रतिनिधि है, के विकास का नियत्रण करता है। इस 'चैत्य पुरुष' का वर्णन इस प्रकार भी किया जा सकता है कि यह एक प्रकार की उद्गति (Emanation) है जो 'वैयक्तिक आत्मा' से निकल कर विकास प्रक्रिया मे निहित हो जाती है ताकि वह दिव्य उद्देश्य की प्राप्ति के लिए विकास प्रक्रम को सतत निर्देशित कर सके। अनुभव की पूर्णता न था आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कर लेने पर, चैत्य पुरुष पुन 'वैयक्तिक आत्मा' के साथ युक्त हो जाता है। अत विश्व का परम लक्ष्य है आत्म-निर्माण अथवा दूसरे शब्दो मे पूर्ण व्यक्ति या अतिमानव का निर्माण। इस लक्ष्य की प्राप्ति देहधारी व्यक्ति आध्यात्मिक साधना द्वारा कर सकता है। अत 'निजत्व मूलत वैयक्तिक चेतना Supra Individual Spirit) की क्रिया या उसके अस्तित्व का एक रूप है।'

उपर्युक्त विवेचन से व्यक्ति और समाज के सहसबध को भली भाँति समझा जा सकता है। व्यक्ति जितना ही अपने व्यक्तित्वको ऊँचा उठाता है उतना ही अधिक व्यक्ति और समाज का सघर्ष कम होता जाता है। व्यक्तिवाद (Individualism) को आज जिस रूप मे समझा जाता है वह वास्तविक व्यक्तित्व के विकास का साधन नही है। आज का व्यक्तिवाद जिस व्यक्ति की कल्पना करता है वह व्यक्ति दूसरो के हित का ध्यान रखे बिना, कभी-कभी दूसरो का विरोध करके भी, अपना आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक हित करना चाहता है। वह व्यक्ति को अहमत्व की महानता प्राप्त करने के लिए असीम अवसर प्रदान करता है और प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा करने का अवसर देता है। ऐसा व्यक्तिवाद अपने आप मे निंद्य है। श्री अरविंद जिस व्यक्ति की कल्पना करते है वह इस प्रकार के व्यक्तिवाद द्वारा कल्पित व्यक्ति से सर्वथा भिन्न है वह कहते है कि

† H. Chaudhury : 'Sri Aurobindo and Absolutism,' Sri Aurobindo Mandir, Second Annual Jayanti Number, 15th Aug 1943, p 185

पूर्ण व्यक्ति जिसका विकास विकास-क्रम की एक आधारभूत आवश्यकता है उसके हित और दूसरो के हित मे कोई विरोध नही होगा वरन् वह व्यक्ति किसी ऐसी वस्तु को अपने लिए शुभ नही मानेगा जिसमे कि दूसरो का हित न हो।

अधिकाश समाजो मे एक व्यक्ति अन्य व्यक्तियो के साथ एकता का अनुभव नही करता है। शिक्षा और सामाजिक दबाव के द्वारा उसे अन्य व्यक्तियो के साथ सबध का अनुभव कराया जाता है परतु यह अनुभव कभी पूर्ण नही होता है। इस प्रकार का सबध-सूत्र सकट-काल मे टूट जाता है और फिर उस सबध सूत्र को जोडने के लिए बाह्य दबाव डाला जाता है। अत इस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति तथा व्यक्ति और समाज मे सघर्ष चला करता है। श्री अरविंद ने जिस ज्ञेयवादी समाज की कल्पना की है उसमे इस प्रकार के सघर्ष की कल्पना भी नही की जा सकती।

अतिमानवीय प्राणी परमानद को प्राप्त करेगा और उसमे यह शक्ति होगी कि वह सबको परमानद अथवा आत्मा के आनद का पान कराये। एक मुक्त जीवात्मा का यही गुण माना जाता है कि वह सपूर्ण प्राणियो के हित-साधन मे लीन रहे, दूसरो के सुख-दु ख को अपना सुख-दु ख समझे। अतिमानव को दूसरो की भलाई करने के लिए आत्म-बलिदान की भी आवश्यकता नही पडती। कारण, मानवीय स्तर पर दूसरो की भलाई करने के लिए चेतन प्रयास करना पडता है पर अतिमानव के स्तर पर यह चेतन प्रयास आत्म-दर्शन के आनद मे परिवर्तित हो जाता है और उसकी सार्वभौमिकता की भावना और क्रिया उसके स्वभाव का सहज अग बन जाती है।

शिक्षा-दर्शन

श्री अरविद का शिक्षा-दर्शन उनके जीवन-दर्शन के सर्वथा अनुरूप है। उनके दर्शन मे साख्य और अद्वैत का समन्वय हुआ है। श्री अरविंद, उन सभी शिक्षाविदो की भाँति जिनका वर्णन हम पूर्व कर चुके है, भारतीय शिक्षादर्शों के महान समर्थक हैं। उनकी विशेषता इस बात मे है कि उन्होने बताया कि प्राचीन भारत की शिक्षा-पद्धति की सफलता का रहस्य, केवल इन आदर्शों के पालन मात्र मे नही था वरन् इस पद्धति की आधारशिला—भारतीय मनोविज्ञान—पर आधारित था। श्री अरविद के शिक्षा-दर्शन मे भारतीय दृष्टिकोण से पूरित ऐसे अनेक मनोवैज्ञानिक तथ्य एव शिक्षा-सिद्धात निहित है जिनका वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति मे सफलतापूर्वक समावेश किया जा सकता है।

परम उद्देश्य

भारतीय परपरा के सर्वथा अनुकूल श्री अरविंद मानव द्वारा आध्यात्मिक विकास की उच्चतम् स्थिति की प्राप्ति मे आस्था रखते हैं। उनके अनुसार वास्तविक शिक्षा का प्रयोजन एव उद्देश्य है चेतना का विकास, उसका सस्कार और रूपातर, क्योकि चेतना ही सृष्टि का आधारभूत सत्य है, परमसत्ता है, एक सृजनात्मक सत्ता है। उनके विचार

मे, मनुष्य के प्रारब्ध मे ही यह है कि उसके अदर से स्वत दिव्य मानवता (Divine Humanity) या अतिमानव-जाति (Race of Supermen) का विकास होगा। आधुनिक विज्ञान का विकासवादी सिद्धात जो प्रकृति मे ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति को स्वीकार करता है और जिसके अनुसार पदार्थ से जीव तथा जीव से मनुष्य की उत्पत्ति हुई है, वह भी इसी विकास-दिशा की ओर सकेत करता है। किंतु पदार्थ से मनुष्य तक के विकास की जिस प्रक्रिया का निरूपण विज्ञान ने किया है वह एकाएक मनुष्य तक पहुँच कर समाप्त हो जाती है। यह विकास मनुष्य तक ही पहुँच कर क्यो समाप्त हो जाता है, इसका कोई उचित कारण विज्ञान नही दे पाता। श्री अरविंद के विचार मे विकास की सभावनाएँ अभी भी शेष है, किंतु विज्ञान विकास के इस दूसरे स्तर को स्पष्टरूप से क्रमबद्ध नही कर पाता और विकास की बाह्य प्रक्रिया तक ही सीमित रह जाता है। विज्ञान प्रत्यक्ष रूप से पदार्थ से प्राण और पशु से मानव तक के आश्चर्यजनक रूपातर को स्पष्टत बतला नही पाता। भारतीय योग-दर्शन में भी इस विकास-प्रक्रिया पर विचार किया गया है, जिसके अनुसार ससार पदार्थगत, प्राणगत, मानसिक तथा अतिमानसिक चार स्तरो मे विभाजित है। ये स्तर केवल उस विशिष्ट आकार के नाम हैं, विशिष्ट रूप हैं जिनके द्वारा अनत सच्चिदानद ने अपने को व्यक्त किया है। यही अनत शक्ति उन सब स्तरो मे व्याप्त है और विभिन्न आकारों या रूपो मे व्यक्त होने के अनुसार ही उसे सबोधित किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक स्तर मे अन्य अनुवर्त्ती स्तरो के विकास की सभावनाएँ निहित रहती है। अत अस्तित्व के प्रत्येक स्तर अपने ढग से तथा अपनी सीमाओ मे शेष सभी आगामी स्तरो की सभावनाओ को अभिव्यक्त करते है। इन स्तरो मे परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया होती रहती है। इसीलिए पदार्थ-स्तर पर, पृथ्वी के जड होते हुए भी, जब प्राण-स्तर का दबाव पडा तो प्राण की अभिव्यक्ति हुई। इसी प्रकार जब प्राण-स्तर पर मानसिक स्तर का दबाव पडा तब मन का विकास हुआ। अब इस मानसिक स्तर पर अतिमानस के दबाव के कारण अतिमानस के विकास का प्रयत्न हो रहा है जिससे मनुष्य के शरीर, जीवन और मन का उच्चतम एव पूर्णतम विकास होगा।

विकासक्रम · अचेतन और चेतन—श्री अरविंद का विश्वास है कि मानव से ही अतिमानव का विकास होगा जिस प्रकार कि पशु से मानव का विकास हुआ है। पदार्थ से मानव तक के विकास का क्रम अचेतन विकास-क्रम है अर्थात् विकास-क्रम में आत्मचेत्ता मानव तक का विकास स्वभावत. प्रकृति के माध्यम से बिना किसी साधना या प्रयास के हुआ है। परतु मनुष्य के आगामी विकास मे श्री अरविंद मनुष्य के सचेतन सहयोग को स्वीकार करते है। दूसरे शब्दो में, मनुष्य अपने भावी विकास के लिए स्वय चेष्टा करेगा, स्वयं प्रयत्नशील होगा। उनका विश्वास है कि मनुष्य का जो भावी विकास होने वाला है उसमे इतना दीर्घकाल नही लगेगा जितना कि अचेतन विकास-काल मे लगा क्योंकि यह

विकास चेतना के गुण, परिमाण, तीव्रता, सहयोग तथा सकल्पपूर्ण प्रयास पर अवलबित होगा। इसका परिणाम यह होगा कि विकास करने मे जो अनेक योनियो मे भ्रमण करना पडता है और शताब्दियो का समय लग जाता है वह सिमट कर वर्षों मे सीमित हो जायेगा। अत इस उच्चतम उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक पूर्ण व्यवस्थित एव सुनियोजित शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता है। इसीलिए श्री अरविंद प्राचीन भारत की आत्मा, आदर्शो और पद्धतियो को आधुनिक परिस्थितियो एव शिक्षा-सबधी अनुसंधानो को ध्यान मे रखते हुए, भारतीय मनोविज्ञान के अनुकूल बना कर उनका शक्तिपूर्ण पुनरुत्थान करने पर जोर देते है।

राष्ट्रीय शिक्षा की नीव : सुदृढ

राष्ट्रीय शिक्षा की चर्चा करते हुए श्री अरविंद शिक्षा की ऐसी नीव डालने के समर्थक है जो अतिमानसिक विकास की आवश्यकताओ को पूरा करे। अत उनका कहना है कि 'एक महान बौद्धिक रचना के लिए पहली आवश्यकता इस बात की है कि उसकी ऐसी सुदृढ नीव डाली जाय जो उसे सँभाल सके।' श्री अरविंद के विचार मे आधुनिक शिक्षा-पद्धति, मानव-सस्कृति के विभिन्न अगो का प्रतिनिधित्व करने वाले विषयो के सबंध मे व्यापक और भलीभाँति चुनी हुई सूचनाएँ बालको को देकर यह समझती है कि वह सतोषजनक नीव डाल रही है। किंतु यहाँ वह एक आधारभूत भूल करती है। केवल सूचना ही बौद्धिक विकास की नीव नही बन सकती। सूचना तो उस सामग्री का एक अंग-मात्र है जिसके माध्यम से ज्ञाता ज्ञान की उपलब्धि करता है। सूचना वह आरभ-विंदु है जहाँ से नवीन खोज और आविष्कार का प्रारभ होता है। 'जो शिक्षा केवल ज्ञान-प्रदान करने तक ही सीमित है, वह शिक्षा नही है'। अत. केवल विभिन्न मानसिक शक्तियो को साधन-सामग्रियो से पूर्णतया सुसज्जित करने की ही आवश्यकता नही है, वरन् उन्हें इस प्रकार प्रशिक्षित करना है कि वे नई सामग्रियो को खोज सकें और अपने पास की सामग्रियो का कुशलतापूर्वक उपयोग कर सकें। यह शक्तियाँ जिस (मानसिक) रचना की नीव डालेगी वही उस शक्ति का स्रोत होगा जो कि स्मरण, निर्णय, तथा सृजन-शक्तियो की निरतर बढती हुई क्रियाशीलता की माँग की पूर्ति कर सकेगा। पर यह शक्ति कहाँ प्राप्त होगी ?

इस शक्ति को प्राप्त करने के लिए श्री अरविंद भारतीय आदर्शवादी दर्शन के एक प्राचीन सिद्धात का प्रतिपादन करते है। प्राचीन आर्यों की भाँति उनका विश्वास है कि मनुष्य विश्व से पृथक् नही है। जिस प्रकार लहर समुद्र का अग है उसी प्रकार मनुष्य भी विश्व का अभिन्न अग है। ससार एक अनादिशक्ति, प्रकृति, माया या शक्ति से व्याप्त है। वही शक्ति ससार मे विभिन्न नाम रूप मे—मिट्टी, पौधो, कीडो, पशुओ और मनुष्यो में—अपने को व्यक्त करती है। ये सभी—मिट्टी, पौधे, कीडे, पशु और मनुष्य—अपने

भौतिक अस्तित्व में उस शक्ति के व्याप्त होने के उचित आधार है। हममें से प्रत्येक प्राणी एक डायनमो (शक्ति-केन्द्र) की भाँति है जिसमे उस अनादि शक्ति की तरगें उत्पन्न होती है, सगृहीत होती है, निरतर सुरक्षित रहती है और उपयोग की जाती है। जो शक्ति ताराओ और ग्रहो में सचरित होती है वही हमारे भीतर भी गतिशील है। हमारे विचार और कार्य उसी शक्ति की क्रीडा और उसकी क्रिया की जटिलता से उत्पन्न होते हैं। श्री अरविद का कहना है कि ऐसी प्रक्रियाएँ है जिनके द्वारा मनुष्य-रूपी आधार अपनी क्षमताओ को बढा सकता है। कुछ अन्य प्रक्रियाएँ भी है जिनके द्वारा वह अपने और विश्वशक्ति के बीच के अवरोधो को दूर करके सपर्क-मार्ग को प्रशस्त बना सकता है और उस शक्ति को अधिक से अधिक मात्रा में अपनी आत्मा, मस्तिष्क और शरीर में एकत्रित और सचारित कर सकता है। आधार की निरतर उन्नति, और सप्रेषित होने वाली शक्ति की मात्रा और कार्यों की जटिलता मे वृद्धि ही सपूर्ण विकास का उद्देश्य है। जब वह शक्ति अधिकाधिक और पूर्ण मात्रा मे, मनुष्य-रूपी आधार मे प्रविष्ट हो जाती है और आधार इसके आघात और क्रीडा-सहन करने योग्य बन जाता है तब वह सिद्ध या पूर्ण मनुष्य बन जाता है। वह अपने व्यक्तिगत विकास की उस चरम सीमा पर पहुँच जाता है जिसके लिए मानवता युगो-युगो से साधना करती चली आ रही है।

श्री अरविंद कहते है कि यदि उपर्युक्त सिद्धात सत्य है तो वह शक्ति जो हमारी बौद्धिक क्रिया का आधार है, हमारे भीतर ही है और हम उसका पर्याप्त विस्तार कर सकते हैं, असीम रूप मे उसका उपयोग कर सकते है। यदि यह सिद्धात सत्य है तो इससे यह भी एक ठोस निष्कर्ष निकलता है कि हम इस शक्ति की अपने भीतर जितनी ही अधिक वृद्धि करेंगे, इसके सग्रह द्वारा अपने को समृद्ध बनायेंगे, उतनी ही अधिक हमारे मन की क्रियायो की परिधि विस्तृत होगी, क्रियाशीलता, क्षमता और शक्ति बढेगी और उसी के अनुपात मे हमे सफलता प्राप्त होगी। यह प्रथम सिद्धात है जिस पर आर्यों ने अपने शिक्षा-सिद्धात को आधारित किया था। इस शक्ति के अधिकाधिक सग्रह के लिए जिस प्रक्रिया को अपनाया था वह था 'ब्रह्मचर्य'।

ब्रह्मचर्य—श्री अरविद का कहना है कि कठोर अनुशासन के साथ ब्रह्मचर्य का पालन करने से मनुष्य के भीतर निहित शक्ति बढती है और यह शक्ति स्वय सग्रहकर्त्ता और मनुष्य-जाति के लिए लाभप्रद सिद्ध होती है।

उनके विचार में मानव-जीवन और उसकी समस्त शक्ति का आधार शारीरिक है, अर्थात् प्राण और शक्ति के स्थिर रहने और कार्य करने के लिए मनुष्य को शरीर रूपी आधार की आवश्यकता पडती है। किन्तु प्राण और शक्ति का स्रोत भौतिक नही है वरन् आध्यात्मिक है। योरोप का भौतिकवादी दर्शन केवल आधार को ही सब कुछ मानता है और वह आधार को ही स्रोत भी समझ बैठता है। "भौतिक को आध्यात्मिक तक उत्कर्ष करना ही ब्रह्मचर्य है क्योकि इन दोनो के सम्मिलन से जो शक्ति एक से आरभ

होकर चलती है और दूसरी को उत्पन्न करती है उसकी (स्वय) उन्नति होती है और वह अपनी पूर्ति भी करती है।"†

सभी शक्ति (तेज) रेतस् (वीर्य) मे अतर्निहित हैं। यदि इसे शारीरिक स्तर पर काम, क्रोध और लोभ आदि स्थूल विकारो के रूप मे व्यर्थ नष्ट न किया जाय, शारीरिक स्तर पर अनैतिक कर्मों और सूक्ष्म स्तर पर अनैतिक विचारो द्वारा व्यर्थ नष्ट न किया जाय तो यह परिरक्षित होकर आत्मसयम द्वारा वृद्धिमान होती है। स्थूल शरीर की सीमित आवश्यकताओ की पूर्ति के पश्चात् बचा हुआ रेतस्, पहले तपस् (उष्णता) के रूप मे परिवर्तित हो जाता है जो साध्य कर्म और सफलता प्राप्त करने मे उत्तेजना प्रदान करता है। दूसरे, यह पुन तेज मे परिवर्तित हो जाता है जो प्रकाश और शक्ति रूप है और सभी प्रकार के ज्ञान का स्रोत है। तीसरे, यह विद्युत मे परिवर्तित हो जाता है जो सभी प्रकार के शक्तिशाली शारीरिक और मानसिक कार्यों का आधार है। विद्युत मे ओज निहित रहता है। यह ओज वह मुख्य शक्ति है जो ईथर या आकाश से उत्पन्न होकर मस्तिष्क मे उठती है और उसको आदि शक्ति से परिपूर्ण करती है, जो पदार्थ का अत्यत सूक्ष्म रूप है या कह सकते हैं कि जो आत्मा के सन्निकट ही है। वह आत्मशक्ति ओज से ही उत्पन्न होती है जिसके द्वारा व्यक्ति आत्मज्ञान, बल, प्रेम और श्रद्धा की प्राप्ति करता है। अत ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा व्यक्ति तपस्, तेज, विद्युत और ओज का सग्रह कर उनकी वृद्धि करता है और ये मुख्य शक्तियाँ शरीर, मस्तिष्क, हृदय और आत्मा के कार्य के रूप मे व्यक्त होती है।

समस्त ज्ञान . अतर्निहित—दूसरा मनोवैज्ञानिक सिद्धात जिस पर प्राचीन काल से लेकर आज तक के सभी दार्शनिको ने जोर दिया है, इस प्रकार है कि "समस्त ज्ञान मनुष्य के भीतर निहित है। उसे शिक्षा द्वारा जाग्रत करना है न कि बाहर से ज्ञान को उसके भीतर प्रविष्ट कराना है।"

यह एक स्वीकृत तथ्य है कि मनुष्य के ज्ञानार्जन की शक्ति प्रकृति के तीन तत्वो, सत्व (ज्ञान), रजस्, और तमस् (अज्ञान) से मिलकर बनी है। इनमे से अतिम दो—रजस और तमस्—ज्ञान को धुँधला बना देते है। मनुष्य की प्रकृति को ध्यान मे रखते हुए, अध्यापक की मुख्य समस्या है कि वह कैसे तामस् प्रकृति को दूर करे, और राजस् प्रकृति को सयमित करके सात्विक प्रकृति को जाग्रत करे। अध्यापक को चाहिए कि वह विद्यार्थी का इस प्रकार प्रशिक्षित करे कि वह अपने अत प्रकाश को ग्रहण कर सके। नैतिक शुचिता द्वारा जब तेज का जागरण होता है तब तामस् प्रकृति दूर हो जाती है। ब्रह्मचर्याश्रम के कठोर नैतिक अनुशासन द्वारा राजस् प्रकृति का सयमन होता है जिससे बौद्धिक हठ, अभिमान और विकार आदि नष्ट होते है और मानसिक शाति, स्पष्टता एव ग्रहणशीलता उत्पन्न

---

† Sri Aurobindo . 'The Brain of India,' pp. 17, 18

होती है । मन की गलत धारणाओ को शुद्ध करने मे सबसे मुख्य हाथ गुरू के प्रति अनन्य श्रद्धा और मानसिक समर्पण का है । गुरु से ग्रहण किये हुए सम्यक् विचार और प्रामाणिक ज्ञान ही इन गलत धारणाओ के निराकरण मे सहायक है । अत शिक्षा का उद्देश्य है शिक्षक द्वारा बालक को अत.प्रकाश का दर्शन प्राप्त कराना । इस अत प्रकाश की प्राप्ति की तीन विधियाँ है—आवृत्ति, ध्यान और नमन। आवृत्ति के द्वारा मन शब्दमय हो उठता है और अपने आप उसमें से अर्थ की अनुभूति होने लगती है । यह स्मरण रखना चाहिए कि आवृत्ति यान्त्रिक नही होनी चाहिए क्योकि यत्रवत् आवृत्ति द्वारा यह प्रभाव उत्पन्न नही होता । अत प्रकाश की प्राप्ति के लिए व्यक्ति मे सात्विक तत्त्वो का उदय होना, शात भाव से ग्रहणशील होना और आवृत्ति के द्वारा प्राप्त शब्दो में मन के विचारात्मक पक्ष द्वारा अर्थ ढूंढने की तत्परता होनी चाहिए । इसी को ध्यान कहा जाता है । इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का अनुभव हम सब लोग करते है कि यदि कोई प्रश्न हमारे मस्तिष्क मे स्पष्ट नही है और हम थोडी देर के लिए उस पर विचार करना स्थागित कर दे तो वह प्रश्न सरलतापूर्वक स्पष्ट हो जाता है । बात यह है कि हमारे भीतर स्थित ज्ञाता का ध्यान प्रश्न की ओर आकर्षित होता है और अवकाश-काल मे वह प्रश्न को हल करने मे व्यस्त रहता है और प्रश्न से सबधित सामग्री जुटाता है । श्री अरविंद का कहना है कि "ऐसे अनुभव केवल उन व्यक्तियो के लिए सभव है जिनके सात्विक तत्त्व पूर्णतया जाग्रत होते है, और जो गहन अध्ययन और बौद्धिक स्पष्टता के कारण चेतन या अचेतन अवस्था मे कार्य करने मे प्रशिक्षित है । इस सात्विक प्रवृत्ति के विकास की चरम सीमा वह है जहाँ पहुँच कर मनुष्य को स्वभावत बाह्य साधनो की आवश्यकता नही रहती । अध्यापक, पाठ्यपुस्तक, व्याकरण और कोष आदि का महत्व उसके लिए नही रह जाता और वह पूर्णतया अपने अत ज्ञान से ही सब विषयों को जान लेता है । किन्तु यह बात केवल उस योगी के लिए सभव होती है जिसने योग को सफलतापूर्वक किया हो ।"*

पूर्ण योग तथा आध्यात्मिक एकता—यह योग सात्विक प्रकाश तथा सिद्धि-प्राप्त करने की विधि बतलाता है। दूसरे शब्दो मे, यह योग पूर्णत्व की प्राप्ति की विधि है और इसका आधार है 'ब्रह्मचर्यानुशासन', यह एक अद्वितीय अनुशासन है जिसके द्वारा आत्मा और मन पूर्णरूप से शिक्षित होते हैं । श्री अरविंद का योगानुशासन प्राचीन अष्टाग योग से थोडा भिन्न है और विभिन्न योग-प्रणालियो का समन्वय है । इस दिशा में स्वामी रामकृष्ण परमहस ही वह व्यक्ति थे जिन्होने सभी योगानुशासनो की मौलिक एकता का मार्ग दिखाया था, किंतु मौलिक एकता के आधार पर शक्तियो और क्षमताओ का महान समन्वय श्री अरविंद के योग मे ही हुआ । यह समन्वय योग के बाह्य रूपो को छोडकर, सब में सामान्य रूप से पाये जाने वाले उस मूल सिद्धात के आधार

* Sri Aurobindo : 'The Brain of India,' pp. 23, 24

पर हुआ है, जो सब मे समान रूप से पाया जाने वाला रहस्य है तथा जो साधन-प्रणालियो मे भेद होते हुए भी उनकी विभिन्न शक्तियो और उपयोगिताओ के सयोजन मे सक्षम है।

आध्यात्मिक साधना के लक्ष्य के समन्वित दृष्टिकोण (Integral view) के कारण ही ऐसा समन्वय करने का आवश्यकता पडी। अध्यात्म-साधना मनुष्य की अपूर्णताओ को दूर करके उसे पूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करने मे सहायता करती है। पूर्ण व्यक्तित्व प्राप्त करने पर व्यक्ति परम दिव्य अथवा रहस्यमयी आत्मा का अनुभव करेगा, वह एक दिव्यसत्ता का अनुभव करेगा जिसमे व्याप्त हम सब एक है, वह अनुभव करेगा कि दिव्यसत् के व्यक्त होने का वर्तमान साधन मानवता ही है और मानव-जाति और मानवप्राणी के माध्यम से ही यह क्रमिक रूप से अपने को अभिव्यक्त करेगा। इस दिव्यसत् का निरतर यही प्रयास है कि वह अपने दिव्य-ज्ञान को साकार करे और इस पृथ्वी पर दिव्यात्मा का साम्राज्य स्थापित करे। व्यक्ति के भीतर दिव्यसत् के विकसित होने पर उसके जीवन का मुख्य सिद्धात होगा समस्त मानव-प्राणियो के साथ आत्मीयता का अनुभव। इस सिद्धात मे केवल सहयोग की ही भावना निहित नही है, वरन् गहन-भ्रातृत्व की भावना है जिसके आधार पर हमे वास्तविक आत्मीय एकता, समानता और सामान्य जीवन का अनुभव होगा। हमें ज्ञात होगा कि सपूर्ण मानवता मे एक आध्यात्मिक एकता निहित है। हमे ज्ञात होगा कि अन्य साथियो के जीवन मे ही या साथ मे ही व्यक्ति के जीवन की पूर्ति है। ऐसे ही पूर्ण व्यक्तियो की बढती हुई सख्या मे मनुष्यजाति की महान आशाएँ निहित है। ऐसे ही व्यक्ति शक्ति के केन्द्र होगे और अतिविकसित एव आदर्श समाज के विकास मे सहायता करेंगे। आत्मिक स्तर पर सब मे समानता का अनुभव करने से ही मानव-जाति मे एकता स्थापित हो सकती है। अत मनुष्य की आतरिक एव अतस्थ शक्तियो और क्षमताओ को बाहर निकालना और विकसित करना होगा। मनुष्य को बाह्य प्रकृति का विकास न करके अपनी अत शक्तियो को विकसित करना होगा अर्थात् आत्मा की प्राप्ति करनी होगी। इसी आध्यात्मिक आधार पर श्री अरविंद जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अतर्राष्ट्रीयता का समर्थन करते है।

संसार मिथ्या नही, आत्म-प्रयास—श्री अरविंद इस ससार को मिथ्या, तात्विकतया बुरा तथा अपूर्ण नही मानते है और न सच्ची पूर्णता एव आनद की प्राप्ति के लिए ससार का त्याग करने का उपदेश देते है। वह व्यक्ति की आत्मा को दिव्य शक्ति के सच्चिदानद स्वरूप का एक अनादि अग मानते है। दिव्य शक्ति के अवतरित होने का प्रयोजन है अनादि सच्चिदानद की भौतिक परिस्थितियो मे अभिव्यक्ति। अस्तु, सच्चिदानद-स्वरूप का एक अनादि अग होने के कारण मनुष्य सदैव से ही शाति, पूर्णता और 'सत्य, शिव, सुदरम्' जैसे जीवन के उच्चादर्शों की कल्पना करता रहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि मनुष्य अपनी अनादि प्रकृति को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है,

किंतु वास्तविक प्रकृति की प्राप्ति मे उसे शारीरिक और मानसिक बधनो एव इद्रियाभिभूत आत्मा के कारण आत्मसाक्षात्कार मे न केवल निकट भविष्य वरन् सुदूर भविष्य मे भी बाधा का अनुभव होगा। पूर्णता प्राप्त करने के लिए इस भौतिक जीवन का त्याग और अतिभौतिक साधनो का प्रयोग बताया जाता है। श्री अरविद का कहना है कि जब तक अतिमानस का उच्चतर विकास नही हो जाता तब तक आध्यात्मिक साधना किसी सीमा तक मन को आध्यात्मिक-मात्र बनाएगी। अतः जब तक प्राण और शरीर भी रूपातरित न होगा तब तक आध्यात्मिक साक्षात्कार या अध्यात्मबोध मे बाधा पडेगी और उनको त्यागना ही पडेगा। अत अतिमानसिक स्तर के विकसित होने पर आज विभिन्न योगानुशासनो द्वारा जिन मानसिक क्षमताओ को सप्रयास प्राप्त किया जाता है उन्हे मनुष्य बिना साधना या प्रयास के, जन्मसिद्ध अधिकार के रूप मे प्राप्त करेगा। तब ये सपूर्ण शक्तियाँ स्वभावत दैवी देन के रूप मे मनुष्य को प्राप्त होगी।

यहाँ हमे यह ध्यान रखना होगा कि अतिमानव का विकास अवश्यभावी है। अचेतन विकास-क्रम के आधार पर भी, यद्यपि समय अधिक लगेगा फिर भी इस स्थिति की प्राप्ति अवश्य होगी। श्री अरविंद कहते है कि मनुष्य आत्म-चेत्ता प्राणी है। उसमे चेतन प्रयास की क्षमता है, अत इस उच्च स्थिति की प्राप्ति के लिए यदि वह आत्म-प्रयास करे तो दैवी अनुकपा का शीघ्र अवतरण होगा और वह विकास-क्रम मे शीघ्रता पूर्वक आगे बढ सकेगा। ध्यान रहे, जैसा कि श्री अरविद के जीवन-दर्शन का अध्ययन करते समय हम देख चुके है कि दैवी अनुकपा बिना उन्नति सभव नही, पर दैवी अनुकपा और आत्म-प्रयास एक दूसरे के विरोधी नही है। इन दोनो को पग-पग विकासक्रम मे साथ साथ चलना है। बालक के आत्म-प्रयास को ठीक दिशा मे निर्धारित करने के लिए उसे शिक्षा की आवश्यकता है। 'साधन साध्य के अनुरूप होने चाहिए तभी सफलता सभव है,' इस कथन के सर्वथा अनुकूल श्री अरविंद राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति को प्राचीन भारतीय-मनोविज्ञान के मूल सिद्धातो के आधार पर सयोजित करना चाहते है। उनका कहना है कि भारतीय विचारो और भारतीय सस्कृति के तत्त्वो को शिक्षा मे सम्मिलित कर देने मात्र से ही शिक्षा-पद्धति भारतीय नही हो सकती। उनका दृढ विश्वास है कि प्राचीन भारतीयो की सफलता का रहस्य न केवल शिक्षा के क्षेत्र मे, वरन् अन्य क्षेत्रो में भी—सामाजिक और वैयक्तिक विकास की दृष्टि से—आश्रमो के शिक्षण-सबधी नियम, व्यवस्था आदि मे ही नही था वरन् उनकी सफलता शिक्षा-पद्धति और बौद्धिक प्रशिक्षण में मनोविज्ञान के पूर्ण और सूक्ष्म प्रयोग पर अवलबित थी, और जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इसका आधार 'ब्रह्मचर्यानुशासन' था।

पाठ्य-विषय

श्री अरविंद, जैसा कि हमने देखा, यह मानते है कि जीवन का स्रोत आध्यात्मिक और आधार भौतिक है, अत' वह अपनी शिक्षायोजना मे, इन दोनो मे से किसी तथ्य

की उपेक्षा नही करते है। वह आध्यात्मिक, मानसिक, नैतिक और भौतिक सभी क्षेत्रो में मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास चाहते है। इसी कारण वह पाठ्य-विषय में सभी विषयो का समावेश चाहते है। यद्यपि वह जीवन का स्रोत आध्यात्मिक होने के कारण, बालक की आध्यात्मिक शिक्षा अथवा आध्यात्मिक साधना पर बल देते है, तथापि इसका यह अर्थ नही कि वह साहित्यिक एव वैज्ञानिक विषयो का अध्ययन बालक के लिए हेय समझते हो। अपितु इन सभी विषयो के अध्ययन का भी ध्येय एक ही होना चाहिए—मानव के व्यक्तित्व का विकास। वह शिक्षा को उतना ही विस्तृत एव पूर्ण बनाना चाहते है जितना योरोप के लोग, परतु वह बालक का दृष्टिकोण केवल भौतिक जगत तक—केवल जीवन के आधार तक—ही सीमित नही करना चाहते वरन् इस भौतिक आधार को उत्कृष्ट करके, जीवन के स्रोत तक पहुँचाना चाहते है। यही कारण है कि श्री अरविंद ने शिक्षक के लिए भारतीय मनोविज्ञान का अध्ययन अत्यत आवश्यक माना है।

शिक्षक और मनोविज्ञान

श्री अरविंद शिक्षक द्वारा विद्यार्थी के मन के अध्ययन को शिक्षण-प्रक्रिया का एक आधारभूत तथ्य मानते हैं। शिक्षण की सफलता मानव-मन—बाल मन, किशोर मन, और प्रौढ मन—की विशिष्टताओ से परिचित होने पर निर्भर है। उनके विचार मे, कोई भी शिक्षा-पद्धति चाहे वह कितने भी गभीर शिक्षा-सिद्धातो पर आधारित क्यो न हो, यदि वह ज्ञानार्जन के साधन—मन—की उपेक्षा करती है तो उसके द्वारा पूर्ण एव सुसस्कृत मस्तिष्क बनने के स्थान पर बौद्धिक प्रगति मे बाधा और हानि पहुँचने की अधिक सभावना है। कारण, शिक्षक को एक कलाकार या मूर्ति निर्माता की भाँति निर्जीव पदार्थ से संपर्क की स्थापना नही करना है वरन् एक अत्यत सूक्ष्म और सवेदनशील प्राणी से। शिक्षक को एक अदृश्य वस्तु—मन—से सबध स्थापन करना है और उसे व्यक्ति के प्रकृतिदत्त बधनो का भी ध्यान रखना है।

श्री अरविद स्वीकार करते है कि वर्तमान योरोपीय शिक्षण-पद्धति में शिक्षण-विधियो में प्रगति एव उन्नति हुई है परतु अब भी इनमे दोष है जो स्पष्ट दिखाई पडते हैं। पाश्चात्य शिक्षण पद्धति मनोविज्ञान के अपर्याप्त ज्ञान पर आधारित है। सौभाग्यवश, वहाँ सामान्य विद्यार्थी इस मनोविज्ञान की प्रक्रियायों का अधिक प्रश्रय नही लेते, इसके अतिरिक्त वह सक्रिय रहते हैं और घोर शारीरिक व्यायाम के अभ्यस्त हैं, अत इन्ही कारणो से योरोपीय अपूर्ण मनोविज्ञान पर आधारित शिक्षण-पद्धति का भयकर परिणाम दृष्टिगोचर नही होता। परतु भारत मे इस पद्धति का जो प्रभाव विद्यार्थियो के शरीर, मन और चरित्र पर पड़ा है वह स्पष्ट दृष्टिगोचर है। अतः भारतीय शिक्षण-पद्धति मे सुधार की आवश्यकता है। श्री अरविंद का कहना है कि वर्तमान काल मे, इस प्रगतिशील ससार

मे मन को अत्यधिक कार्यों को सभालना है, अत दो बातो की आवश्यकता है प्रथम, ज्ञान के साधनो का अध्ययन और ऐसी शिक्षण-पद्धति का विकास जो स्वाभाविक, सरल तथा प्रभावकारी हो, द्वितीय, ज्ञान के इन साधनो को उनकी शक्ति भर बलशाली तथा तीव्र बनाया जाय ताकि वे ससार के बढते हुए कार्यों को सभालने मे समर्थ हो। ये सब शिक्षक के कार्य से सबधित है।

शिक्षक का दायित्व तथा शिक्षा-सिद्धांत

आदर्शवादी परपरा तथा प्राचीन आदर्शवादी दार्शनिको की भाँति श्री अरविंद ने भी शिक्षक के कर्तव्यो का निर्देश किया है। उनका कहना है कि अध्यापक केवल उपदेष्टा या 'टास्कमास्टर' नही है, वरन् सहायक और निर्देशक है। उनके अनुसार शिक्षा का प्रथम सिद्धात जो शिक्षक को ध्यान मे रखना चाहिए वह है, कि बालक को कुछ सिखाया पढाया नही जा सकता। सब ज्ञान उसके अदर निहित है। अत शिक्षक का कार्य सुझाव देना है, विचारो को लादना नही। शिक्षक वास्तव मे शिष्य के मन को प्रशिक्षित नही करता, केवल यह बताता है कि वह अपने ज्ञान के साधनो को किस प्रकार सुव्यवस्थित करे, और इस दिशा मे वह शिष्य की सहायता करता है और प्रोत्साहन देता है। वह शिष्य को ज्ञान नही प्रदान करता, केवल यह बताता है कि शिष्य स्वय किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करे, वह उसके अतस्थ ज्ञान को बहिर्मुख भी नही करता, केवल यह बतलाता है कि ज्ञान कहाँ स्थित है और उसे किस प्रकार व्यक्त करना चाहिए। यह सिद्धात बालक, किशोर तथा प्रौढ सब पर समान रूप से लागू होता है। जो लोग इस सिद्धात को केवल किशोरो और प्रौढो के लिए ही व्यवहार्य समझते है तथा बालको को शिक्षित करने मे इसकी उपयोगिता को अस्वीकार करते है, वे भूल जाते है कि उनके विचार रूढिवादी तथा अबौद्धिक है। बालक अथवा वयस्क, लडका अथवा लडकी, सबके प्रशिक्षण का केवल एक यही ठोस सिद्धात है। आयु का भेद केवल आवश्यक निर्देश और सहायता को कम या अधिक करने के लिए है।

शिक्षक को विद्यार्थी के मनोविज्ञान का ध्यान रखते हुए भी शिक्षा के द्वितीय आधार-भूत सिद्धात को नही भूलना चाहिए जिसमे हमारे आदर्शवादी दर्शन का विश्वास है— 'प्रत्येक व्यक्ति मे कुछ दैवी अश है और कुछ उसका अपना निजत्व है। प्रत्येक मे पूर्णता और शक्ति प्राप्त करने की क्षमता है चाहे इसका क्षेत्र छोटा ही हो, और फिर चाहे वह उसका उपयोग करे या न करे।'† अत शिक्षक का कर्त्तव्य है कि वह शिष्य के भीतर निहित सर्वोत्तम को ढूँढ निकाले तथा शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है कि वह बालक के भीतर निहित सर्वोत्तम को व्यक्त करे और उसे इस प्रकार पूर्णता प्रदान करे कि सद्उद्देश्य की पूर्ति हो।

† Sri Aurobindo : 'A System of National Education,' P 5

"प्रकृति को उसके धर्म का पालन न करने के लिए बाध्य करने का अर्थ है, स्थायी रूप से उसकी हानि करना, उसके विकास को क्षति पहुँचाना और उसकी पूर्णता को कुरूप बनाना। मनुष्य की आत्मा के प्रति यह एक स्वार्थ-प्रेरित अत्याचार है। यह राष्ट्र के लिए घातक है क्योकि एक व्यक्ति जो सर्वोत्तम देन दे सकता है, उससे उसे वञ्चित होना पडता है और उसके बदले अपूर्ण, कृत्रिम, निम्न श्रेणी की सामान्य देन प्राप्त होती है।"† श्री अरविद के विचार मे माता-पिता या शिक्षक की इच्छा के अनुकूल बालक को ढालने का प्रयत्न करना बर्बरता तथा अज्ञानजन्य अधविश्वास है। बालक को स्वय अपनी प्रकृति के अनुकूल विकास करने देना चाहिए। इससे बढकर और कोई भूल नही हो सकती कि माता पिता पहले से ही यह निश्चय कर ले कि उनके बालको मे अमुक विशेष गुणो, क्षमताओ और विचारो का विकास हो और वे उनके द्वारा निर्धारित जीविका को अपनाये।

शिक्षक को शिक्षा का एक और तीसरा मुख्य सिद्धात भी ध्यान मे रखना है। यह सिद्धात है निकट से दूर के लिए और 'जो है' उससे 'जो होना है' उसके लिए कार्य करना।‡ शिक्षक को चाहिए कि शिक्षा देते समय बालक की वर्त्तमान प्रकृति को ध्यान मे रखे अर्थात् बालक की उस प्रकृति को ध्यान में रखे जो उसे उसके पूर्व जन्म के सस्कार, उसकी वशपरपरा, पास-पडोस, राष्ट्र और जाति के फलस्वरूप प्राप्त हुई है। इन सबका बडा ही शक्तिशाली किंतु अप्रत्यक्ष प्रभाव बालक के मन पर पडता है। इसलिए बालक की स्वाभाविक रुचिओ के विकास के लिए वातावरण और अवसर प्रदान करना चाहिए और उसके भीतर कभी भी बाह्य या विदेशी आदर्शों का स्थान नही होने देना चाहिए। "यह ईश्वरीय व्यवस्था है कि वे एक राष्ट्र, युग और समाज से सबद्ध रहे। वे अतीत के बालक, वर्त्तमान के स्वामी तथा भविष्य के निर्माता रहे। अतीत हमारा आधार है, वर्त्तमान हमारी साधन-सामग्री है और भविष्य हमारा लक्ष्य एव शिखर है। राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति मे इनमे से प्रत्येक को उनका प्राप्य और स्वाभाविक स्थान मिलना चाहिए।"*

शिक्षण-पद्धति

समकालिक एव क्रमिक शिक्षण—श्री अरविंद के अनुसार शिक्षण की दो प्रणालियाँ है (१) समकालिक (Simultaneous) तथा (२) क्रमिक (Successive)। शिक्षा की आधुनिक प्रवृत्ति समकालिक प्रणाली की ओर है जिसमे बहुत से विषयो की

---

† Ibid. pp. 4, 5

‡ 'To work from the near to the far, from that which is to that which shall be.'

* Sri Aurobindo : 'A System of National Education,' p 6

थोडी-थोडी शिक्षा एक समय मे दी जाती है। इसका फल यह होता है कि जिस विषय का पूर्ण ज्ञान एक वर्ष मे हो सकता है वैसा ज्ञान सात वर्ष मे भी नही प्राप्त होता है। इस आधुनिक प्रणाली मे शिक्षा के अन्तिम सोपान मे 'विशेष योग्यता, (Grandiose-specialism) प्राप्त करने का जो विधान है, श्री अरविंद कहते है, वह अवश्य ही सफल रहेगा।

शिक्षण की दूसरी प्रणाली प्राचीन समय मे प्रचलित थी जिसमे एक या दो विषयो को पूर्ण शिक्षा देने का नियम था। फिर बाद मे इसी प्रकार अन्य विषयो की भी शिक्षा दी जाती थी। श्री अरविंद के विचार मे यह प्रणाली सर्वथा युक्तियुक्त थी। विभिन्न विषयो का ज्ञान तो इसमे नही मिलता था, किंतु एक विशेष विषय का ज्ञान पूर्णरूप से हो जाता था। फलत विद्यार्थी का ज्ञान हलका और उथला नही होता था। इस प्रणाली मे स्मरणशक्ति को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता था कि विद्यार्थी अपने पुराने विषय के ज्ञान को, अनुवर्त्ती विषयो पर ध्यान केन्द्रित करते समय भूलता नही था।

श्री अरविंद का कहना है कि आधुनिक शिक्षाविद् अपनी शिक्षाप्रणाली के समर्थन मे यह तर्क प्रस्तुत करते है कि बालक के लिए यह अत्यत कठिन है कि वह एक या दो विषयो पर अपना ध्यान केन्द्रित करे और इसीलिए उसे एक साथ बहुत से विषयो को पढना चाहिए। किंतु श्री अरविंद के विचार मे इस तर्क मे कोई गभीरता नही है। उनका कथन है कि विभिन्नता से मन को शाति नही मिलती। सात या आठ साल के बालक को यदि अपने विषय मे रुचि है तो वह पर्याप्त मात्रा मे ध्यान केन्द्रित करने की क्षमता रखता है। अत. विषय के प्रति बालक मे रुचि जाग्रत करनी चाहिए और वर्त्तमान शिक्षा को यही करना है।

बालक का आरम्भिक प्रशिक्षण—सर्वप्रथम बालक का ध्यान उसके अपने ज्ञान के साधनो (Mental Instruments) तथा शिक्षा के माध्यम पर अधिकार प्राप्त करने की ओर आकर्षित किया जाना चाहिए। उसे उसकी भाषा का पूर्ण ज्ञान करा देना चाहिए क्योकि जब तक उसे अपनी भाषा पर अधिकार नही होगा तब तक वह अन्य भाषाओ पर अधिकार नही प्राप्त कर सकता है। अपनी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने से वह ज्ञान के अपने सभी साधनो, और तर्क, निरीक्षण तथा निर्णय-शक्तियो पर अधिकार प्राप्त करेगा जो उसके अन्य विषयो पर अधिकार प्राप्त कर लेने के लिए आवश्यक है।

प्राय सभी बालको मे कल्पना-शक्ति, शब्दो को सीखने की प्रवृत्ति और नाटकीय शक्ति होती है। इन शक्तियो का विकास केवल वर्तनी (Spelling) रटा कर और पुस्तकें पढाकर नही किया जाना चाहिए जैसा कि वर्तमान शिक्षण-पद्धति मे किया जाता है वरन् इनका विकास साहित्य, और आसपास की अन्य नवीन वस्तुओ का निरीक्षण कराकर किया जाना चाहिए। प्रत्येक बालक मनोरजक कहानियो मे रुचि रखता है।

वह वीरो का पुजारी और देशभक्त होता है। वह खोजी, जिज्ञासु, विश्लेषणकर्ता तथा छानबीन करने वाला होता है। उसमे प्रबल जिज्ञासा की भावना होती है और इस जिज्ञासा मे दार्शनिक समस्याओ की ओर ले जाने की क्षमता होती है। उसमे अनुकरण करने की कला भी होती है। बालक के इन सभी गुणो का उपयोग करना चाहिए और उन्हे विकसित करना चाहिए। इसके लिए आवश्यक यह है कि हम उन्हे विज्ञान, साहित्य एव कला-सबधी विषयो को उचित पुस्तको एव प्रणालियो द्वारा परिचित कराये। पढते समय बालको को यह अनुभव नही होने देना चाहिए कि कोई विषय उन्हे जबरदस्ती पढाया जा रहा है।

अत शिक्षक का सबसे महत्वपूर्ण एव आरभिक कार्य है बालको को उचित प्रकार की पुस्तको से परिचित कराना और उनके द्वारा जीवन, कार्य और ज्ञान के प्रति रुचि जाग्रत करना। इसी से उसे अपने ज्ञान के साधनो के विकास तथा शिक्षा के माध्यम पर अधिकार प्राप्त करने मे भी सहायता मिलेगी और बाद में शीघ्रतापूर्वक यदि क्रमानुसार अध्ययन करने मे उसे विलब भी हो जाय तो वह उस विलब की पूर्ति भी कर लेगा।

मन के स्तर—हमने आरभ मे देखा कि श्री अरविद शिक्षण-पद्धति मे भारतीय मनोविज्ञान के सिद्धातो के प्रयोग पर बल देते है। अत हमे यहाँ कुछ मानसिक तथ्यो का भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार अध्ययन करना है।

मन शिक्षक का प्रमुख उपकरण है। अत शिक्षक को इसके स्वरूप एव कार्य से पूर्ण रूप से परिचित होना चाहिए। मन या अत करण के चार स्तर होते हैं। पहला स्तर चित्त है जिस पर शेष तीन स्तर स्थित है। चित्त स्मृति का भडार है क्योकि इसमे पिछले अनुभवो के मानसिक सस्कार एकत्र रहते है। चित्त के दो पक्ष हैं निष्क्रिय चित्त और सक्रिय चित्त। यह निष्क्रिय चित्त ही स्मृति का भंडार है जो सक्रिय चित्त अर्थात् स्मरण करने की क्रिया या सक्रिय स्मृति (Active memory) से भिन्न है। निष्क्रिय चित्त को अपने कार्य के लिए किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नही पडती। यह निष्क्रिय स्मृति स्वचालित ढग से कार्य करती है और बिना किसी भूलचूक के सभी अनुभवो के प्रत्यय प्रभावो (After-effects) को सुरक्षित रखती है। हमारे सभी अनुभव निष्क्रिय स्मृति के रूप मे चित्त मे पडे रहते है। सक्रिय स्मृति अपनी आवश्यकता के अनुरूप उस स्मृति-भडार मे से प्रत्यय-प्रभावो को चुनती रहती है। हमे इसी सक्रिय स्मृति के प्रशिक्षण की आवश्यकता पडती है।

अत करण का दूसरा स्तर मानस है जो भारतीय मनोविज्ञान के विचार से छठी इद्रिय है। इसका कार्य है ज्ञान का सग्रह या विचार-सामग्रियो का दो स्रोतो से सचयन करना प्रथम, वाह्य जगत से—मन पच ज्ञानेद्रियो (नेत्र, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा) द्वारा दृष्टि, ध्वनि, घ्राण, रस और स्पर्श की सवेदनाओ को प्राप्त करता है और स्वय उन्हें विचार सवेदनाओ (Thought-sensations) में परिणत करता है, और द्वितीय

मन स्वय अपने भीतर से मानसिक प्रतिमाओं को निर्माण करके ग्रहण करता है और उनसे मानसिक सस्कार (Mental Impressions) बनाता है। 'ये सवेदनाएँ और सस्कार ही चिंतन की सामग्री है, स्वय विचार नही।' † इद्रियाँ विचारो की जननी है, अत बालक को स्पष्ट एव यथेष्ट रूप से सोचने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी ज्ञानेंद्रियो को प्रशिक्षित किया जाय और उसकी ज्ञानेद्रियो की सूक्ष्म सवेदनशीलता उस सीमा तक विकसित की जाय जितनी कि उसमे सामर्थ्य है। अत शिक्षक का प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वह देखे कि बालक अपनी इद्रियो का उचित उपयोग करे। उसे उनके उपयोग का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो ताकि अवसर प्राप्ति के अभाव मे, अनुपयोग के कारण वे कही आहत न हो या अविकसित न रह जायँ। इसके अतिरिक्त ज्ञानेंद्रियो की शिक्षा और भी अधिक उपयोगी एव प्रभावशाली हो सकती है यदि ज्ञानेंद्रियो के प्रशिक्षण के साथ-साथ कर्मेंद्रियो का भी प्रशिक्षण होता चले। उदाहरण के लिए, हाथ को इस प्रकार प्रशिक्षित होना चाहिए कि आँख जो कुछ देखे, मन अनुभव करे, उसे वह चित्र या लेख के रूप में पुनरुत्पादित कर सके। वाणी को इस प्रकार प्रशिक्षित होना चाहिए कि वह अत करण के पूर्ण ज्ञान को भलीभाँति व्यक्त कर सके।

तीसरा स्तर बुद्धि का है। शिक्षाविदो के लिए यह विशेष महत्वपूर्ण और रुचिकर है क्योकि यही चिंतन का वास्तविक साधन (Real instrument of thought) है। बुद्धि ही अत.करण के अन्य अगो द्वारा एकत्र किये गये ज्ञान को व्यवस्थित करती है। इस स्तर के दो अग है दक्षिण अग तथा वाम अग। इन दोनो की अपनी-अपनी क्षमताएँ तथा कार्य हैं। दक्षिण अग का कार्य है : समझने की योग्यता, सृजनशीलता, समन्वयिता। वाम अग का कार्य है . आलोचनात्मक दृष्टि से देखना तथा विश्लेषण करना। दक्षिण अग का कार्य है . समझना, निर्देश करना, निर्णय करना तथा अनिश्चित बातो का प्रहस्तन करना और समझना। वाम अग का कार्य है : तुलना करना, तर्क करना, तर्कपूर्ण निष्कर्ष निकालना। इसका क्षेत्र निर्धारित सत्य तक ही सीमित है। दक्षिण अग ज्ञान का स्वामी है और वाम अग उसका सेवक है। मनुष्य के तर्क की क्रिया की पूर्णता के लिए बुद्धि के ये दोनो अग अनिवार्य हैं। यदि बालक की शिक्षा को पूर्ण बनाना है तो बुद्धि की क्षमता को अधिक[से अधिक बढाना चाहिए। उसकी बुद्धि के दोनो अगो को सभव सीमा तक पूर्णरूप के प्रशिक्षित करना चाहिए।

चौथा स्तर है अतिमानस का जिसका मनुष्य मे अभी अधिक विकास नही हुआ है किंतु धीरे-धीरे इसका विकास होगा। अतिमानस की शक्तियो को उन प्रतिभाशाली व्यक्तियो मे देखा जा सकता है जो ज्ञान की अतर्दृष्टि के कारण सत्य के दूत बन कर मनुष्य को सत्य-मार्ग का अनुसरण करने मे सहायता देते हैं। इन प्रतिभाशाली व्यक्तियो

---

† Sri Aurobindo : 'A System of National Education,' pp 8, 9

मे सत्य के अतर्प्रेरणात्मक प्रत्यक्षीकरण (Intuitive Perception) की जो क्षमता होती है उसको कुछ आलोचक कम करके आँकते है। इसका कारण है, उनमे 'भ्रम, मन की चचलता एव पक्षपात की वृत्ति का मिश्रण।' ऐसे प्रतिभाशाली व्यक्तियो के अभाव में ससार ने प्रगति न की होती। यह सत्य है कि सहजज्ञानी, अपूर्व बुद्धि वाले व्यक्ति कम होते है। फिर भी बहुत से व्यक्तियो मे यह अपूर्ण रूप मे होती है और दूसरो को यह कभी कभी बिजली की चमक की भाँति अनुभव होती है।। यद्यपि इस अपूर्व शक्ति का विकास अब तक उपेक्षित रहा है, फिर भी अब शिक्षाविदो को इस पर ध्यान देना चाहिए। 'भ्रम, मानसिक चचलता एव पक्षपात की वृत्ति के मिश्रण' को क्रमश कम करके इस शक्ति के विकास मे बालक को प्रोत्साहित करना चाहिए। इस दिशा मे शिक्षक प्रत्यक्ष रूप से बालक की सहायता नही कर सकता पर उसे बालक मे सहजज्ञान की प्रवृत्ति को विकसित करने के लिए उसकी रुचि के अनुकूल अवसर प्रदान करने चाहिए।

ज्ञानेंद्रियों का प्रशिक्षण—नेत्र, कान, नासिका, त्वचा, जिह्वा तथा अत करण—ये छ इद्रियाँ ज्ञान के साधन है। अत करण को छोडकर, शेष पाँच बहिर्मुखी है और इनका काम है बहिर्जगत् से तथ्यो का सकलन करना। यह कार्य वे शरीर की नाडियो द्वारा करती है क्योकि इन नाडियो का सबध पचेद्रियो से होता है। शिक्षक का प्रमुख कार्य है, इन इद्रियो को यथार्थता एव शीघ्रबोधता के दृष्टिकोण से पूर्ण बनाना। इसके लिए पहली आवश्यकता यह है कि वह उन दोषो को जान ले जो यथार्थता एव शीघ्रबोध मे बाधक है।

इद्रियो की यथार्थता एव शीघ्रबोधता ज्ञान-ततुओ (Nerves) के स्वस्थ, स्वतत्र एवं निर्बाध क्रियाशीलता पर निर्भर है। यही ज्ञान-तन्तु तथ्यो के सग्रह का स्रोत और माध्यम भी है। इन्ही पर मन की स्वस्थ, निष्क्रिय ग्रहणशीलता (Mind's healthy passive receptibility) भी निर्भर है। सामान्यरूप से इद्रियाँ स्वाभाविकता पूर्ण होती है तथा स्वचालित ढग से अपना कार्य करती है। यदि उनमे कोई त्रुटि आ जाती है तो उस त्रुटि का दोष कही अन्यत्र होता है। यह दोष शिराओ के परिवहन मे हो सकता है। ये शिराएँ मस्तिष्क को सूचना भेजने के साधन है। साधारणतया इन शिराओ द्वारा सूचना स्वय आवश्यक रूप से इद्रियो तक पहुँचती है। हाँ, उस दशा मे ऐसा नही होता जब कोई शारीरिक त्रुटि होती है। ऐसी दशा में शिक्षक के स्थान पर चिकित्सक की आवश्यकता होती है। ये शिराएँ केवल सूचना वाहक होती है और ज्ञानेद्रियो द्वारा प्रेषित सूचना में किसी प्रकार की बाधा नही डालती है। परतु यदि शिराओ के प्रवाह मे दोष है तो इद्रियो द्वारा प्रेषित सूचना की यथार्थता, एव पूर्णता मे बाधा पडती है। शीघ्रबोधता की कमी तब आती है जब बाधाओ के कारण अत करण सूचनाओ से विच्छिन्न हो जाता है। शारीरिक आघातो, या अवयव सबधी दोषो की दशा को छोड-कर इद्रियो की सामान्य सवेदनशीलता को योगानुशासन की नाडी-शुद्धि-क्रिया या प्राण-

याम द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

कभी-कभी यदि नाडी-शिराओ की बाधा सूचना को पूर्णत ा रोकती नही है तो उसे विक्षिप्त कर देती है। उदाहरण के लिए, भय और चेतावनी-सूचक विक्षेपकारी सवेग इद्रियो की कार्य प्रणाली को प्रभावित करते हैं। सूचनाओ को विक्षिप्त होने से बचाने के लिए एक मात्र साधन है नाडी-शिराओ को स्थिर एव शात रखने की आदत। नाडी-शिराओ को स्थिर एव शात रखने मे नाडी-शुद्धि भी सहायता पहुँचाती है। नाडी-शुद्धि शारीरिक कुव्यवस्था को शात करती है, आतरिक प्रक्रियाओ को जानबूझ कर स्थिर करती है और अत करण को पवित्र करती है।

जब नाडी-शिराएँ शात, स्थिर और स्वतत्र हो जाती है और तब यदि उनमे सूचना-सबधी कोई बाधा पडती है तो वह मन के द्वारा ही पडती है क्योकि मन स्वय बुद्धि से सपर्क स्थापित करने का एक माध्यम है। मानस ज्ञानेंद्रिय भी है और नाडियो की भाँति सप्रेषण-शिरा भी है। ज्ञानेद्रिय के रूप मे, अन्य ज्ञानेंद्रियो की भाति वह स्वयपूर्ण है, शिरा के रूप मे इसमे दो प्रकार की कुव्यवस्थाएँ उत्पन्न हो सकती है—बाधा या विकार। ये कुव्यवस्थाएँ दोनो छोरो पर आ सकती है सूचना-सप्रेषण मे, इद्रियो से अत करण की ओर और अत करण से बुद्धि की ओर।

अत करण, ज्ञानेद्रिय के रूप मे बाहर और भीतर के विचार-प्रभावो (Thought-impressions) का प्रत्यक्ष ग्राहक है। ये प्रभाव अपने आपमे पूर्णतया सही होते हुए भी कभी-कभी या तो बुद्धि तक बिल्कुल ही प्रेषित नही हो पाते या इतने विकृत हो जाते है कि उनसे पूर्णतया या आशिक रूप मे मिथ्या प्रभाव उत्पन्न होता है। इद्रियो के छोर से आती हुई सूचनाओ के अप्रत्यक्ष प्रभाव मे भी बाधा पड सकती है किंतु इस बाधा के प्रभाव की मात्रा कम होती है। परतु जब मन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है तब उस पर इस बाधा का प्रभाव प्रबल रूप मे होता है जिससे भूलें होती है। अत करण मुख्यत विचारो के प्रत्यक्ष प्रभाव को ग्रहण करता है, किंतु यह आकार और ध्वनि के प्रत्यक्ष प्रभावो को भी ग्रहण कर सकता है। वास्तव मे यह उन सभी वस्तुओ के प्रत्यक्ष प्रभावो को ग्रहण कर सकता है जिसके लिए यह अधिकतर ज्ञानेंद्रियो पर आश्रित रहता है। योग मे इस अनुशासित एव विकसित मानसिक ग्रहणशीलता को सूक्ष्मदृष्टि भी कहते है। श्री अरविंद कहते है कि सूक्ष्म विचारो का प्रेषण (Telepathy), अदृश्य वस्तुओ का देखना (Clairvoyance) दूसरो के विचारो को जानना (Thought reading) और चरित्र को समझना, (Character-reading) ये पाश्चात्य जगत् द्वारा दिये हुए अंत करण की शक्तियो के आधुनिक रूप है जिनको कि भारत ने बहुत पूर्व ही जान लिया था। इनका सबध मानस से है। इस छठी ज्ञानेंद्रिय का विकास मानव-प्रशिक्षण का अग कभी नही रहा है। अत. मन के प्रशिक्षण

की भी आवश्यकता है जिससे वह बुद्धि को ठीक-ठीक सूचनाएँ प्रदान कर सके और उनके आधार पर व्यक्ति पूर्ण विचार ग्रहण कर सके और ठीक-ठीक सोच सके।

नाडी-शुद्धि से सर्वप्रथम नाडी सबधी सवेगात्मक बाधाये दूर होती है। नैतिक आचरण तथा सवेग सयम बाहर से प्राप्त होने वाली सूचनाओ की, घृणा, प्रेम या अन्य प्रबल सवेगो के विकृत प्रभावो से रक्षा करता है। प्राचीन काल मे आरभिक साधनो द्वारा चित्त-शुद्धि की जो व्यवस्था प्रचलित थी वह आधुनिक शिक्षा प्रणाली में उपयुक्त नही समझी जाती। चित्त-शुद्धि से तात्पर्य है, चित्त मे नैतिक एव मानसिक पवित्रता के स्वभाव का स्थिर होना। चित्त शुद्धि होने पर व्यक्ति नवीन अनुभव के प्रथम सस्कारो को पक्षपातरहित रूप मे ग्रहण करता है। चित्त शुद्धि होने पर नवीन अनुभव के प्रथम सस्कारो पर अचेतन द्वारा भी पक्षपात का प्रभाव नही पडता है क्योकि चित्त-शुद्धि चित्त मे स्थित पूर्व विचार साहचर्यों द्वारा डाली बाधाओ को भी दूर करता है। हम देखते है कि वस्तुओ को देखने का हमारा एक दृष्टिकोण बन जाता है और हमारे स्वभाव मे एक सकीर्णता आ जाती है, अत हम नये अनुभवो को भी पुराने अनुभवो के रूप मे देखते है। चित्त-शुद्धि से हमारी यह प्रवृत्ति दूर हो जाती है। श्री अरविंद स्पष्टरूप से यह घोषणा करते है कि इस प्रकार की बाधाएँ तब तक बनी रहेगी जब तक हम अपनी प्राचीन पद्धति के कुछ मुख्य सिद्धातो को कार्यान्वित नही करेंगे। वस्तुत उनके विचार मे राष्ट्रीय शिक्षा की योजना को सभी महत्वपूर्ण बातो मे योरोपीय विचारो द्वारा शासित नही होना चाहिए। चित्त-शुद्धि और नाडी-शुद्धि एक ऐसी सीधी और सरल प्रक्रिया है जो हमारी शिक्षा-प्रणाली का अग बन सकती है।

इस प्रक्रिया का कार्य है कि हमारी निष्क्रिय स्मृति से जो असंख्य विचार सवेदनाएँ हमारी इच्छा के बिना उठती है और जिनपर हमारा कोई नियत्रण नही है, उनको निष्क्रिय बनाना। यही निष्क्रियता हमारी बुद्धि को पुराने साहचर्यों तथा मिथ्या सस्कारो से मुक्त करती है और बुद्धि को इस योग्य बनाती है कि वह चित्त को यह निर्देश करे कि वह कौन से संस्कारो को ग्रहण करे और कौन से संस्कारो को अस्वीकार करे। यह हमे वह शक्ति देती है जिससे हम निष्क्रिय स्मृति के भडार से आवश्यक बातो को चुनते है। इसी के कारण हम उचित सस्कारो को ग्रहण करने के अभ्यस्त हो जाते है। बुद्धि का वास्तविक कार्य है भेद करना, सचयन करना तथा श्रृखलाबद्ध करना। किंतु जब तक चित्त-शुद्धि नही होती, द्धि अपना यह कार्य सुचारु रूप से करने के स्थान पर स्वय अपूर्ण और दूषित रहती है तथा मिथ्या निरीक्षण, मिथ्या कल्पना, मिथ्या निर्णय, मिथ्या निगमन, आगमन तथा अनुमान के द्वारा मन में विकल्प उत्पन्न करती है। बुद्धि की स्वतत्रता, शुद्धि तथा सुचारु ढग से कार्य करने के लिए चित्त की शुद्धि आवश्यक है।

अभ्यास द्वारा ज्ञानेंद्रियों के कार्य में उन्नति—श्री अरविंद के विचार मे बालकज्ञानेद्रियो द्वारा इस कारण भी ज्ञान अर्जित नही कर पाता क्योकि वह अपनी ज्ञानेंद्रियो को ठीक-ठीक

उपयोग करने का अभ्यस्त नही होता। वह विभिन्न ज्ञानेद्रियो द्वारा विभिन्न सवेदनाओ को जो मस्तिष्क तक पहुँचना चाहती है, पर्याप्त ध्यान न देने के कारण ग्रहण नही कर पाता। ज्ञानेद्रियो की यह तामसिक वृत्ति बुद्धि के ध्यान न देने के कारण होती है। अत बालक को दृश्यो, आवाजों आदि को पकडने, पहिचानने, उनकी प्रकृति एव तत्व तथा उद्‌गम की पहिचान करने और उन्हे चित्त मे स्थिर करने का अभ्यस्त होना चाहिए ताकि आवश्यकता पडने पर वह स्मृति द्वारा उनका ठीक-ठीक पुनरावर्तन कर सके।

श्री अरविंद कहते है कि विभिन्न प्रयोगो के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि ज्ञानेंद्रियो और स्मृति के ठीक-ठीक उपयोग के अभाव के कारण बालक की प्रत्यक्षीकरण (Observation) की शक्ति पूर्णरूप से विकसित नही हो पाती। यदि बारह व्यक्तियो से यह कहा जाय कि दो घटे पहले जो घटना घटी थी उसका विवरण लिखो तो बारहो का वर्णन एक दूसरे से भिन्न होगा और साथ ही वास्तविक घटना से भी भिन्न होगा। अत बालक के प्रत्यक्षीकरण की इस अपूर्णता को दूर करना चाहिए। इस सुधार का प्रथम उपाय है ज्ञानेद्रियो के इस प्रकार का प्रशिक्षण जिससे वे अपना कार्य ठीक-ठीक कर सके, और ज्ञानेद्रियाँ यह काम भली भाँति कर सकती है यदि उन्हें यह ज्ञात हो कि बुद्धि अपना कार्य सुचारु रूप से करने के लिए उनपर निर्भर है। द्वितीय, बालक को चाहिए कि वह ध्यान देकर तथ्यो को क्रमबद्ध करके अपनी स्मृति में सचित करे।

ज्ञानार्जन की क्रिया मे ध्यान या अवधान (Attention) का, जैसा हमने अभी देखा, बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। ठीक-ठीक स्मरण करने और तथ्यो का ठीक-ठीक निरूपण करने से लिए अवधान की सर्वप्रथम आवश्यकता पडती है। बालक को अनुशासन में रखने के लिए पहली आवश्यक चीज यह है कि बालक जो कार्य कर रहा है उस पर ध्यान दे। ऐसा तभी सभव है जब उसके ध्यान केन्द्रित करने का विषय रुचिकर हो। एक वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करना ही एकाग्रता (Concentration) कहलाता है। इस सबध मे भी एक तथ्य की सदा उपेक्षा की जाती है और वह यह है कि कभी-कभी कई चीजो पर ध्यान केन्द्रित करना अनिवार्य हो जाता है। अत साधारणतया जब लोग ध्यान केन्द्रित करने की बात करते हैं तो उससे उनका तात्पर्य एक समय मे एक वस्तु पर ही ध्यान केन्द्रित करना ही होता है, परतु दो चीजो, तीन चीजो तथा कई चीजो पर भी ध्यान एक साथ केन्द्रित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, जब कोई घटना होती है तब उसमे एक साथ ही कई कार्य हो रहे होते है, वह कई समकालिक व्यापारो का समुदाय होता है जो एक क्षण मे एक ही साथ घटित होते है, जैसे—एक दृश्य, एक आवाज और एक स्पर्श, या कई दृश्य, कई आवाजें और कई स्पर्श। अधिकतर एक व्यक्ति का मन एक चीज़ पर ज्यादा ध्यान देता है और बाकी पर धुँधला ध्यान, अत वह घटना

का पूरा विवरण ठीक-ठीक नही दे पाता। श्री अरविंद कहते है कि यदि बालक को निरतर अभ्यास कराया जाय तो वह अपने ध्यान को एक समय मे घटित होने वाली घटना के विभिन्न पक्षो पर बराबर बाट सकता है।

इस सबध मे यह भी वाछनीय होगा कि हाथ बालक की आँख की सहायता करे, अर्थात् बालक जो आँख से देखता है उसकी हाथ से नकल करने से उसको सम्यक् प्रत्यक्षीकरण मे सहायता मिलती है क्योकि ऐसा करने से उसे अपने अपूर्ण प्रत्यक्षीकरण का पता चल जाता है और वह तथ्यो को ठीक-ठीक देखने तथा देखे हुए को ठीक-ठीक निरूपण करने का अभ्यस्त हो जाता है। अत चित्रण-कला का यही प्रथम सदुपयोग है और इसी कारण चित्रण-कला का विषय ज्ञानेद्रियो के प्रशिक्षण का अभिन्न अग होना चाहिए।

मानसिक शक्तियो का प्रशिक्षण—श्री अरविंद विद्यार्थी की मानसिक शक्तियो के प्रशिक्षण पर बल देते है। सर्वप्रथम विद्यार्थी की निरीक्षणशक्ति का प्रशिक्षण होना चाहिए। प्राय बालक अपने वातावरण मे बहुत सी चीजो को देखते ही नही है। यहाँ तक कि जो चीजे उन्हे दिखाई पडती है उन्हे भी पूरी तरह से नही देखते। इसका कारण है कि वे वस्तुओ को सामान्य दृष्टि से देखते है अर्थात् कम ध्यान से देखते है और परिणाम यह होता है कि वह उन वस्तुओ को उनके पूर्णरूप मे न देखकर अधूरे रूप मे देखते है। किसी स्थान, रूप या गुण के विषय मे, ध्यान पूर्वक देखने से ही उसकी जानकारी प्राप्त की जा सकती है। मुख्य तीन ज्ञानेद्रियो—आँख, कान, नाक द्वारा प्राप्त ज्ञान के अतिरिक्त स्पर्श और स्वाद के द्वारा भी वस्तुओ के विषय मे उनकी प्रवृत्ति तथा गुण के बारे मे बहुत कुछ ज्ञात हो जाता है। जो छठी ज्ञानेद्रिय—मन—का प्रयोग करते है, जैसे कवि, कलाकार और योगी वह वस्तुओ के बारे मे और भी सूक्ष्म तथ्य ग्रहण करते है जो साधारण निरीक्षक के लिए सभव नही। वैज्ञानिक, अपनी छानबीन के आधार पर ऐसे तथ्यो को खोजना और निश्चित करता है जो सूक्ष्मतर निरीक्षण पर आधारित हैं। ये सब क्रियाएँ निरीक्षण के ही अतर्गत आती है और इनका आधार अवधान अथवा ध्यान है। यह व्यक्ति पर निर्भर है कि वह केवल निकटस्थ ध्यान से वस्तुओ का निरीक्षण करता है और तथ्यो को ग्रहण करता है या निकटस्थ एव सूक्ष्म ध्यान से। जिस व्यक्ति की ग्रहणशीलता सात्विक है और जिसका ध्यान एकाग्र होता है वह सामान्य निरीक्षण से भी वस्तु के विषय मे पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर लेता है। अत आधारभूत आवश्यकता इस बात की है कि बालक को अपना ध्यान एकाग्र करने की प्रशिक्षा दी जाय। यह प्रशिक्षा किसी बोझिल कार्य के रूप मे न होकर रुचिकर ढग से होनी चाहिए। यहाँ एक फूल का उदाहरण लें। बालक को एक फूल की ओर केवल सामान्य दृष्टि से देखने की अपेक्षा, यह अच्छा होगा कि उसे फूल को जानने, उसका ठीक ठीक रग, रूप, गध, आदि मन मे स्थिर करने के लिए प्रेरित किया जाय। इसके उपरात फूल को तोड़

कर उसके ढाँचे का ठीक ठीक निरीक्षण करने की ओर उसका ध्यान आकर्षित किया जाय। शिक्षक को चाहिए कि वह बालक से विचारोत्तेजक प्रश्नो के आधार पर, जो बालक की योग्यता के अनुकूल हो, उसे चीजो को जानने, उनकी छानबीन करने की ओर इस प्रकार प्रेरित करे जिससे बालक अनजाने ही उन्हे पूर्णरूप से जान ले।

इसी प्रकार स्मरण और निर्णय करने की शक्तियो का विकास भी अचेतन रूप मे होना चाहिए। एक बात की बार-बार आवृत्ति करना, स्मृति के प्रशिक्षण का यान्त्रिक और अबोद्धिक ढग है। उससे अच्छी विधि यह है कि बालक सादृश्यता और विभेद के पहचानने का अभ्यास करे। उदाहरण के लिए, बालक को विभिन्न फूलो मे समानता और विभेद को पहचानने के लिए अग्रसर करना चाहिए। ऐसा अभ्यास करनेसे न केवल स्मृति का प्रशिक्षण होता है, वरन् समानता और विषमता को जाँचने वाली बौद्धिक शक्ति का भी विकास होता है। इस प्रकार बालक निरीक्षण करने का उपयुक्त ढग ग्रहण करता है। श्री अरविद बालक को तथ्यो के रटाने के पक्ष मे नही है। वह मस्तिष्क को नाम, शुष्क विषय तथा सूचना-सग्रहो से सकुल नही बनाना चाहते। रटने की क्रिया स्वाभाविक नही है और एक स्वस्थ मस्तिष्क वाले बालक के लिए रटना रुचिकर भी नही है। रुचिकर निरीक्षण, तुलना, तथा भेद स्थापन द्वारा, बालक के विकासशील मस्तिष्क को यदि कुशलता पूर्वक ठीक दिशा मे निर्देशित किया जाय तो बालक मे वैज्ञानिक वृत्ति एव स्वभाव का निर्माण हो सकेगा और शीघ्र ही वह वैज्ञानिक ज्ञान-सबधी आधार तथ्यो को स्थायी रूप से ग्रहण कर लेगा। फूलो, पत्तियो, पेडो का रुचिकर ढग से निरीक्षण करके, तुलनात्मक दृष्टि से देखकर बालक मे वनस्पति-शास्त्र के ज्ञान की नीव डाली जा सकती है, इसी प्रकार नक्षत्रो को देखकर ज्योतिषशास्त्र, पृथ्वी, पत्थरो आदि के निरीक्षण द्वारा भूगर्भ-शास्त्र, कीडे, मकोडे और जन्तुओ के निरीक्षण के आधार पर जन्तु-विज्ञान की नीव डाली जा सकती है। कुछ समय बाद रुचिकर प्रयोगो के रुचिकर निरीक्षण द्वारा बिना किसी सविधिक शिक्षा के, बिना सूत्रो और पुस्तको को ध्यान मे रखे रसायन-शास्त्र का ज्ञान देना प्रारभ किया जा सकता है। बचपन मे ही विभिन्न वस्तुओ के निरीक्षण, तुलना, स्मरण तथा निर्णय की शक्तियो के प्रशिक्षण से किसी भी वैज्ञानिक विषय पर स्वाभाविक एव पूर्ण ढग से अधिकार हो सकता है। बालक अपनी कुमारावस्था मे अवकाश के समय, इस दिशा मे प्राप्त अभिरुचि को बडी गति के साथ बढा सकता है।

बालक की निर्णय-शक्ति का प्रशिक्षण अन्य शक्तियो के प्रशिक्षण के साथ साथ स्वभावत होता चलेगा। उदाहरण के लिए, फूलो के निरीक्षण और तुलना करते समय, बालक को समय समय पर उनके रग, रूप, ध्वनि, सुगध आदि के बारे मे यह निर्णय करना पडेगा कि उनके गुण सबधी अनेक विचार ठीक है या गलत है। किसी किसी अवसर पर बालक को सूक्ष्म निर्णय करने की आवश्यकता भी पडेगी। अत स्वभावतः

बालक की निर्णय-शक्ति का प्रशिक्षण होता चलेगा। आरभ मे बालक के निर्णय मे भूल हो सकती है, परतु जैसे जैसे उमे बारीकियाँ निकालने का अवसर प्राप्त होगा, वह आव-श्यकतानुसार उनके प्रति प्रयत्नशील होगा, अपनी भूलो को समझेगा और ठीक-ठीक निर्णय या सूक्ष्मता के साथ निर्णय कर सकेगा। सर्वोत्तम तो यह होगा कि बालक को पर्याप्त मात्रा मे ऐसे अवसर प्रदान किये जायें जब कि वह अपने निर्णय की तुलना दूसरो के निर्णय से कर सके। उसे अपनी भूलो का कारण भी मालूम होना चाहिए और यह भी ज्ञात होना चाहिए कि वह किस मात्रा मे भूल करता है। जब बालक अपने निर्णय के प्रयास मे सफल हो तब प्रोत्साहित करके उसके आत्मविश्वास को सुदृढ बनाना चाहिए।

तुलना और भेद करने से, किसी वस्तु की समताओ और विषमताओ को पहचानने से बालक मे उपमान (Analogy) करने की शक्ति की वृद्धि होती है। बालक को इस शक्ति की सीमाओ और भूलो से भी परिचित करा देना चाहिए और उसकी इस शक्ति को उत्साहित करना चाहिए। इस प्रकार उसमे सही उपमान करने की आदत, जो कि ज्ञान प्राप्त करने मे सहायक है, पड जायेगी।

तर्कशक्ति के अतिरिक्त, जिसका वर्णन आगे किया जायगा, कल्पना भी एक महत्व-पूर्ण शक्ति है। इस शक्ति के कार्य मानसिक है—प्रतिमाओ का निर्माण, प्रत्ययो का सृजन, उपस्थित प्रत्ययो एव प्रतिमाओ की प्रतिमाएं बनाना, अनुकरण करना या नए रूप मे ढालना, वस्तुओ की आत्मा की सराहना करना, विश्व मे व्याप्त सौन्दर्य, विशालता, भावना, गुप्त सकेतशीलता (Hidden Suggestiveness) तथा आध्यात्मिक जीवन को समझना।

विभिन्न मानसिक शक्तियो के प्रशिक्षण के लिए अभ्यास पहले वस्तुओ पर तत्पश्चात् शब्दो और विचारो पर होना चाहिए। श्री अरविद के विचार मे बालक को भाषा-ज्ञान देने के सबध मे अधिकतर असावधानी से काम लिया जाता है। शब्दो के अच्छे ज्ञान के अभाव मे बुद्धि की सूक्ष्म क्रियाशीलता और सत्यता मे क्षीणता आ जाती है। सबसे पहले बालक को शब्दो को, उनके रूप, ध्वनि तथा अर्थ के साथ जानना चाहिए, तत्पश्चात् शब्दो के रूप की अन्य शब्दो के रूप से तुलना तथा विभेद करना सीखना चाहिए और इसी के आधार पर उसमे व्याकरण सबधी ज्ञान की नीव रखी जा सकती है। इसी प्रकार समानार्थी शब्दो के अर्थो में सूक्ष्म भेद जानने और विभिन्न प्रकार के वाक्यो की रचना और लय (Rhythm) मे भेद जानने के आधार पर बालको मे साहित्यिक एव समन्वयात्मक शक्तियो को विकसित किया जा सकता है। यह सब अविधिक रूप से बालक की जिज्ञासा और रुचि को जाग्रत करके, और प्रचलित शिक्षण-पद्धति—जिसमे नियमो और सिद्धातो को रटने पर बल दिया जाता है—की उपेक्षा करके, प्राप्त किया जाना चाहिए।

तर्क-शक्ति का प्रशिक्षण

मानसिक शक्तियो के प्रशिक्षण के उपरात तर्क-शक्ति का प्रशिक्षण होना चाहिए। तर्क-शक्ति का प्रशिक्षण आवश्यक रूप से मानसिक शक्तियो के प्रशिक्षण के बाद इस लिए होना चाहिए क्योकि तर्क के लिए सामग्री, विचारो या तथ्यो का सग्रह यही मानसिक शक्तियाँ करती है। तर्क मे विचारो को उलट-पुलट किया जाता है, अत यदि हम चाहते है कि बालक विचारो को सफलतापूर्वक तर्कना मे प्रयोग करे तो तर्कना से पूर्व शब्दो पर आधिपत्य स्थापित करने वाली शक्ति को विकसित करना चाहिए। यथार्थ विचारणा-शक्ति के विकास के बिना तर्क शक्ति आगे नही बढ सकती है। समस्या यह है कि आरभिक कार्यों के हो जाने के बाद बालक को ठीक-ठीक सोचने के लिए किस प्रकार शिक्षा दी जाय क्योकि बिना पूर्व-पक्ष के युक्तियुक्त तर्क करना कठिन है। तर्क या तो तथ्यो से अनुमान करके निष्कर्ष निकालता है या पहले से निकाले हुए निष्कर्षो से नये अनुमान करता है या एक तथ्य से दूसरे तथ्य के सबध मे अनुमान करता है अथवा केवल अनुमान करता है।

उचित तर्क के लिए तीन तत्त्व अनिवार्य है —(१) तथ्य या निष्कर्ष जिससे तर्क का आरभ होता है, सही होने चाहिए, (२) सग्रहित सामग्री (Data) पूर्ण और निश्चित होनी चाहिए तथा (३) उसी तथ्य से निकलने वाले अन्य सभव या असभव निष्कषो को पृथक् करना चाहिए। सावधानी तथा तीक्ष्ण बुद्धि से काम लेने पर तर्क की त्रुटियो को दूर किया जा सकता है।

तर्क-शक्ति को सामान्यत पुस्तकीय ज्ञान तथा तर्क-विज्ञान की शिक्षा द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है। पहले सिद्धातो तथा सविधिक ज्ञान के द्वारा शिक्षा देकर बाद मे उदाहरण दिये जाते है। किंतु पाठनपद्धति इसके विपरीत होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त बालको को स्वय तर्क-क्रिया तथा उसके दोषो का निरीक्षण अपने अनुभव द्वारा प्राप्त करने देना चाहिए।

बालक के मन को कारणो तथा प्रभावो की खोज करना तथा तथ्यो से अनुमान करने की ओर प्रवृत्त करना चाहिए। सही निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए, उसके मार्ग मे आने वाली सभी बाधाओ का अनुभव उसे होने देना चाहिए। तभी बालक सही ढग से तर्क करने का अभ्यासी होगा और उसकी तर्कना मे दोष आने की सभावना नही रहेगी। जब बालक इस कला से पूर्णतया परिचित हो जायेगा तभी वह सविधिक तर्क का व्यवस्थित अध्ययन शीघ्रता से कर सकेगा।

नैतिक तथा धार्मिक शिक्षा

श्री अरविंद आधुनिक स्कूलो और कालेजो की शिक्षा मे नैतिक और धार्मिक शिक्षा के अभाव से दुखी थे। उनके विचार में नैतिक एव सवेगात्मक प्रकृति की पूर्णता के

अभाव मे केवल बौद्धिक प्रशिक्षण, मानव-प्रगति के लिए अहितकर है। यदि कुछ स्कूलो और कालेजो मे यह शिक्षा दी भी जाती है तो वह गलत ढग से दी जाती है। कारण, नीति और धर्म-सबधी पुस्तके पढाकर बालको को नीतिवान और धार्मिक बनाने का विचार भ्रमपूर्ण है क्योंकि मस्तिष्क हृदय का स्थान कभी नही ले सकता है, और यह आवश्यक भी नही है कि मस्तिष्क को शिक्षित करने से हृदय का भी सुधार हो। श्री अरविद स्वीकार करते है कि यह कहना भूल होगा कि पुस्तकीय शिक्षा का हृदय पर कुछ भी प्रभाव नही पडता। वस्तुत पुस्तको द्वारा दी जाने वाली धार्मिक और मानसिक शिक्षा अत करण मे कुछ विचारो को बीजरूप मे डाल देती है और यदि ये विचार स्वभाव के अग बन जाते है तो चरित्र को भी प्रभावित करते है। नीति-सबधी पाठ्य-पुस्तको के पढने मे डर यह रहता है कि वे उच्च वस्तुओ के विषय मे विचार करने की क्रिया को यान्त्रिक और कृत्रिम बना देती है और जो भी क्रिया यान्त्रिक और कृत्रिम होती है वह 'शिव' की ओर क्रियाशील नही होती।

श्री अरविद योरोपीय नैतिक अनुशासन की भर्त्सना करते है क्योंकि वह दिखावटी और प्रवचनापूर्ण है। इसके द्वारा बालक घर और विद्यालय के नैतिक शिष्टाचार के अनुसार अपने को बना तो लेता है और आगे चलकर समाज के अन्य अनुशासनो का भी पालन करता है, परतु वह अपने आतरिक एव निजी जीवन को अपनी रुचि के अनुसार स्वतत्र रूप मे निर्देशित करने के लिए अपने को पूर्ण स्वच्छद समझता है। जाति के हितार्थ और उसे नैतिक भ्रष्टाचार के दोषो से बचाने के लिए, नैतिक एव धार्मिक शिक्षा को हमारी राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति का अभिन्न अग होना चाहिए। युगो प्राचीन वर्णाश्रम-धर्म पर आधारित श्रेष्ठ नैतिक चरित्र का उच्चादर्श हमारे नवयुवको के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इस वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार प्रत्येक वर्ण के अपने-अपने कर्त्तव्य थे ज्ञान पिपासा, आत्मभक्ति, पवित्रता तथा त्याग ब्राह्मणो का, साहस, सम्मान, सज्जनता वीरता और देशभक्ति क्षत्रियो का, परोपकारिता, कौशल, हस्त कला, अपने व्यवसाय मे मे उदारता वैश्यो का, आत्मत्याग तथा प्रेमपूर्वक सेवा शूद्रो का—यही आर्यों के गुण थे।

पाश्चात्य सभ्यता की प्रवचना से बचने के लिए इस प्रकार के नैतिक गुणो को आतरिक अनुशासन (Inner discipline) द्वारा ग्रहण करना चाहिए। आतरिक अनु-शासन के लिए सम्यक् सवेगो, सत्सग, उत्तम मानसिक, सवेगात्मक एव शारीरिक आदतो का अभ्यस्त होना होगा, अपनी मूलप्रवृत्ति के स्वाभाविक आवेगो को उचित कार्यो मे प्रयुक्त करना होगा।

नैतिक अनुशासन के सबध मे श्री अरविंद ने पाश्चात्य जगत मे छात्रावास-युक्त इगलिश स्कूलो मे व्यवहृत आदर्शवाद की प्रभावपेक्षण की प्रणाली† का जिक्र

† The Idealist Method of Impression

किया है जिसमे शिक्षक ही बालको का नतिक निर्देशक और आदर्श होता है। श्री अरविंद ने इस प्रणाली को प्रशसा की है, यद्यपि इस प्रणाली मे गुण के साथ कुछ दोष भी है। इस प्रणाली मे बाहरी अनुशासन पर ही अधिक जोर दिया जाता है। बालक की भय की प्रवृत्ति का सहारा लिया जाता है और भय द्वारा वह अनुशासित रहता है, अत लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। उनके विचार मे, वास्तव मे प्रभाव डालने की इस प्रणाली का सर्वोत्तम प्रयोग हमारे प्राचीन गुरुओ द्वारा हुआ है क्योकि वे अपने पूर्णज्ञान तथा पवित्रता के कारण शिष्यो के सम्मान-पात्र होते थे और शिष्य उनके आज्ञापालक होते थे। श्री अरविद परामर्श देते है कि "क्योकि इस प्राचीन पद्धति को पुनरुज्जीवित करना कठिन है, अत. योरोपीय पद्धति की किराये की पुलिस की भाँति व्यवहार करने वाले अध्यापको के स्थान पर मित्र, सहायक, और निर्देशक अध्यापको को प्रतिष्ठित करना चाहिए।"‡

नैतिक शिक्षा देने मे भी, शिक्षक को वही विधि अपनानी चाहिए जो मानसिक शिक्षा देने मे अपनायी जाती है अर्थात् बालक को ऐसा मार्ग दिखाना चाहिए जिससे वह पूर्णता की ओर अग्रसर हो।/ यह कार्य सुझाव द्वारा किया जा सकता है। सुझाव का सबसे सुदर ढग है, बालको के सम्मुख व्यक्तिगत आदर्श उपस्थित करना। प्रतिदिन के वार्त्तालाप तथा नित्य पढी जाने वाली पुस्तको द्वारा भी बालक को निर्देश दिया जा सकता है। ये पुस्तके बालको के मानसिक स्तर के अनुकूल होनी चाहिए। इनमे प्राचीन वीरो की कहानियाँ रुचिकर ढग से लिखी होनी चाहिए। हाँ, यह कहनियाँ उपदेश के रूप मे नही होनी चाहिए क्योकि बालको के हृदय पर उपदेशो का प्रभाव नही पडता है। इसका कारण यह है कि इस समय वे अपने जीवन के रोमाटिक (स्वच्छद) काल से गुजर रहे होते है। बडे बालको या किशोरो की पुस्तको मे महान् पुरुषो के महान् विचार होने चाहिए, साहित्य के वे अश होने चाहिए जो उनकी उच्च भावनाओ को उद्दीप्त कर सके, उच्च आदर्श और आकाक्षाओ को प्रेरित कर सके, इतिहास की घटनाएँ तथा ऐसी जीवनियाँ होनी चाहिए जो इन उच्च विचारो और श्रेष्ठ भावनाओ और प्रेरणात्मक आदर्शो के सजीव उदाहरण हो। जब अध्यापक और विद्यार्थी अध्ययन मे इस प्रकार साथ-साथ भाग लेते है तो इस सत्सग का गभीर प्रभाव बालक पर पड सकता है। शिक्षक इस बात का ध्यान रखे कि वह वाक्-उपदेश की प्रणाली न अपनाये बल्कि स्वय आदर्शो का प्रतिरूप हो। इस प्रकार विद्यार्थी जिन उच्च विचारो को ग्रहण करता है उनसे उसमे शक्तिशाली सवेग अथवा भाव उत्पन्न होते है। इन भावो को, यदि बालक को एक सीमित क्षेत्र मे ही कार्यरूप मे परिणत करने का अवसर प्राप्त हो, तो उन्हे सफल व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है। अतः प्रत्येक विद्यार्थी को व्यावहारिक अवसर तथा बौद्धिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए

---

‡ Sri Aurobindo : 'A System of National Education,' p 17

जिससे वह अपने भीतर निहित गुणो को आर्य परपरा के अनुसार विकसित कर सके। यह शिक्षक के कार्यों का सकारात्मक पक्ष है। /

किंतु यदि बालक मे शारीरिक या मानसिक दुर्गुण दुःस्वभाव या कुसस्कार हैं तो उसके साथ कठोर व्यवहार करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से गलत है। उसे पापी भी घोषित नही करना चाहिए क्योकि ऐसा करने से, सुधरने के स्थान पर उत्तरोत्तर उसके बिगडते जाने की सभावना है। ऐसे लडको को यह सुझाव देना अच्छा है कि वे रोगी है, उनके दोष बीमारी के लक्षणमात्र है और उनका रोग राजयोग की पद्धति जिसमे सयम, अस्वीकार स्थानापन्न आदि, को क्रियाएँ सम्मिलित है, से दूर हो सकता है। उन्हे यह समझाना चाहिए कि जब उनके मन मे असत्य या बुरे भाव उठते हो तव उन्हे अपनी इच्छाशक्ति को बलवती बनाना चाहिए तथा असत्य के स्थान पर मन म सत्य, भय के स्थान पर साहस, स्वार्थ के स्थान पर त्याग एव बलिदान तथा घृणा के स्थान पर प्रेम को जाग्रत करना चाहिए। ऐसे बालको के सबध मे "विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि कही उनके अविकसित गुण दोष मान कर अस्वीकृत न कर दिये जायँ। बहुत से बालको मे शक्ति, महानता, और सज्जनता के अतिरेक के कारण वन्यता और असावधानी आ जाती है। है। उनका सस्कार करना चाहिए, न कि उन्हे निरुत्साहित करना चाहिए।"‡

धार्मिक शिक्षा के सबध मे भी श्री अरविद योरोपीय पद्धति का अनुसरण करने के पक्षपाती नही है। योरोपीय पद्धति के अनुसार बालको को केवल धार्मिक सिद्धातो की शिक्षा देकर उन्हे पवित्र और नैतिक बनाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि या तो बालक उन्हे यात्रिक रूप मे स्वीकार कर लेता है जिसका प्रभाव उसके आतरिक जीवन पर नही पडता है और यदि बाह्य जीवन पर पडता भी है तो बहुत कम, अथवा बालक रुढिवादी, हठधर्मी, अतिधर्मवादी तथा पाखडी बन जाता है। 'धर्म जीवन मे, व्यवहार मे व्यवहृत करने की वस्तु है, मत के रूप में सीखने की वस्तु नही है।'

कोई भी धार्मिक शिक्षा तब तक लाभदायक नही होती जब तक कि उसे जीवन में व्यवहृत न किया जाय। विभिन्न प्रकार की साधनाएँ, आध्यात्मिक आत्म-प्रशिक्षण तथा प्रयोग धार्मिक जीवन के लिए तैयार करने के शक्तिशाली साधन है। प्रार्थना, उपासना और उत्सव आदि की व्यवस्था बहुत से व्यक्तियो को धार्मिक जीवन के लिये तैयार करने के लिए आवश्यक हैं, पर यदि वे इन्हें साधन मानें, साध्य नही तो साधन के रूप मे ये आध्यात्मिक उन्नति मे सहायता करती है। यदि इस प्रकार के धार्मिक कृत्यो को रोक भी दिया जाय तो इनके स्थान पर, किसी दूसरे प्रकार का ध्यान, भक्ति या धार्मिक कर्त्तव्य आदि की व्यवस्था की जानी चाहिए। यदि ऐसा सभव न हो तो अच्छा यह होगा कि धार्मिक शिक्षा न दी जाय।

---

‡ Ibid, p 20

धर्म-विशेष की शिक्षा विद्यालय मे दी जाती हो या नही, परतु प्रत्येक राष्ट्रीय कहे जाने वाले विद्यालय मे धर्म के वास्तविक सार की शिक्षा अवश्य दी जानी चाहिए। यह वास्तविक सार प्रत्येक बालक के समक्ष यह आदर्श उपस्थित करता है कि वह ईश्वर के लिए जीवन व्यतीत करे, मानवता, देश तथा अन्य प्राणियो के लिए जीवित रहे तथा दूसरो मे अपनी आत्मा की प्राप्ति के लिए जीवित रहे।

यही हिन्दुत्व की वह भावना है जिसे भारतीय विषयो, भारतीय शिक्षण-पद्धति एव भारतीय विचारधारा और धार्मिक ग्रथो की प्रत्यक्ष शिक्षा की अपेक्षा, पूर्णरूप से राष्ट्रीय स्कूलो मे व्याप्त होनी चाहिए। इसी भावना के आधार पर राष्ट्रीय स्कूल अन्य स्कूलो की तुलना मे अपनी विशिष्टता सिद्ध कर सकते है

शिक्षा-दर्शन पर आधारित शिक्षा-संस्थाएँ

श्री अरविंद-आश्रम, पांडीचेरी

श्री अरविद-आश्रम आज जिस विकसित रूप मे है, उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। सबसे पहले जब श्री अरविद ४ अप्रैल, सन् १९१० ई० मे पाडीचेरी आये तभी अपने विचारो को क्रियान्वित करने के लिए उन्होने आश्रम की स्थापना की। आरभ मे इसके सदस्यो की सख्या कम थी। इनके योग से प्रभावित होकर, साधना के लिए क्रमश अधिकाधिक साधक बाहर से आने लगे। सन् १९२० ई० मे फ्रासीसी महिला मीरा रिचर्ड ने अरविद-दर्शन से प्रभावित होकर आश्रम की सदस्यता स्वीकार की। मीरा रिचर्ड (जो अब माताजी के नाम से सर्वविदित है) के आने पर आश्रम के सदस्यो की सख्या धीरे धीरे इतनी बढ गई कि कई मकान किराये पर लिए गये और साधको के स्वास्थ्य एव निवासादि की सुविधा के लिए पूर्ण रूप से व्यवस्था की गयी। सन् १९२६ ई० मे, श्री अरविद ने आश्रम की सारी व्यवस्था माताजी के हाथो मे सौप दी और स्वय योगाभ्यास मे पूर्णतया निमग्न हो गए।

माताजी ने बडी पटुता और त्याग के साथ आश्रम की व्यवस्था की। फल स्वरूप साधको की सख्या बढती गयी और आज लगभग ८०० साधक आश्रम मे निवास करते है। आश्रम की यह विशेषता है कि इसकी व्यवस्था प्राचीन वेद, उपनिषद् तथा महाभारत के काल के आश्रमो के अनुरूप हुई है। आजकल आश्रम का अर्थ उस स्थान से लिया जाता है जहाँ तपस्या की जाती है। परतु प्राचीन काल मे आश्रम की यह रूपरेखा नही मानी जाती थी। आश्रम गुरु का घर था, जहाँ भिन्न अवस्था के विद्यार्थी, भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञानार्जन के निमित्त आकर रहते थे। गुरु पिता का स्थान ग्रहण करता था, उन्हे ज्ञान प्रदान करता और अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार उन्हे जीविका उपार्जन मे सहायता देता था। गुरु गृह-क्रियाओ और जीवन से पूर्ण था। अरविंद-आश्रम प्राचीन काल के वशिष्ठ और कण्व के आश्रम की भाँति ही है परतु आधुनिक युग की परिस्थितियो से

ममायोजित है। आश्रम मे सब व्यक्ति बिना किसी प्रकार के भेद भाव के प्रवेश पा सकते है किंतु एक नियंत्रण अवश्य है कि प्रवेश-प्रार्थी मे योग साधना की बलवती इच्छा अवश्य होनी चाहिए। आश्रम मे आध्यात्मिक चितन पर विशेष बल दिया जाता है। वहाँ साधक मनसा, वाचा और कर्मणा अपने को पवित्र बनाने का प्रयत्न करते है। परतु इसके साथ ही जीवन की यथार्थता की भी उपेक्षा नही करते। ध्यान, एकाग्रता, कार्य और सेवा यह चार साधन है जिनके आधार पर साधक उच्च उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त साधना मार्ग पर अग्रसर होता है। माताजी प्रत्येक साधक का व्यक्तिगत रूप से मार्गनिर्देशन करती है। कार्य और सेवा साधना के ही अग है।

आश्रम मे साधको का बडा ही सगठित एव सुव्यवस्थित जीवन है। आश्रम अपने साधको की दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के निमित्त स्वय-पूर्ण है। आश्रम मे अपनी दुग्धशाला, भोजनालय, चिकित्सालय, सिलाई-गृह, इजीनियरिंग कारखाना, प्रेस, वाचनालय, प्रकाशन आदि विभागो की व्यवस्था है। सभी विभागो मे, सब कार्यो मे साधक भाग लेते है। सभी कार्य सम्मानित माने जाते है, उनमे बडे छोटे का भेद नही है। 'कार्य चाहे, कोई भी हो, परतु वह किया किस भावना मे जाता है,' यही आश्रम मे क्रिया का मानदण्ड है क्योकि व्यक्ति की भावना ही उसके कार्य को साधना का सफल या असफल अग बनाती है। साधको के साथ ही आश्रम मे वेतन प्राप्त सेवको की सख्या कई सौ है जो आश्रम का काम करते है। किंतु इनके साथ भी सेवको जैसा व्यवहार नही होता है और उनकी आवश्यकताओ एव सुविधाओ की भी पूरी चिता की जाती है।

अरविंद-आश्रम का मुख्य उद्देश्य है मानवीय प्रेम का विकास करना। अत आश्रम के सभी सदस्य देश-जाति-धर्म आदि की सकीर्ण भावनाओ से मुक्त होकर जीवनयापन कर है। आश्रम एक ऐसी सगम भूमि है जिसमे विभिन्न देशो, जातिया, धर्मों और सस्कृतियते के साधको का मिलन हुआ है और जो अपनी सास्कृतिक विशिष्टताओ तथा भावी मानव की नव-सस्कृति के विकास के लिए प्रयत्नशील हे जिसका आधार मानवीय सवेदना और प्रेम है। यहाँ के पवित्र वातावरण मे विभिन्न सस्कृतियो के तात्विक एव सूक्ष्म समन्वय की ऐसी प्रक्रिया चल रही है जिसका मनुष्य की नव-सस्कृति के निर्माण मे निर्णायक भाग होगा। आश्रम मे सबको, सब प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त है, परन्तु यह स्वतत्रता आध्यात्मिक अनुशासन द्वारा नियत्रित रहती है।

श्री अरविंद अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय

आश्रम की महत्वपूर्ण सस्था श्री अरविंद अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय है। श्री अरविंद ने सन् १६४३ ई० मे आश्रम के बालको की शिक्षा की व्यवस्था के लिए एक स्कूल की स्थापना की थी। आरभ मे इस स्कूल मे ३२ छात्र थे परतु अब लभभग ३०० छात्र है। यही स्कूल आज एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के रूप मे विकसित हो गया है।

यह स्कूल जूनियर तथा माध्यमिक भागो मे विभाजित है। माध्यमिक शिक्षा का स्तर देश मे प्रचलित मैट्रिक तथा फ्रास के बैकालौरियट के समकक्ष है। इसके पाठ्यक्रम मे भाषा, भूगोल, इतिहास, विज्ञान आदि सभी आधुनिक विषय रखे गये है। प्रयोग करने के लिए वहाँ आधुनिक सुविधाओ से सपन्न प्रयोगशाला है। प्रत्येक विद्यार्थी को अपनी रुचि क अनुसार विशेष विषय के अध्ययन की स्वतत्रता है। उदाहरण के लिए, एक ही बालक इतिहास के लिए चौथी कक्षा मे बैठ सकता है और गणित के लिए दूसरी कक्षा मे। कहने का तात्पर्य है कि एक विषय मे बालक की कमजोरी उसे अन्य विषयो मे प्रगति करने से नही रोकती है। बालको को, आज के शिक्षाविदो की विचारधारा के विपरीत, आश्रम मे अनेक भाषाएँ सीखने की सुविधा है और यह देखा गया है कि बालको मे एक ही समय मे आरभ मे कई भाषाएँ सीखने की क्षमता है। उदाहरण के लिए, एक बालक अग्रेजी, फ्रेच, हिन्दी, अपनी मातृभाषा बगाली तथा स्थानीय भाषा तामिल का ज्ञान बिना कठिनाई के प्राप्त कर लेता है। बालको को पाठ्यक्रमेतर विषय—फोटोग्राफी, चित्रकारी, आश्रम के विभिन्न विभागो मे हस्तकलाएँ आदि सीखने के लिए प्रोत्साहना प्रदान की जाती है। वार्षिक परीक्षा-पद्धति के स्थान पर यहाँ छात्रो की परीक्षा मासिक होती है और अध्यापक भी छात्रो के विषय मे रिपोर्ट देते है। इसी मासिक परीक्षा तथा अध्यापको की रिपोर्ट के आधार पर छात्रो को उत्तीर्ण किया जाता है।

मानसिक शिक्षा के साथ ही बालको को शारीरिक शिक्षा भी दी जाती है। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए यहाँ खेल कूद, व्यायाम, जिमनास्टिक आदि की व्यवस्था है। मानसिक और शारीरिक, दोनो प्रकार की शिक्षा आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति के निमित्त एव उसी के द्वारा प्रेरित है। मुख्य बात यह है कि बालको को न तो आध्यात्मिक जीवन के सत्य सिखाने की कोशिश की जाती है, न योग, न नैतिक सिद्धात। वे इन चीजो को वातावरण से ग्रहण कर लेते है और बिना किसी बाहरी भय के या परमात्मा के भय से वे स्वभावत अकृत्रिम रूप मे आध्यात्मिकता के प्रति प्रतिक्रिया करते है। यहाँ अध्यापक पर्याप्त मात्रा मे है और उन्हे वेतन नही दिया जाता है वरन् उनके दैनिक जीवन की आवश्यकताओ की पूर्ति आश्रम करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय मे भी, आश्रम की भाँति किसी प्रकार का भेदभाव नही है और किसी भी देश, जाति, राष्ट्र, धर्म, भाषा, और सस्कृति का छात्र यहाँ प्रविष्ट हो सकता है। यहाँ शिक्षा नि शुल्क दी जाती है। अभिभावको और छात्रो को केवल अपने रहन-सहन तथा व्यक्तिगत व्यय का भार उठाना पडता है।

विश्वविद्यालय केन्द्र का उद्देश्य अरविंद-दर्शन के आधार पर छात्रो को पूर्ण शिक्षा (Integral Education) के सिद्धातो से परिचित कराना तथा उसी आधार पर उन्हे शिक्षित करना है। यहाँ सभी प्रकार की शिक्षा—मानवतावादी विषयो और वैज्ञानिक विषयो की—सैद्धातिक और व्यावहारिक रूप मे दी जाती है। यहाँ मनोविज्ञान,

भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन, विश्व-सामजस्य (Woild Integiation) आदि विपयो की शिक्षा मुख्यरूप से दी जाती है। इनके साथ ही सामाजिक विषय एव गणित को भी पाठ्यक्रम मे स्थान दिया गया है। अपनी रुचि के अनुसार विद्यार्थी किसी भी क्षेत्र का अध्ययन कर सकता है। जिन विद्यार्थियो को आध्यात्मिक अनुशासन की व्यावहारिक प्रशिक्षण की आवश्यकता होती हे उन्हे उसकी भी सुविधा प्रदान की जाती है। शिक्षा का माध्यम विद्यार्थी की मातृभापा रहती ह। परतु सब शिक्षा का आधार आध्यात्मिक हे। इसी आध्यात्मिकता के आधार पर श्री अरविद इस ससार मे मानव एकता स्थापित करना चाहते है। अत यह स्मरण रखने की बात है कि आश्रम को शिक्षा का आधार किसी भी रूप मे व्यावसायिक नही है क्योकि माताजी का कहना है कि 'मैं शिक्षा को बेचूंगी नही।'

श्री अरविद अतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय अपने ढग की सर्वथा नवीन शिक्षा-सस्था है जहाँ शिक्षा के क्षेत्र मे नूतन प्रयोग हो रहे हे। यह पौरस्त्य और पाश्चात्य विचार-धाराओ का समन्वय-केन्द्र है।

सहायक साहित्य

श्री अरविंद

1 *The Life Divine*
2 *The Ideal of Human Unity*
3 *The Synthesis of Yoga*
4 *The Ideal of the Karmayogin*
5 *The Human Cycle*
6 *The Brain of India*
7 *The Renaissance in India*
8 *The National Value of Art*
9. *A System of National Education*
10 *The Message and Mission of Indian Culture*
11 *On the Veda*
12 *On Education*
13 *Essays on the Gita, First Series*
14 *Essays on the Gita, Second Series*

अन्य लेखक

1 S K Maitra · *Studies in Sri Aurobindo s Philosophy*
2. *Sri Aurobindo Mandir, Second Annual, Jayanti Number, 15th Aug 1943*

परिशिष्ट

आठ प्रमाण सविस्तार निम्नरूप मे है :—

१ प्रत्यक्ष—जो प्रसिद्ध शब्दादि पदार्थो के साथ श्रोत्रादि इन्द्रिय और मन के निकट-सबध से ज्ञान होता है, उसको 'प्रत्यक्ष' कहते है ।

२ अनुमान—किसी पूर्व दृष्ट पदार्थ के एक अग को प्रत्यक्ष देखकर, पश्चात् उसके अदृष्ट अगो का जिससे यथावत् ज्ञान होता है, उसको 'अनुमान' कहते है ।

३ उपमान —जैसे किसी ने किसी से कहा कि गाय के तुल्य नीलगाय होती है, ऐसे जो उपमा से सादृश्य ज्ञान होता है, उसको 'उपमान' कहते है ।

४ शब्द —जो पूर्ण आप्त परमेश्वर और आप्त मनुष्य का उपदेश है, उसी को 'शब्द प्रमाण' कहते है ।

५ ऐतिह्य—जो शब्द प्रमाण के अनुकूल हो, जो कि असभव और झूठ लेख न हो, 'ऐतिह्य' (इतिहास) कहते है ।

६ अर्थापत्ति—जो एक बात के कहने से दूसरी बिना कहे समझी जाय, उसी को 'अर्थापत्ति' कहते है ।

७. सभव —जो बात प्रमाण, युक्ति और सृष्टिक्रम से युक्त हो, वह 'सभव' कहाता है ।

८ अभाव—जैसे किसी ने किसी से कहा कि तू जल ले आ । उसने वहाँ देखा कि यहाँ जल नही है, परतु जहाँ जल है, वहाँ से ले आना चाहिए इस अभाव निमित्त से जो ज्ञान होता है, उसे 'अभाव' प्रमाण कहते है ।

अनुक्रमणिका

(दार्शनिकों के नाम संकेत रूप में उनके प्रथम अक्षर से किए गए हैं)